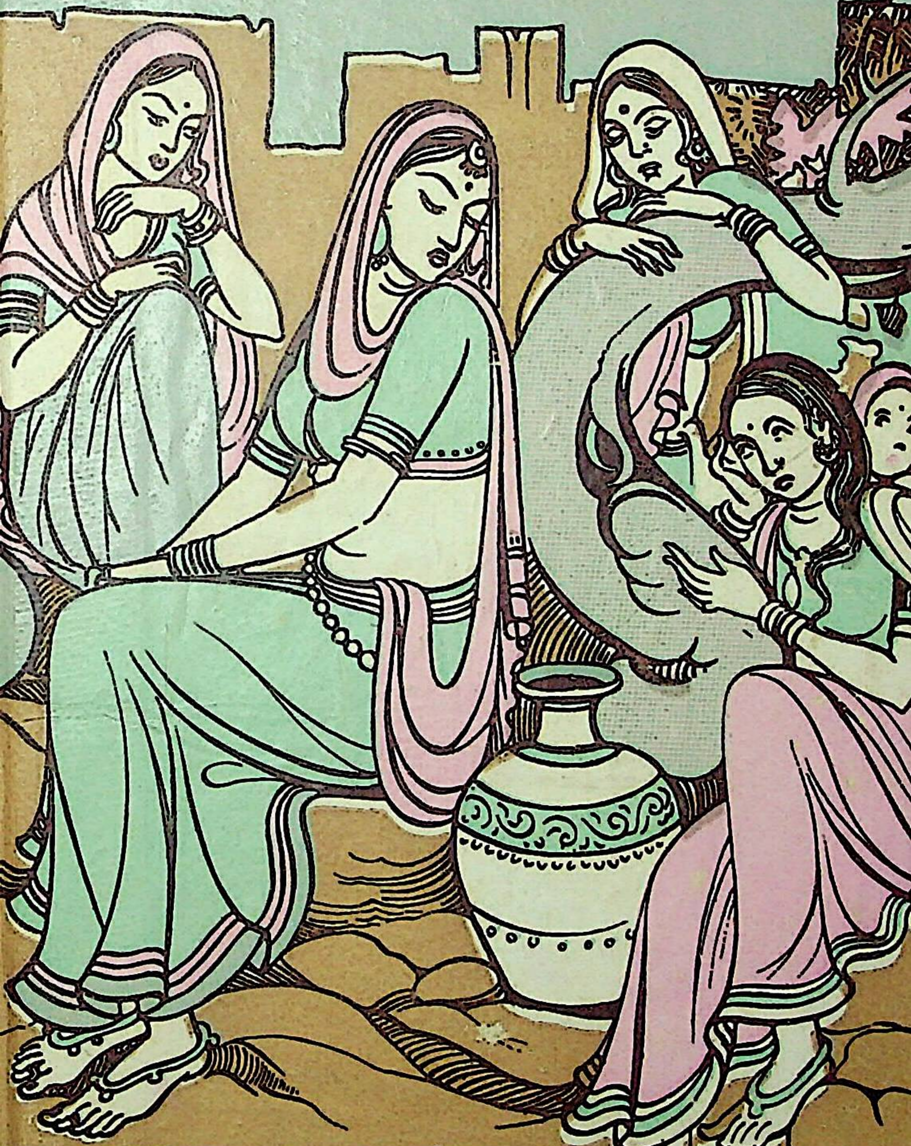
नारदभक्तिदर्शन



स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

जनवरी, १९८३
तृतीय संस्करण : ५०००
मूल्य : पन्द्रह रुपये मात्र

प्रकाशक
सत्साहित्य-प्रकाशनट्रस्ट
'विपुल' २८/१६
बी. जी. खेरमार्ग
मालाबार हिल
बम्बई–६

मुद्रक
विश्वम्भरनाथ द्विवेदी
आनन्दकानन प्रेस
सीके, ३६/२० ढुण्ढिराज
वाराणसी–१
फोन : ६२६८३

सत्साहित्य-प्रकाशनट्रस्ट

श्रीहरिः

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रथम संस्करण

भगवत्प्रेमी श्रद्धालु जनताके लिए 'नारदभक्तिदर्शन' प्रेमभक्तिका स्वरूप, लक्षण, प्रक्रिया, फल, अपूर्वता आदि हृदयंगम करनेके लिए एक स्वल्पाकार आकर ग्रन्थ है; जैसे गागरमें सागर। इसपर पूज्यपाद महाराजश्रीके प्रवचन कुछ वर्ष पूर्व बम्बईके डी रोड और पेडर रोडमें हुए थे। उस समय आदरणीया बहिन डाक्टर उर्वशी जे० सूरती, एम० ए०, एमएड्०, पीएच० डी०ने बड़े मनोयोग और परिश्रमसे इसे लिख लिया था। बादमें भाई श्रीसुदर्शनसिंहजी 'चक्र'ने भी 'टेप रिकार्ड' सुनकर इसे लिखा। इन्हीं दोनोंकी प्रतिभा, लगन एवं परिश्रमसे यह ग्रन्थ तैयार हो सका। यदि श्रीविश्वम्भरनाथ द्विवेदीने इसका सम्पादन और प्रूफ-संशोधन अपनी पूरी योग्यताके साथ न किया होता तो निश्चय ही यह ग्रन्थ इतने सुन्दर रूपमें प्रकाशित न हो पाता। ये सभी अपने हैं इन्हें धन्यवाद देनेकी आवश्यकता नहीं है। जब भगवद्भक्त इस प्रेम-सिद्धान्तसे परिपूर्ण मधुर-गम्भीर प्रेमानन्ददायी ग्रन्थका स्वाध्याय करेंगे तब उनके चित्तका प्रसाद ही हम सब लोगोंके लिए आशीर्वादस्वरूप हो जायेगा।

बम्बई
वसन्तपञ्चमी—२०२३

मन्त्री
सत्साहित्य-प्रकाशनट्रस्ट

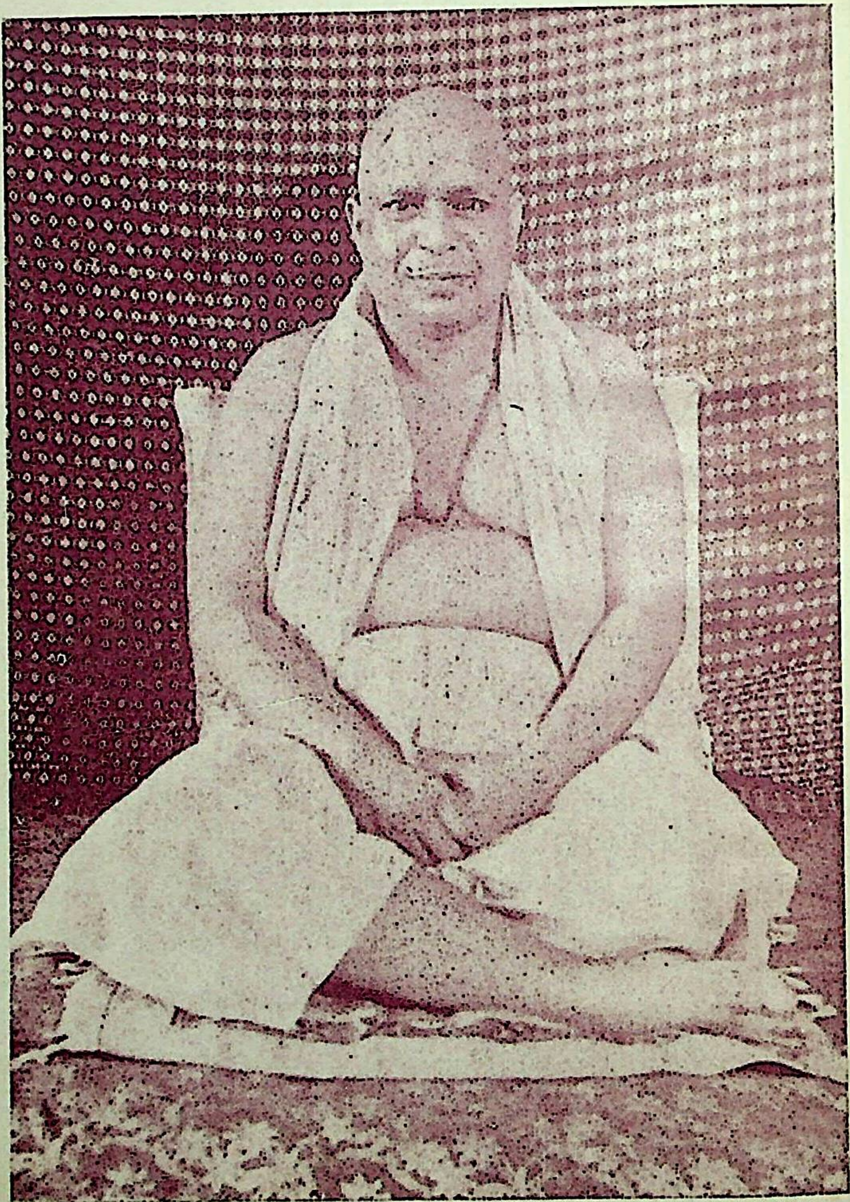
अ नु क्र म

नारदभक्तिदर्शन

देवर्षि नारद रचित

भक्तिसूत्र

क्रमाङ्क	सूत्र	पृष्ठ
१.	अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥	२३
२.	सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥	४०
३.	अमृतस्वरूपा च ॥	४४
४.	यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ॥	५२
५.	यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति ॥	६४
६.	यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति ॥	७२
७.	सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥	८५
८.	निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥	९५
९.	तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥	१०२
१०.	अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥	१०८
११.	लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ॥	११७
१२.	भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥	१२१
१३.	अन्यथा पतित्याशङ्कया ॥	१२१
१४.	लोकोऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीर-धारणावधि ॥	१२८
१५.	तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात् ॥	१३२
१६.	पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥	१३३
१७.	कथादिष्विति गर्गः ॥	१३४



स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

उपक्रम

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
यद् भाव्यं तद् भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत्प्रार्थ्यं मम बहु मतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥

देवर्षि नारद सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। अपने पितासे तो उन्हें शिक्षा मिली ही है, भगवान् नर-नारायणके भी वे शिष्य हैं। **नरस्येदं नारं ज्ञानम्**—नरसम्बन्धी ज्ञान अथवा नर-नारायणसे उपलब्ध ज्ञानको 'नार' कहते हैं, **नारं ददातीति नारदः**—उस ज्ञानका जो दाता है, उसका नाम है नारद।

नारस्येदं नारं नरसम्बन्ध्यज्ञानं, तद् द्यति खण्डयति इति नारदः—मनुष्यके हृदयमें जो अज्ञान है उसे 'नार' कहते हैं, उस अज्ञानको जो मिटा दे, उसका नाश कर दे, उसे नारद कहेंगे।

'नार' हैं नरके—मनुष्यके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान परमात्मा अथवा नराकृति परब्रह्म, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दर, नन्दनन्दन, राधारमण, वृन्दावनविहारी भगवान् श्रीकृष्ण। उसका जो जन-जनके हृदयमें स्थापन करे, वह नारद। देवर्षिने कलियुगके प्रारम्भमें भक्तिदेवीके सम्मुख प्रतिज्ञा की है—

कलिना सदृशः कोऽपि युगो नास्ति वरानने।
तस्मिंस्त्वां स्थापयिष्यामि गेहे गेहे जने जने॥

(श्रीमद्भाग० माहा० २.१३)

'भक्तिदेवी ! कलियुगके समान (सुगमतापूर्वक मनुष्यको भगवत्प्राप्ति करानेवाला) दूसरा कोई युग नहीं है। इस युगमें मैं घर-घरमें-प्रत्येक व्यक्तिमें आपकी प्रतिष्ठा करूँगा।'

देवर्षि नारदके मनमें यह संकल्प कहाँसे आया, यह बात भी भागवतमें स्पष्ट बतायी गयी है। ब्रह्माजीने देवर्षिको श्रीमद्भागवतका संक्षिप्त उपदेश करनेके पश्चात् आदेश दिया—

इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम्।
संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद् विपुलीकुरु॥
यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।
सर्वात्मन्यखिलाधारे इति संकल्प्य वर्णय॥

(श्रीमद्भाग० २.७ ५१-५२)

'यह भागवत नामक पुराण है जिसका मुझे भगवान् नारायणने उपदेश किया था। भगवान्की विभूतियोंका इसमें मैंने संक्षिप्त वर्णन किया है। अब तुम इसको विस्तृत करो; किन्तु विस्तार करते समय यह ध्यान रखना कि जैसे निखिल जगदाधार सर्वात्मा भगवान् श्रीहरिमें मनुष्योंकी भक्ति हो वैसे संकल्पसे इसका वर्णन किया जाय।'

ब्रह्माजी देवर्षि नारदके पिता तो हैं ही, उनके गुरु भी हैं; अतः उनकी आज्ञा स्वीकृत की नारदजीने। स्वयं नारदजी स्वभावसे जीवोंको भगवद्भक्तिमें लगानेवाले हैं। उनके लिए कहा गया है-- **नारदाद्देवदर्शनात्** अर्थात् जिसे नारदजी मिलते हैं उसे भगवान्का दर्शन कराते हैं। भक्तिके आचार्योंमें उनका प्रमुख स्थान है—

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादी-
नेतानहं परमभागवतान्नमामि॥

श्रीमद्भागवतमें भक्तिके द्वादश आचार्य गिनाये गये हैं—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥
(६.३.२०)

'भगवान् ब्रह्मा, देवर्षि नारद, भगवान् शंकर, सनकादि कुमार, भगवान् कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, शुकदेव और यमराज।' इन द्वादश भागवतधर्मके आचार्योंमें भी नारदजीका नाम द्वितीय स्थानपर ही आया है।

वेदोंमें ऋषियोंने तीन काण्ड माने हैं—कर्म, ज्ञान और उपासना। इन तीनोंकी मीमांसा (विवेचना) के लिए तीन प्रकारके दर्शनशास्त्रका प्रणयन हुआ है। कर्मकी मीमांसाके लिए दो दर्शन हैं—महर्षि जैमिनिका पूर्वमीमांसादर्शन और महर्षि भारद्वाजका कर्ममीमांसादर्शन। इनमें-से महर्षि भारद्वाजका कर्ममीमांसादर्शन बहुत प्रचलित नहीं है किन्तु उसमें विवेचन बहुत है। ज्ञानकी मीमांसाके लिए भी दो दर्शन-ग्रन्थ हैं और दोनों ही भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासके ही हैं—१. उत्तरमीमांसादर्शन (ब्रह्मसूत्र), २. सिद्धान्त-दर्शन। इनमें सिद्धान्त-दर्शन अल्प प्रचलित है। उपासना-मीमांसाके लिए तीन दर्शन-ग्रन्थ उपलब्ध हैं—
१. आङ्गिरस—मध्यमीमांसा-दर्शन-(दैवीमीमांसा दर्शन),
२. शाण्डिल्यभक्ति-दर्शन तथा ३. नारदीय भक्ति-दर्शन।

महर्षि अंगिराका दैवीमीमांसा-(मध्यमीमांसा) दर्शन बहुत युक्तियुक्त है। उसमें युक्तियोंसे—विज्ञानसे भक्तिको मनुष्यका मुख्य कर्त्तव्य बतलाया गया है। शाण्डिल्यभक्ति-दर्शन कठिन है। प्रस्थानत्रयी मुख्य तात्पर्य भक्तिका प्रतिपादन है, यह उसमें सिद्ध किया गया है। नारदीय भक्ति-दर्शन न तो दैवीमीमांसा-दर्शनकी भाँति युक्तिप्रधान है, न शाण्डिल्य-भक्ति-दर्शनके समान कठिन है। यह सरल है, ललित है। इसकी पद्धति विलक्षण है।

इस भक्ति-दर्शनमें कुल चौरासी सूत्र हैं। खोज करनेपर यह पता नहीं चला कि इसकी रचनाका काल क्या है ? देवर्षि नारद तो अमर हैं। उन्होंने कब इसका निर्माण किया, यह ज्ञात नहीं है। किन्तु इसमें जिस तथ्यका निरूपण है, वह साधकोंके बड़े कामका है, कल्याणकारी है।

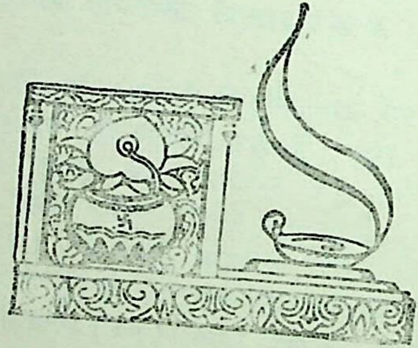
'विद्वान् पुरुष यह नहीं देखते कि बात किसने कही है। वे उस वचनका गुण देखकर उसे स्वीकार करते हैं।' स्वर्ण किस खदानसे निकला, किस-किस दूकानमें-से होता आया है, इसकी खोज अनावश्यक है। अतएव बात मंगलकारी है, यही देखना पर्याप्त है; इसलिए भूमिकाका विस्तार न करके हम मूल ग्रन्थपर आते हैं।

इस नारदीय भक्ति-दर्शनके दो प्रसिद्ध पाठ मिलते हैं। उसमें-से एक पाठ गीताप्रेस, गोरखपुरसे छपा है। दूसरा पाठ हिन्दीके विख्यात एवं विद्वान् कवि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रका है। भारतेन्दुजीने 'तदीय सर्वस्व' नामसे इस नारदीय भक्ति-दर्शनकी 'टीका' लिखी है। जैसे वेदोंमें 'अनुवाक' होते हैं वैसे ही 'भक्ति-दर्शन'की उस टीकामें भी 'अनुवाक-भेद' माने गये हैं तथा प्रत्येक सूत्रके प्रारम्भमें प्रणव (ॐ) लगाया गया है। इसके अतिरिक्त जो पाठभेद हैं उनका यथास्थान उल्लेख किया गया है।

ग्रन्थका नाम लक्ष्यके नामपर ही होना उचित है। इस ग्रन्थमें लक्ष्य भक्ति है। अतः इसका नाम 'भक्ति-दर्शन' रखा गया है।

●

नारदभक्तिदर्शन



'अथ', 'अतः' और 'भक्ति'के अभिप्रायका विवेचन

• संगति

ग्रन्थका प्रथम सूत्र प्रतिज्ञा-सूत्र है। इसमें देवर्षि नारदजीने भक्तिकी व्याख्या करनेकी प्रतिज्ञा की है। •

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इसलिए अब (हम) भक्तिकी व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

अथ--इसके तीन अर्थ हैं।

१. अथ शब्द प्रारम्भका वाचक है अर्थात् ग्रन्थके प्रारम्भको सूचित करनेके लिए दिया गया है।

२. अथ शब्द मंगलवाचक है। किसी कार्यके प्रारम्भमें 'अथ' का उच्चारण करनेसे कार्य मंगलप्रद होता है।

मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते।

शिष्ट-परिपाटी यही है कि ग्रन्थके आदि, मध्य और अन्तमें भी मंगलाचरण किया जाय। इससे उन शास्त्र-ग्रन्थोंकी ख्याति होती है।

'अथ' शब्द मंगल क्यों है? इसलिए कि यह परम मङ्गलायतन भगवान्‌का नाम है। भगवान्‌के सब नामोंमें 'ॐ' और 'अथ' ये दो श्रेष्ठ नाम हैं।

ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ ॥

भगवान् नारायणकी नाभि ही नभ है—'नभ एव नाभिः'। इस नाभि-रूपमें चतुर्दशभुवनात्मक कमल है। उसमें—अन्तःकरणमें सन्निविष्ट चेतन ब्रह्म—हिरण्यगर्भ है। सृष्टिके प्रारम्भमें उन ब्रह्माजीके कण्ठसे 'ॐ' तथा 'अथ' ये दो शब्द स्वतः उच्चरित हुए; इसलिए ब्रह्माकी सन्ततिके लिए ये दोनों शब्द मङ्गलवाची हैं।

महामना मालवीयजी कहते थे—'बच्चा उत्पन्न हो तो नाभि-छेदनसे पूर्व उसकी जिह्वापर शहदसे 'राम' लिख दो। जात-कर्म संस्कारमें शिशुकी जिह्वापर 'ॐ' लिखनेकी विधि है। इसका तात्पर्य यह है कि बच्चेपर जन्मसे ही भवन्नामके संस्कार डालो। सृष्टिकर्ता ब्रह्माके जीवनका प्रथम संस्कार है 'ॐ' तथा 'अथ'का उच्चारण। अतएव ये दोनों शब्द ब्रह्माकी सन्तानोंके लिए मङ्गल-सूचक हैं।

३. 'अथ'का तीसरा अर्थ आनन्तर्य होता है। देखना है कि यहाँ 'अथ'का आनन्तर्य अर्थ क्या होगा? यदि कहो कि 'शम-दम-उपरति आदिसे सम्पन्न होनेपर मनुष्य भक्तिका अधिकारी होता है' तो यह बात ठीक नहीं है। जब हृदयमें भक्तिका उदय होता है तब हृदय शुद्ध होता है। हृदय शुद्ध हो जायगा तब भक्ति करेंगे, ऐसा मत सोचो। भक्ति तो माता है। जब हम दूध पीने योग्य हो जायँगे तब माता दूध पिलावेगी, ऐसा नहीं है। शिशु जब नेत्र बन्द किये पड़ा होता है, असमर्थ होता है, तब माता उसका मुख खोलकर उसमें स्तन दे देती है और अपना स्तन दबाकर मुँहमें दूध डालती है जिससे बच्चेको दूधका स्वाद मिले और वह स्वयं दूध पीये।

बच्चा कीचड़में, मलमें लिथड़ा-लिपटा होता है। माता यह नहीं सोचती कि बच्चा स्नान करके शुद्ध हो ले तब मैं उसे गोदमें

उठाऊँगी। माता तो उसी दशामें बच्चेको उठा लेती है, उसे स्नान कराके उसके अंग पोंछती है, उसे तेल आदि लगाकर सुचिक्कन बनाती है, दूध पिलाती है और सजा-सँवारकर, तृप्त करके तब पिताकी गोदमें देती है। इसी प्रकार भक्ति माता जाति-आचारादि-से हीन अधिकारीको अपनाकर उसके दोष दूर करती हैं, उसे उत्तम गुणोंसे अलंकृत करती हैं, उसे प्रेम देकर पुष्ट करती हैं और तब उसे परमपिताकी गोदमें दे देती हैं। अतः शम-दमादि आनेपर भक्ति होगी, यह सोचना ठीक नहीं है। भक्ति आयेगी तो जीवनमें सद्‌गुण अपने-आप आयेंगे।

> यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
> सर्वै गुणास्तत्र समासतेऽसुराः।
> हरावभक्तस्य कुतो महद्‌गुणाः
> मनोरथेनासति धावतो बहिः॥
>
> (श्रीमद्भाग० ५-१८-१२)

प्रह्लादजी दैत्य बालकोंसे कहते हैं—'असुरपुत्रो! जिसमें भगवान्‌की निष्काम भक्ति है उसमें समस्त गुण स्वयं आकर बस जाते हैं किन्तु जो भगवान्‌का भक्त नहीं है वह तो नाना प्रकारकी कामनाओंसे बाह्य संसारमें भटक रहा है, उसमें भला महान् गुण कैसे आ सकते हैं!

भक्तिमें जब पहलेसे किसी सद्‌गुणका आना आवश्यक नहीं है तब 'अथ' शब्दका आनन्तर्य (इसके पश्चात्) अर्थ क्या होगा?

यहाँ यह जानना चाहिए कि देवर्षि नारद अनेक विद्याओंके उपदेष्टा हैं। उन्होंने पहले धर्मशास्त्रका उपदेश किया है। आजकी प्रचलित मनुस्मृति तो भार्गव मनुस्मृति है; किन्तु एक नारदीय मनुस्मृति भी है और नारद-स्मृति भी है। इसके पश्चात् उपासना-शास्त्र—क्रियायोगप्रधान नारदीय पाञ्चरात्रका उन्होंने उपदेश

किया। पहले स्मृतिग्रन्थोंमें धर्मानुष्ठान बतलाया, फिर पाञ्चरात्रमें क्रियायोग--उपासना कैसे करनी चाहिए, यह समझाया। इनके अनन्तर अब प्रेमप्रधान भक्तिके निरूपणके लिए वे इस भक्तिदर्शनका प्रारम्भ कर रहे हैं।

जो इतरसाधननिरपेक्ष है, 'प्रेमरूपा' है, जिसमें बहुत कर्म-काण्ड, क्रियायोगकी आवश्यकता नहीं है, जिसमें केवल भावसे भगवत्प्राप्ति होती है, ऐसी इस भक्तिका वर्णन अब धर्म तथा उपासनाका निरूपण करनेके अनन्तर प्रारम्भ कर रहे हैं, यह 'अथ' शब्दका अर्थ है।

'अथ' शब्दके दो अर्थ होते हैं--'अतः कारणात्' और 'अतः प्रयोजनात्', अर्थात् 'अतः' शब्द 'इस कारणसे' अथवा 'इस प्रयोजनसे' इन दो अर्थोंमें व्यवहृत होता है।

हम सब संसारमें फँसे हैं। सबका संसारमें कहीं-न-कहीं राग है। यहाँ कोई धनका, कोई वैभवका, कोई पत्नी-पुत्र आदि स्वजनोंका अथवा अपने देहका ही भक्त है। जाति, धर्म, समाज, राष्ट्र आदिके भी लोग भक्त हैं। किन्तु इस रागसे क्या हृदयमें सुख-शान्ति आती है? कदापि नहीं। इसलिए 'अतः' शब्द सूचित करता है कि पातालसे ब्रह्मलोकतक विचार करके देख लो; बिना भगवत्प्रेमके मनुष्यको सच्ची शान्ति, वास्तविक सुखकी प्राप्ति नहीं होती, 'अतः' उसे सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त हो--इस प्रयोजनसे 'भक्ति व्याख्यास्यामः'।

'यद् दृष्टं तन्नष्टं--'जो कुछ यहाँ दीख रहा है, सब नाशवान् है।' संसारका जीवन, यहाँकी प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण छीज रही है, सड़ रही है। यहाँ प्रत्येक वस्तु सरकती-भागती रहती है, इसीसे तो इसे संसार कहते हैं। नोट-रुपया कितने हाथोंमें होता आया है और आगे कितने हाथोंमें जायगा, किसे पता है! धन, विद्या, युवा-

वस्था, कुछ भी तो यहाँ टिकाऊ नहीं है। सब मृत्युकी ओर जा रहे हैं। काले केश सफेदीकी ओर, चमकता मुख झुर्रियोंकी ओर तथा सुदृढ़ दाँत सड़ानकी ओर जा रहे हैं। संसारकी सब वस्तुएँ देशमें एक स्थानसे दूसरे स्थानकी ओर और सब कालमें विनाशकी ओर जा रही हैं। परिच्छिन्नतामें वे इतनी तुच्छ हैं कि उनकी सत्ता ही निश्चित नहीं होती है। सब सृष्टि नाशवान् है। केवल परमात्मा ही अविनाशी है और वह हमारे हृदयको छोड़कर कहीं जाता नहीं, परिवर्तित नहीं होता, सदा साथ रहता है। अतः इस विनाशी, अनित्य, दुःखरूप संसारसे छूटकर अविनाशी, सत्य, सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो, इस प्रयोजनसे भक्तिकी व्याख्या करनी है।

जैसे ब्रह्मज्ञानके लिए वेदान्तके जिज्ञासुको शम-दम आदि आवश्यक हैं, वैसे भक्तिके लिए आवश्यक नहीं। ब्रह्मज्ञान तो सम्राट् है; स्वच्छ हृदय हो, विवेक-वैराग्यका सिंहासन सजा हो, तब आकर उसपर आसीन होगा; किन्तु भक्तिके लिए सिंहासन आवश्यक नहीं है। वे तो माता हैं। दुःखीके हृदयमें भी आती हैं। भक्तिके लिए अधिकारीका प्रश्न नहीं है। शास्त्रोंमें ऐसे साधनोंका निरूपण है जो अधिकारी-विशेषके ही चित्तमें आते हैं। संसारमें दुःख ही दुःख है, सर्वत्र संघर्ष हो संघर्ष है। संसारके समस्त प्राणी इस दुःख, संघर्ष और अशान्तिसे व्याकुल हैं। इससे छूटनेके जो उपाय शास्त्रोंने बतलाये हैं वे क्लेश-बहुल हैं। धर्मानुष्ठानमें नियम, संयम, सामग्री आदिके एकत्र करने और कर्मका क्लेश है। योगमें आसन, प्राणायामादिका क्लेश है। ज्ञानमें शम-दम आदि क्लेश हैं और घटाकाश-महाकाशके विवेकका महा क्लेश है। इन सब क्लेशोंको सहना न पड़े, अतः अब हम ऐसे साधनका विचार करते हैं, जिसमें न अधिकारीका विचार है, न कोई क्लेश है।

देवर्षि नारदके पिता तथा गुरु ब्रह्माजीने उन्हें आदेश दिया है 'यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति' ऐसा संकल्प करके भाग-

वतका विस्तार करनेका, और स्वयं उन्होंने भक्तिदेवीके सम्मुख प्रतिज्ञा की है—

> अन्यधर्मांस्तिरस्कृत्य पुरस्कृत्य महोत्सवान् ।
> तदा नाहं हरेर्दासो लोके त्वां न प्रवर्तये ॥
>
> (श्रीमद्भाग० माहा० २-१४)

'दूसरे सब धर्मोंकी उपेक्षा करके यदि मैं लोकमें महोत्सवपुरःसर आपका (भक्तिका) प्रवर्तन न कर दूँ तो मैं भगवान् श्रीहरिका सेवक नहीं ।'

पिताकी आज्ञा है, अपनी प्रतिज्ञा है और क्लेशबहुल जीवोंके लिए एकमात्र क्लेशरहित यही साधन है, जिसमें सबका अधिकार है, 'अतः'–इस कारणसे भक्तिकी व्याख्या करेंगे ।

भक्ति—परमात्माकी प्राप्तिके लिए भक्तिकी महिमा अपार है । श्रुति कहती है—**भक्तिरेवैनं नयति ।**

जीव कैसे पहुँचे परमात्माके समीप ? भक्तिसे–भक्तिके विमानमें बैठकर । जीव तथा ईश्वरके मध्यकी दूरी भक्ति ही मिटाती है ।

जीव इस स्थूलदेहमें अभिमान करके बैठा है । वह ईश्वरके समीप जाना ही नहीं चाहता । भगवान् नृसिंहसे प्रह्लादने कहा—**नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एकः**—'प्रभो इन सब दुःखी लोगोंको यहीं छोड़कर मैं अकेला नहीं मुक्त होना चाहता । आप सबको अपने धाम ले चलें तो मैं भी चलूँगा अन्यथा मुझे भी यहीं रहना है ।'

भगवान् नृसिंह बोले—'वत्स ! कोई चलना चाहे तब ले चलूँ या बलपूर्वक ले चलूँ ! बलपूर्वक ले जानेसे तो वह जीव दुःखी होगा । तुम पूछ आओ, जो चलना चाहें उन्हें मैं साथ ले चलूँगा ।'

प्रह्लाद बहुत प्रसन्न हुए। वे एक-एकसे पूछने लगे--'आप भगवान्‌के धाम चलेंगे? भगवान् अभी ले चलनेको प्रस्तुत हैं।'

'अभी? अरे नहीं' प्रायः एक-सा उत्तर दिया सबने--'भगवान्‌के धाम जा सकें, यह तो हमारा सौभाग्य; किन्तु अभी नहीं। अभी तो बहुत कार्य शेष हैं।

किसीको पुत्र या पुत्रीका विवाह करना था। किसीने नया-नया विवाह किया था। किसीका प्रारम्भ किया कार्य अभी अपूर्ण था। इस प्रकार कारण तो बहुत थे किन्तु सबको अभी संसारमें कुछ काल रहना अत्यन्त आवश्यक जान पड़ता था। कोई तत्काल भगवद्धाम जानेको प्रस्तुत नहीं था।

दैत्य-दानवों और मानवोंमें जब कोई भगवद्धाम जानेको उद्यत नहीं मिला तो प्रह्लादजीने पशुओंसे पूछना प्रारम्भ किया। दूसरे पशुओंकी बात तो दूर, एक शूकरसे पूछनेपर उसने भी यही कहा--'वहाँ मेरी पत्नी और बच्चे चलेंगे या नहीं?'

प्रह्लादजी उन्हें भी ले जानेको उद्यत हो गये; तब शूकरने पूछा---'हमारा भोजन वहाँ है?'

प्रह्लाद--'भैया, वैकुण्ठमें उसका क्या काम! वहाँ तो तुम अमृतका आहार करोगे!'

शूकर--'मुझे ऐसा वैकुण्ठ नहीं चाहिए। मैं यहीं भला हूँ।'

इस प्रकार देहमें अभिनिवेश करके जीव संसारमें आसक्त हो रहा है और ईश्वरसे दूर हो गया है। श्रुति भगवती कहती हैं--

भक्तिरेवैनं नयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिरेवैनं गमयति, भक्तिवशः पुरुषः, भक्तिरेव भूयसी।

'भक्ति भगवान्‌के समीप ले जाती है। भक्ति भगवान्‌का दर्शन कराती है। भक्ति भगवान्‌का ज्ञान देती है। परमपुरुष भगवान् भक्तिके वशमें हैं। भक्ति ही महान् है।'

भक्ति क्या है ? लोगोंने नाना प्रकारसे भक्तिकी व्याख्या की है। ये व्याख्याएँ शास्त्रीय, अशास्त्रीय एवं मनमानी रीतिसे की गयी हैं। किन्तु अशास्त्रीय, भक्तिका स्वरूप मनमानी रीतिसे निश्चित करनेके कारण नाना प्रकारके पाखण्डमत ही प्रचलित हुए हैं। अशास्त्रीय भक्ति कल्याण करनेवाली नहीं होती—

वेदशास्त्रपुराणादीन् पाञ्चरात्रविधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव केवलम् ॥

—पद्मपुराण

'वेद, शास्त्र, पुराण तथा पाञ्चरात्रसम्मत विधिका त्याग करके जो मनमानी रीतिसे भगवान्‌की अनन्य भक्ति की जाती है वह केवल उत्पात (लोकमें अनर्थ-प्रचार)का ही कारण होती है।'

मनमानी रीतिसे लोग भक्तिमें न लगें इसलिए भक्तिकी व्याख्या करेंगे—शास्त्र-प्रतिपादित भक्तिका स्वरूप बतलावेंगे।

भक्ति शब्द व्याकरणकी दृष्टिसे तीन प्रकारसे निष्पन्न होता है—भजनं भक्तिः, भागो भक्तिः, भञ्जनं भक्तिः। इन तीनों रूपोंपर विचार करें।

भजनं भक्तिः—गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्‌में आया है—

किं नाम भजनं ? भजनं नाम रसनम्।

'भजन किसे कहते हैं ? भजन कहते हैं रस लेनेको।'

जैसे बैल पहले घास-भूसा खा लेता है और फिर बैठकर उस खाये हुएको मुखमें लाकर जुगाली करते हुए उसका रस लेता है वैसे ही भगवान्‌की जो लीला, जो गुण, महिमा, रूप आदि तुमने सुने हैं; सत्संग, कथादिके उस श्रवणकी स्मृतिको बार-बार मनमें लाकर जो उसका रसास्वादन करते हो, इसीका नाम भजन है। यह भजन ही भक्ति है।

भागो भक्तिः—जैसे सम्पत्तिका बँटवारा होता है तो निश्चित किया जाता है कि 'यह रामका भाग है और यह श्यामका। यह बड़े भाईका भाग है और यह छोटे भाईका।' इसी प्रकार तुम अपनेको भगवान्‌का भाग बना दो। संसारके हिस्सेमें अपनेको मत रखो। तुमपर संसारके किसीका स्वत्व न रहे, केवल भगवान्‌का स्वत्व रहे।

भञ्जनं भक्तिः—(भञ्जो आमर्दने राग-द्वेष, संसारके माया-मोह, अविद्याको रौंद देना—अपने चित्तसे नष्ट कर देना भक्ति है।

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥

(श्रीमद्भाग० ३-२५-३२-३३)

'नेत्र, कर्ण, नासिका आदिके जो देवता हैं वे अपने गुणोंसे पहचाने जाते हैं, जैसे नेत्रके देवता सूर्य हैं और रूपमें नेत्रको प्रवृत्त करते हैं। इन सबके द्वारा वैसा ही व्यवहार करो जैसा शास्त्रमें प्रतिपादित है और गुरुसे सुना है। इससे जीवनमें सात्त्विकता तथा मनमें एकाग्रता आवेगी। मनकी यह एकाग्र सात्त्विक वृत्ति बिना कारण ही स्वाभाविक रूपसे जब भगवान्‌में लगेगी तब वही भक्ति कहलावेगी। यह भक्ति महान् है। जीवकोशको यह वैसे ही शीघ्र नष्ट कर देती है जैसे भोजनको जठराग्नि पचा देती है।'

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥

(श्रीमद्भाग० ३-२९-११-१२)

'भगवान् पुरुषोत्तममें जो निष्काम, अखण्ड, निर्गुण भक्ति है उसका यह लक्षण कहा गया है कि भगवान्‌के गुणोंका श्रवण करते ही सर्वान्तर्यामी भगवान्‌में मनकी ऐसी धाराप्रवाह गति हो जाय जैसे गंगाजीकी धारा अखण्डरूपसे समुद्रमें जा रही है।

मनमें जैसे कपड़ा, रुपया, भवन, भोजन, स्त्री, पुत्र, व्यापार आता है, कोई एक बात टिकती नही है, वैसे ही कपड़े-रुपये, भवन-भोजन आदि तो मनमें आवें ही नहीं। उनमें-से प्रत्येकके स्थानपर मनमें नन्दनन्दन, श्यामसुन्दर, पीताम्बरधारी, मयूर-मुकुटो, वनमालाधारी, वृन्दावनविहारी ही आवें। यह मनका गंगाके समान अखण्ड वृत्तिप्रवाह भक्ति है और इसीसे राग-द्वेषकी निवृत्ति होती है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वेताश्व० ६-२३)

जिसकी भगवान्‌में परम भक्ति है और जैसी ही परमभक्ति भगवान्‌में है, वैसी ही भक्ति गुरुदेवमें है वह महात्मा है। उसके हृदयमें श्रुतिवर्णित अर्थ—परमार्थ-तत्त्व स्वतः प्रकाशित होता है।'

ये परिभाषाएँ बहुत जटिल जान पड़ती हैं। अतः आचार्योंने भक्तिकी सरल परिभाषा भी की है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु १-११)

'चित्तमें भगवान्‌के प्रेमके अतिरिक्त दूसरी कोई कामना-अभिलाषा न हो। साथ ही ज्ञान अथवा कर्मसे भक्ति आवृत न हो! अमुक ज्ञान हो लेगा तब भक्ति होगी या अमुक कर्म, जप-तप करेंगे तब भगवान् मिलेंगे, ऐसी आस्था चित्तकी न रहे और

इन्द्रियोंके द्वारा केवल भगवान्‌का सेवन हो। जीभ भगवान्‌का नाम ले, गुण गावे तथा भगवत्प्रसादका रस ले, नासिका भगवान्‌को अर्पित गन्ध सूँघे, नेत्र भगवन्मूर्तिका दर्शन करें, कर्ण भगवान्‌का यश सुनें, पैर भगवान्‌के मन्दिर–तीर्थंकी यात्रा करें, हाथ भगवत्सेवामें लगें। इस प्रकार इन्द्रियोंको भगवान्‌में ही लगाया जाय, यह उत्तम भक्ति है।'

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥

'जैसी ममता स्त्री, पुत्र तथा शरीरमें है वैसी देहादिमें न होकर केवल भगवान्‌में हो और उस ममतामें प्रियत्व हो तो इसीको भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारदादि भागवताचार्य 'भक्ति' कहते हैं।'

एक 'भिक्षुपादप्रसारण न्याय है। एक भिखारी आया किसीके यहाँ। उसने प्रार्थना की—'बाहर बहुत तेज धूप है, कृपा करके घरमें तनिक खड़े हो जाने दीजिये!'

गृहपतिने दया करके आज्ञा दे दी। भिखारी घरके भीतर आकर खड़ा हो गया। थोड़ी देरमें बैठ गया। फिर पैर समेटकर लेट गया और फिर उसने पैर फैला लिये। अब गृहपति उसे बाहर जानेको कहने लगे तो उसने कह दिया—'यह भवन तो मेरा है। बाहर तुम चले जाओ।'

उस भिक्षुकके समान ही भगवान्‌का भी स्वभाव है। चित्तमें आते हैं तो पहले तनिक-सी चिनगारीके समान प्रकाशित होते हैं फिर जुगनूके समान, फिर दीपशिखाके समान और फिर मणिके समान। फिर तो हृदयको अपना भवन बना लेते हैं और वहाँसे निकलते ही नहीं। उलटे जीवके 'अहं' को वहाँसे निकाल बाहर कर देते हैं।

हमारे सामने जब कोई प्रभावशाली वस्तु आती है तब उसका प्रभाव हमारे मनपर पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि हमारा

चित्त लाख-जैसा द्रवणशील है। जब रूप, रस गन्धादि सामने आते हैं तो उनके संयोगसे चित्त द्रवित हो जाता है और उस पदार्थकी छाप चित्तपर पड़ जाती है। इसी छापको संस्कार कहते हैं।

मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं दृश्यते तथा।

(भक्तिरसायन २१)

'जैसे ताँबेको साँचेमें गलावें तो उसपर साँचेकी छाप पड़ जाती है और वह छाप स्थायी रहती है।' इस प्रकार चित्तपर भगवान्‌की छाप डालो। अभी तो चित्त कभी भवनकी छाप ग्रहण करता है तो कभी स्त्रीकी। क्षण-क्षणमें द्रवित होता तथा छाप लेता है। कोई छाप बहुत टिकाऊ नहीं होती। अतः ताँबेके समान भली प्रकार चित्तको भगवान्‌के स्मरणसे द्रवित होने दो और उसपर भगवान्‌की गहरी छाप पड़ने दो।

भगवान्‌के लिए व्याकुलता आवेगी तब चित्त द्रवित होगा। भगवान्‌के रूपका, उनके दिव्य गुणोंका, उनकी लीलाका, माहात्म्यका स्मरण करो। स्मरण करो कि सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता प्रभु शरशय्यापर पड़े भीष्म-पितामहका ध्यान कर रहे हैं। ध्यान करो कि वे सुर-मुनिवन्दित श्रीद्वारकानाथ मैले चीथड़े लपेटे, कंकालप्राय सुदामाके बिवाइयोंसे भरे पैर हाथोंमें लिये उनपर अश्रुवर्षा कर रहे हैं अथवा मथुरामें नन्दबाबाकी गोदमें सिर रखकर वे कमल-लोचन फूट-फूटकर रो रहे हैं। यह स्मरण करोगे तो हृदय द्रवित होगा, नेत्रोंमें अश्रु आवेंगे। अब इस द्रवित हृदयपर श्रीकृष्ण, श्रीराम, भगवान् शंकर या नारायणकी छवि अंकित करो।

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

(भक्तिरसायन ३)

भगवान्‌के गुण, माहात्म्य, कृपाको स्मरण करके चित्त द्रवित हो जाय और धारा-प्रवाह रूपमें मनकी सब वृत्तियाँ भगवान्‌के ही सम्बन्धमें उठें, यही 'भक्ति' कही जाती है।

भक्तिका यह लक्षण अद्वैतसिद्धिके कर्ता श्रीमधुसूदन सरस्वतीने 'भक्तिरसायन'में बताया है। वे एक बार बैठे हुए अद्वैतसिद्धि लिख रहे थे। अचानक एक लँगोटीधारी परमहंस कहींसे आये और उच्चासनपर बैठ गये। मधुसूदनजी चौंके, किन्तु परमहंसने बैठते ही पूछा—'मधुसूदन ! एक बात सच-सच बतलाओ ! वादके समय जब किसी अच्छे विद्वान्‌से काम पड़ता है और उसकी दी हुई युक्तिका उत्तर तुम्हें नहीं सूझता तो उस समय तुम्हारे चित्तमें उद्वेग होता है या नहीं ?'

मधुसूदन सरस्वती—'होता है।'

परमहंस—'जब किसी प्रसिद्ध विद्वान्‌को शास्त्रार्थमें पराजित कर लेते हो तब चित्तमें हर्षसे उत्फुल्लता आती है या नहीं ?'

मधुसूदन सरस्वती—'आती है।'

परमहंस—'तब चित्तसे जितना तादात्म्य छूटना चाहिए उतना छूटा नहीं। इसे छूटना चाहिए।'

मधुसूदन सरस्वती—'छूटना तो चाहिए; किन्तु यह हो कैसे ?'

परमहंस—'श्रीकृष्णकी आराधना करो तब अभिमान छूटेगा। और तब देखना कि ब्रह्मज्ञानसे जीवन्मुक्तिका कैसा विलक्षण सुख प्राप्त होता है !'

वे परमहंस अष्टादशाक्षर श्रीकृष्णमन्त्रका उपदेश करके चले गये। मधुसूदन सरस्वतीने छः महीने उस मन्त्रका अनुष्ठान किया। फिर भी कुछ नहीं हुआ। प्रत्यक्ष भगवद्दर्शन तो दूर, स्वप्नमें भी दर्शन नहीं हुआ। तब मनमें विचार आया—'मैं अद्वैतको छोड़कर कहाँ नाम-रूपके चक्करमें आ पड़ा !'

चित्तमें उद्वेग आया तो काशी छोड़कर कपिलधारा तीर्थ जा पहुँचे। वहाँ एक चमारने अकस्मात् सामने आकर कहा—'स्वामीजी! बस, बारह महीनोंमें ही थक गये! लोग तो जन्म-जन्म आराधना करते हैं और लगे रहते हैं।'

बड़ा आश्चर्य हुआ! उन्होंने चमारसे पूछा—'तुम्हें कैसे पता लगा कि मैं बारह महीनोंमें ही थक गया?'

चमार—'मैंने एक भूत सिद्ध कर रखा है। वही मुझे बतलाता है।'

मधुसूदन सरस्वती—'भगवान् तो मिला नहीं, तुम भूत ही दिखला दो!'

चमारने भूतका दर्शन होनेका मन्त्र बता दिया। तीन दिन अनुष्ठान करनेपर भी जब भूत नहीं दीखा तो स्वामी जो झल्लाये और चमारके पास जाकर कारण पूछा। चमारने कहा—'मेरा मन्त्र तो सच्चा है किन्तु भूत कहता है कि—इन्होंने पहले गायत्रीका अनुष्ठान किया था। फिर अजपा जप करते रहे लम्बे समय तक; और अब छः-छः महीनेके दो अनुष्ठान श्रीकृष्ण-मन्त्रके किये हैं। इनके समीप जानेमें मेरा शरीर भस्म होने लगता है। मैं इनके सामने नहीं जा सकता। इससे कहो कि उसी मन्त्रका छः महीने और अनुष्ठान करें। इससे इनको भारी सफलता प्राप्त होगी।

श्री मधुसूदन सरस्वतीने काशी आकर छः महीनेका एक अनुष्ठान फिर किया। उन्हें श्रीकृष्णका दर्शन प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् उन्होंने 'भक्तिरसायन' नामका ग्रन्थ लिखा।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

अपने इष्टके अतिरिक्त दूसरा कुछ मत चाहो। ज्ञानसे या कर्मविशेषसे भक्ति होगी, ऐसा मत मानो। भक्ति स्वयं इतनी

मधुर, इतनी स्वादिष्ट है कि उसमें ज्ञान अथवा कर्मरूप नमक-मिर्च, खटाई-चीनीका मिश्रण आवश्यक नहीं है।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्।

श्रीकृष्णका अनुशीलन-चिन्तन तो कंस भी करता था किन्तु भयसे करता था। शिशुपाल भी चिन्तन करता था किन्तु द्वेषसे करता था। द्वेषसे, भयसे, घृणासे श्रीकृष्णका चिन्तन भक्ति नहीं है। यह प्रतिकूलतापूर्वक चिन्तन है। 'कूल'का अर्थ है तट। जिस तटपर भगवान् खड़े हैं, उसी तटपर हम भी खड़े हों, यह हुई अनुकूलता।

एक बार बादशाह अकबरने बीरबलसे कहा--'बीरबल ! बैंगन बहुत स्वादिष्ट होता है।'

बीरबल--'जहाँपनाह ! इसीलिए तो वहुगुण नाम है।'

बादशाहको बैंगन खानेसे वायु बढ़ी तो दूसरे दिन उन्होंने कहा--'बीरबल ! यह बैंगन तो बहुत वाहियात सब्जी है।'

बीरबल--'जहाँपनाह ! इसीलिए तो इसे बेगुन कहते हैं।'

बादशाह--'बीरबल ! तुम बहुत खुशामदी हो। कल बैंगनको बहुगुण कहते थे और आज बेगुन कह रहे हो !'

बीरबल--'जहाँपनाह ! हम आपके सेवक हैं, बैंगनके नहीं।'

इसी प्रकार ईश्वरकी 'हाँ'में 'हाँ' मिलाना भक्ति है। शरद्-ऋतुकी पूर्णिमा है। रात्रिका समय है। चन्द्रोदय हुआ है। चन्द्रमाकी ओर मुख करके खड़े होकर हम चन्द्र-ज्योत्स्नाका आनन्द ले रहे हैं। यह चन्द्रमाका अनुशीलन है, चन्द्रमाकी भक्ति नहीं; क्योंकि चन्द्रमासे आनन्द तो ले रहे हो किन्तु चन्द्रमामें ममता नहीं है। 'चन्द्रमा मेरा है' ऐसी कोई भावना चित्तमें नहीं है। भक्ति होती है ममता होनेसे। ये मेरे स्वामी, गुरु, पति पुत्र अथवा सखा हैं।

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

'अपने चित्तमें यह भलीभाँति निश्चय है कि 'ये मेरे हैं' और यह ममत्व इतना अधिक एवं प्रगाढ़ है कि उससे चित्त सदा अंकित रहता है। अन्तःकरणको भलीभाँति स्निग्ध (स्नेहरससे सराबोर) कर देनेवाला यह चित्तका द्रवीभाव ही बुद्धिमानोंके द्वारा प्रेम कहा जाता है।'

प्रेम सर्वत्र कोमल होता है किन्तु उसमें एक दृढ़ पकड़ होती है--वह प्रियतमको छोड़ नहीं सकता। चित्त कोमल बनाओ और उसमें भगवान्‌को बैठा लो--प्रभुजी मैं तेरा, तू मेरा। उस सौन्दर्य-माधुर्य धनको अपना बना लो। पर ममत्वका यह भाव चित्तके भीतर ही रह जायगा तो भक्ति पूर्ण नहीं होगी। ममताको बाहर भी आना चाहिए--हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुत्तमा। भक्तिके आनन्दको अपनेतक ही मत रखो। अपने सर्वस्वसे उस प्रियतम प्रभुकी सेवा करो। नेत्रसे उसे--उसके अर्चाविग्रहको देखना सेवा है। कर्णसे उसकी कथा, उसके गुण सुनना सेवा है। इसी प्रकार अपनी समस्त इन्द्रियोंको उसकी सेवामें लगा दो।

यह मत सोचो कि वह तो आप्तकाम, परमानन्दकन्द है, उसे हमारी सेवाकी क्या आवश्यकता! एक बार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजको ज्वर आ रहा था। शिवरात्रिको भक्तोंने उनको माला, पुष्प, चन्दन और जल चढ़ाना प्रारम्भ किया। किसीने मना किया तो बोले--'ये तो भगवान् हैं, समर्थ हैं, ज्वर इनका क्या बिगाड़ सकता है?' यह बात प्रेमके-भक्तिके सर्वथा विपरीत है। श्रीहरि-बाबाजीने पहरा बैठा दिया कि कोई श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजपर जल-चन्दन न चढ़ा पावे।

अतः यह सोचना कि भगवान् तो स्वयं परिपूर्ण हैं; हमारी सेवा, हमारा सौन्दर्य उन्हें क्या रुचेगा; उचित नहीं है। अपने तन-मन-जीवनको सार्थक बनानेके लिए सेवा की जाती है। अपनी सेवासे, अपने समर्पणसे प्रभुको प्रसन्न करो। प्रभुसे कहो--'मेरे

स्वामी ! मेरे नेत्रोंकी ज्योति देखकर प्रसन्न होओ ! इस नेत्रोंमें प्रेमकी ज्योति है। मेरी मुस्कान तुम्हें आनन्द देगी क्योंकि यह प्रेमभरी मुस्कराहट है।' तुम्हारे पास पदार्थ कितना है, कैसा है, इसका प्रश्न नहीं है। चार चावल, थोड़े-से पुष्प, तुलसी तथा दूर्वाके दल और जल--भगवान् इतनेसे ही प्रसन्न हो जाते हैं; किन्तु इन सबको प्रेमकी चाशनीमें डुबाकर, प्रेमसे सराबोर करके उनके सामने उपस्थित करो--'**अनेन श्रीकृष्णः प्रीयताम् !**' यह भक्ति है।

'व्याख्यास्यामः' = वि + आ + ख्यास्यामः। वि=विशेषरूपसे, आ=भलीप्रकार, ख्यास्यामः=वर्णन करूँगा। विशेषरूपसे भलीप्रकार (भक्तिका) वर्णन-निरूपण करूँगा। विशेषरूपसे क्या ? अन्य निरूपणकर्ताओंने कर्म-मिश्रा अथवा ज्ञान-मिश्रा भक्तिका निरूपण किया है। देवर्षि नारद कहते हैं--'मैं विशेष रूपसे अर्थात् शुद्ध भक्तिका निरूपण करूँगा।' इसमें कर्मकी या ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है। 'आ'-भलीप्रकार भक्तिका वर्णन यह कि जो कर्म करनेसे प्राप्त होता है या जो ज्ञानसे प्राप्त होता है, वह सब भी केवल भक्तिसे ही प्राप्त हो जायगा, यह निरूपण भी यहाँ है।

शास्त्रोंमें तो भक्तिकी बड़ी-बड़ी व्याख्याएँ हैं। अब देवर्षि नारदजी कौन-सी व्याख्या करेंगे ?

शास्त्रोंमें भक्तिकी नाना प्रकारकी व्याख्या है और देवर्षि भी कोई शास्त्र-विरुद्ध व्याख्या नहीं करनेवाले हैं। वे भी उस शास्त्रीय निरूपणको ही स्पष्ट करेंगे। किन्तु प्राणी यह निश्चय नहीं कर पाता कि भगवान्को हम अपना स्वामी मानें या मित्र, पुत्र मानें या पति। किस सम्बन्धसे हम भक्ति करें। इसके लिए भक्तिकी पहचान आवश्यक है। भक्तिकी ठीक पहचान करानेके लिए देवर्षिने यह व्याख्या की है।

●

भक्तिका रूप

● संगति

प्रथम सूत्र प्रतिज्ञासूत्र था। उसमें जिस भक्तिकी व्याख्या करनेकी प्रतिज्ञा की गयी थी उस भक्तिका अब इस दूसरे सूत्रमें रूप बतलाते हैं। तीसरे सूत्रमें भक्तिका स्वरूप बतलाया गया है। रूप बहिरंग लक्षण है और स्वरूप अन्तरंग लक्षण।

रूप बाह्य होता है। जैसे मिश्रीके गोलेका रूप गोलाकार होगा किन्तु स्वरूप उसका मिठास होगा। भक्ति स्वयं अन्तरंग है। उसका निवास हृदयमें होता है। अतः उसका बहिरंग लक्षण भी मनुष्यके लिए अन्तरंग ही है। बहिरंग लक्षणका इतना ही अर्थ है कि भक्ति देवी हृदयमें आयीं, यह कैसे—किन लक्षणोंसे जाना जाय।

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ २ ॥

सा—वह (भक्ति) तो इस प्रत्यक्ष वर्तमान परमात्मामें परमप्रेमरूप है ॥ २ ॥

इस सूत्रका दूसरा पाठ जो भारतेन्दु बाबूने माना है, यह है—

सा कस्मै परमप्रेमरूपा ॥ २ ॥

वह भक्ति सम्पूर्णसृष्टिविधायक परमानन्दस्वरूप परमात्मामें परमप्रेमरूपा है ॥ २ ॥

भक्तिका रूप है परम प्रेम, जैसे मनुष्यका रूप गोरा, काला, साँवला, श्वेत या पीला होता है। परम प्रेम क्या है? 'प्री' धातुसे

प्रेम शब्द बनता है इस 'प्री' धातुके तीन प्रकारके पाठ गणभेदसे प्राप्त होते हैं—'प्रीङ् प्रीतौ' (दिवादि), प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च' (क्रयादि) तथा 'प्रीञ् तर्पणे' (चुरादि) इनके पाणिनीय-व्याकरणानुसार लट् लकारके प्रथमपुरुष-एकवचनमें सब मिलकर सात तरहके रूप होते हैं—प्रीयते, प्रीणाति, प्रीणीते प्रीणयति, प्राययति, प्रयति एवं प्रयते।

प्रियस्य भावः प्रेम अथवा प्रेमा—परमः प्रेमा रूपं यस्य सा परमप्रेमरूपा।

'सा'—वह। जिसकी व्याख्या करनेकी प्रतिज्ञा की है वह भक्ति। 'तु'—तो। 'अस्मिन्'—इसमें–अपरोक्षे–प्रत्यक्षे–पुरोवर्तिनि अर्थात् सम्मुख विद्यमान परमात्मामें। परमप्रेरूपा—परमप्रेमरूपिणी है।

दूसरे पाठमें 'कस्मै' है। कस्मै—परमात्मनि-परमात्मामें; क्योंकि परमात्माका एक नाम 'कः' भी है।

'कः' = किं ? = कौन ? वेद, शास्त्र और पुराण सभी परमात्माको अनिवर्चनीय मानते हैं। परमात्माका वर्णन करते समय सबको यही कहकर समाप्त करना पड़ता है कि—'वह क्या है, कैसा है, कौन है, इसके सम्बन्धमें इन प्रश्नोंकी इतिश्री कभी नहीं होती।'

'कस्मै'—क अर्थात् 'सिर, जो सबके सिर पर बैठा है अर्थात् सर्वोच्च है, उस परमात्मामें।

'कस्मै'—'क' अर्थात् आनन्द, अतः 'कस्मै' = परमानन्दरूपी

'कस्मै' = क = प्रजापति = सम्पूर्ण विश्वसृष्टिका जो कारण है, उसमें।

इस प्रकार 'सा कस्मै परमप्रेमरूपा'का अर्थ हुआ—'वह भक्ति वेद-शास्त्रादिमें 'नेति–नेति'के द्वारा निर्दिष्ट; सर्वेश्वर,

भक्तिका स्वरूप

• संगति

आगेके तीसरे सूत्रमें भक्तिका स्वरूप बतलाते हैं। जैसे आभूषणका रूप क्या है? हार, कंकण, कुण्डल आदि; उसकी गढ़न, पच्चीकारी आदि। पर कोई पूछे कि उसका स्वरूप क्या है? तो स्वरूप है—स्वर्ण! इसी प्रकार भक्तिका रूप परम प्रेम है। यह उसका बहिरंग निरूपण हुआ। अब अन्तरंग निरूपण-करनेके लिए भक्तिका स्वरूप इस सूत्रमें बतलाते हैं।

अमृतस्वरूपा च ॥ ३ ॥

और वह (भक्ति) अमृतस्वरूपा है ॥ ३ ॥

इसी बातको महर्षि शाण्डिल्यने अपने भक्तिदर्शन में कहा है—

तत्संस्थस्य अमृतत्वोपदेशात् ।

भक्तिका स्वरूप है अमृत। एक अमृत समुद्रमथनोद्भूत है, जो स्वर्गमें है और देवभोग्य है। यह अमृत जरा-रोगनाशक है किन्तु पुण्यको क्षीण करता है। देवलोकके प्राणी अमृत पीकर स्वर्गमें तभीतक रहते हैं जबतक उनका पुण्यक्षय न हो जाय। भक्तिका स्वरूप ऐसे अमृतके तुल्य नहीं है।

दूसरा अमृत चन्द्रमामें है। वह चन्द्रकिरणोंके द्वारा वनस्पतियोंमें आता है और प्राणिभोग्य है। जौ, गेहूं आदि उससे पुष्ट होते हैं। यह अमृत देह-पोषक, क्षुधा-निवारक तो है किन्तु जरा-मरण-शोकादिनिवारक नहीं है। भक्तिका स्वरूप इस अमृत-जैसा भी नहीं है।

जो भगवद्भोग्य अमृत है, जिसका उपभोग केवल भगवान् करते हैं, वह भक्तिका स्वरूप है।

एक बार व्रजमें क्रीडा करते हुए श्रीकृष्ण सहज भावसे 'राधा-राधा' बोलने लगे और तन्मय हो गये। इस तन्मयतामें ऐसा संगीत प्रकट हुआ कि सम्पूर्ण विश्व मोहित हो गया। उस दिव्य स्वरसे आकर्षित होकर देवी सरस्वती व्रजमें आयीं। वहाँ जो मयूर-मुकुट-धारी नन्दनन्दन श्यामसुन्दरपर दृष्टि गयी तो वे उस रूपराशिपर मोहित हो गयीं। सरस्वतीने प्रार्थना की--'प्रभो! मुझे दासीके रूपमें स्वीकार कर लें।' पर श्रीकृष्णने तिरस्कार कर दिया। तिरस्कृता सरस्वती जड हो गयीं और बाँसके रूपमें उगीं। उसी बाँसकी वंशी श्यामसुन्दर बजाते हैं, अपने ही प्रेमकी परिणतिका उपभोग करते हैं।

भक्तिको यदि सत्त्वगुणकी वृत्ति कहो तो सत्त्वगुण प्रकृतिका कार्य है और भगवान् प्राकृत वस्तुके वशमें तो हो नहीं सकते।

भक्तिको मायाकी वृत्ति मानो तो माया—छल-कपटसे भगवान् सदा दूर रहते हैं। मायाके वशीभूत भगवान् भला कैसे हो सकते हैं!

भक्तिको जीवका प्रयत्न मानो तो जीवके किसी भी प्रयत्नमें भगवान्को वशमें कर लेनेकी क्षमता कैसे हो सकती है!

भक्तिको भगवान्की शक्ति मानो तो भी शक्तिमान्के वशमें होती है। शक्तिमान् भगवान् अपनी शक्तिके वशमें तो हो नहीं सकते।

अतः भक्ति तो भगवान्की आह्लादिनी शक्तिका सारसर्वस्व है, उन परमानन्दस्वरूपका जो स्वरूपभूत आनन्द है, वही है। भगवान् जब अपने ही स्वरूपभूत आनन्दका रसास्वादन करना चाहते हैं तब भक्तके हृदयमें स्वयं उस आनन्दको स्थापित करते हैं और

फिर उस आनन्दके वशमें हो जाते हैं। भगवान् अपने ही स्वरूप-भूत आनन्दका आस्वादन करते हैं।

श्रीकृष्णचन्द्र अपने हृदयानन्दको वंशीके स्वरोंमें पूर्ण करते हैं। वंशीध्वनिके द्वारा वह आनन्द गोपियोंके कर्णरन्ध्रमें प्रवेश करके उनके हृदयमें पहुँचता है और जब वह फिर प्रेम बनकर गोपियोंके हृदयसे छलकता है तब उस प्रेमका आस्वादन करके भगवान् तृप्त होते हैं। इस प्रकार भक्तके हृदयमें जो भगवान्के प्रति परमप्रेमरूपा भक्ति है, वह भगवान्का स्वरूपभूत आनन्द है अर्थात् भक्ति स्वयं भगवान्का स्वरूप है।

'अमृतस्वरूपा'का यह अर्थ है कि भक्ति भगवत्स्वरूप है। न भगवान्के बिना भक्ति रह सकती, न भक्तिके बिना भगवान् रह सकते—**भगति भगत भगवंत गुरु, चतुर नाम बपु एक।** 'अमृतस्वरूपता' भक्तिकी सबसे बड़ी विशेषता है।

सब साधन फलकालमें अमृत होते हैं—**अपाम सोममसृता अभूम।** अर्थात् 'धर्म करके स्वर्गमें जायँगे और वहाँ अमृत पीकर अमर हो जायँगे।' किन्तु धर्म अनुष्ठानकालमें अमृत नहीं है। क्रियाकालमें तो उसमें श्रम, संयम, तितिक्षाका कष्ट ही है। यही बात योगके लिए भी है। **रस गगनगुफामें अजर झरैं**—किन्तु वह रस योगका साधन प्रारम्भ करते ही तो प्राप्त होना नहीं है। यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यानका दीर्घ-कालीन श्रम तथा तप करनेपर तब कहीं समाधिकी सिद्धि होगी। अनहद श्रवण करने चलोगे तब भी पहले संयम तथा नाडी-शोधन; एक, दो, तीन या पाँच बन्ध करने होंगे। अतः साधनकालमें योग अमृत नहीं है। ज्ञानके सम्बन्धमें 'विचारसागर'-को भी यह मान्य है—

मल विक्षेप जाके नहीं, किन्तु एक अज्ञान।
जो सब साधन सहित नर, सो अधिकृत मतिमान॥

पहले षट्सम्पत्ति, साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न बनो तब ज्ञानके अधिकारी होओगे। अधिकारी होकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन करो। तब निदिध्यासनसे महावाक्यजन्य ब्रह्माकार वृत्तिका उदय होनेके अनन्तर अविद्या निवृत्त होगी।

तमेव विदित्वामृतमिह भवति।

'उस परमात्माको आत्मासे अभिन्न जानकर यहीं, इसी वर्तमान कालमें अमृत हो जाता है।' किन्तु अमृत होता है जानकर ही। तात्पर्य यह कि ज्ञान साधनकालमें अमृत नहीं है किन्तु भक्ति सिद्धिकालमें तो अमृत है ही, साधनकालमें भी अमृत है।

एक व्यक्ति नदीके इस पार है और उसका प्रियतम नदीके दूसरे तटपर। अब नदी कैसे पार करें? कोई चाहे तो तैरकर नदी पार कर सकता है, नौकामें बैठकर स्वयं ही नौका खेकर पार ले जा सकता है। पर भक्त के लिए प्रियतम स्वयं ही नौका लेकर आ जाता है, हाथ पकड़कर नौकामें बैठा लेता है और नौकामें बैठकर वह व्यक्ति प्रियतमकी रूपराशि निहारने लगता है। दूसरे साधन ऐसे हैं कि पार जानेपर प्रियतमकी प्राप्ति होती है किन्तु भक्तिमें तो स्वयं प्रियतम इसी पार नौका लेकर आ जाता है। भक्तिका प्रारम्भ होते ही ईश्वरका सहारा प्राप्त हो जाता है।

धर्म, योग तथा ज्ञान 'त्वं'पदार्थप्रधान हैं। इनमें अपनेको ही सब कुछ करना पड़ता है। यद्यपि ज्ञान उभयपदार्थप्रधान है किन्तु साधनचतुष्टय तथा श्रवणादि उसमें भी जिज्ञासुको ही करना पड़ता है अर्थात् धर्म, योग या ज्ञानके मार्गमें अपने बलपर ही प्रगति सम्भव है।

भक्तिके सम्बन्धमें सिद्ध भक्ति–प्रेमाभक्तिकी बात तो छोड़ दो, साधनात्मिका भक्तिकी ही बात देखो। एक व्यक्ति कहता है—

'मुझसे तो कोई साधन बनता नहीं, केवल जिह्वासे भगवान्का नाम लेता हूं।'

अच्छा, क्या इस भगवन्नाम लेनेमें कुछ अमृत, कुछ रस तुम्हें मिलता है? यदि कोई कहता है—'नहीं मिलता' तो समझना होगा कि वह रोगी है। जैसे मिश्री स्वरूपसे मधुर होते हुए भी पित्तके रोगीको मीठी नहीं लगती पर पित्तरोग मिटानेकी औषधि भी मिश्री ही है। तुमको यदि मिश्री कड़वी अथवा फीकी लगती है तो तुम्हें पित्तरोग है। मिश्री खाते रहो। रोग मिट जायगा—पित्त शमित हो जायगा तो मिश्री मीठी लगने लगेगी। इसी प्रकार जो अत्यधिक वासनाओंसे ग्रस्त है वह तो विषयरोगका रोगी है। उसे भगवन्नाममें रस नहीं आता। वासना अधिक हो तभी भगवन्नाम नीरस या अप्रिय लगता है। अतः नाम लेना छोड़ो मत। नाम लेते जाओ। वासनाओंको नाम-जप दूर करेगा और तब नाममें रस आवेगा क्योंकि भगवन्नाममें तो अनन्त माधुर्य है। 'रसगंगाधर'के रचयिता पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं—

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं च पीतं पयः
स्वर्यातेन सुधाप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः।
सत्यं ब्रूहि मदीय जीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोर्द्वयोर्मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः॥

'मेरे जीव! बार-बार इस संसार (की इन नाना योनियों) में भटकते हुए तुमने अंगूर खाये हैं, मिश्री चखी है, उत्तम दूध भी पिया है और अनेक बार स्वर्ग जाकर वहाँ रम्भादि अप्सराओंका उपभोग भी किया है। अतः सच-सच बताओ तो कि 'कृष्ण' इन दो अक्षरोंमें जो माधुर्योद्गार है वैसी मधुरिमाकी झलक भी तुम्हें क्या, कहीं मिली है?'

श्रीरूपगोस्वामीजी कहते—

तुण्डे ताण्डविनि रतिं वितनुते तुण्डावलीलब्धये,
कर्णक्रोडकडम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम्।
चेतःप्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं,
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी॥

(विदग्धमाधव)

'पता नहीं 'कृष्ण' ये दो अक्षर कितने अपार अमृतसे उत्पन्न हुए हैं; क्योंकि जब ये जिह्वापर आते हैं तब मन आतुर हो उठता है कि ढेर-सी पंक्तिकी-पंक्ति जिह्वाएँ प्राप्त हों और उनसे इनके उच्चारणका रस लें। जब ये दोनों अक्षर कर्णमें पड़ते हैं तो उत्कण्ठा होती है कि अरबों कर्ण होते तो उनसे इनके श्रवणका आनन्द लेते। चित्तमें जव स 'कृष्ण' नामका स्मरण होता है तब सब इन्द्रियोंका कर्तृत्व वहीं सिमट जाता है। बाहर न कुछ देखनेकी इच्छा होती, न सुननेकी, न छूनेकी, न सूँघनेकी, न चखनेकी, न चलने-फिरनेकी और न कुछ करनेकी ही।'

मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां
सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्।

'यह भगवन्नाम समस्त मंगलोंको भी मंगल बनानेवाला, अत्यन्त मधुर है। सम्पूर्ण वेदरूपी लताओंका यह परमसरसमय ज्ञानस्वरूप उत्तम फल है।

भक्तिका आरम्भ करोगे तो पहला पद ही होगा भगवन्नाम लेना और उस नाममें ही इतना अमृत, इतना माधुर्य है! जिसका प्रारम्भ ही इतना मधुर है उसका परिपाक कितना मधुर होगा!

भक्तिमें दो बातें आवश्यक होती हैं—राग और भोग। रागका अर्थ है भगवान्‌से प्रेम तथा संगीत अर्थात् भगवान्‌के नाम, यश, लीलादिका गायन-संकीर्तन। भोगका अर्थ है भगवान्‌की पूजा-

अर्चा, उन्हें, भोग लगाना तथा उनके भोगका चिन्तन—भगवान् कैसे भोजन, शयन तथा लीला-विहार करते हैं इसका ध्यान करना।

सब जानते हैं कि संगीत रसमय होता है और प्रेम तो रसमय है ही। भगवान्को लगाया भोग सभी अमृत है। चरणामृत, प्रसादामृत आदि सब अमृत हैं और भगवान्के लीलाबिहारके चिन्तनमें तो अमृत ही अमृत है। वंशीमाधुरी, रूपमाधुरी, लीला-माधुरी—भगवान्के तो रोम-रोमसे अमृत झरता है। इस प्रकार भक्ति तो साधनके प्रारम्भसे ही अमृस्वरूपा है।

यह अवस्था साधनात्मिका भक्तिकी है। जब परा भक्ति प्राप्त होगी-—दास्य, सेवा, सख्य, वात्सल्य, माधुर्यका अमृत प्राप्त होगा तब उस अवस्थाकी तो कल्पना भी मनमें नहीं आ सकती।

'अमृतस्वरूपा'-—भक्ति सदा जीवित रहनेवाली है। धर्म (कर्म) रूप साधन फल उत्पन्न करके मृत हो जाता है। यज्ञ किया और स्वर्ग गये। स्वर्गमें तो यज्ञ होगा नहीं। योगरूप साधन भी फल उत्पन्न करके मृत हो जाता है। योगसे निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो गयी, फिर साधनाकी आवश्यकता नहीं है। ज्ञानरूप साधन भी फलरूप वृत्ति उत्पन्न करके मृत हो जाता है। महावाक्यके श्रवणसे मनन-निदिध्यासन करके ब्रह्माकार वृत्तिका जो उदय हुआ तो अविद्या-निवृत्ति करके वह वृत्ति भी नष्ट हो जाती है। ज्ञान-वृत्तिका नाश हो जाता है, केवल ज्ञानस्वरूप ब्रह्म रहता है। फिर श्रवणादि साधन भला क्यों होंगे!

अब देखो कि भक्ति करके भगवत्प्राप्ति हुई तो क्या भक्ति छूट जायेगी? भगवत्प्राप्तिसे भक्ति बढ़ेगी या घटेगी? भक्ति तो बढ़ेगी। यह आराधनाकी राधा तो अजर-अमर है।

> सदा एकरस एक अखंडित आदि अमादि अनूप।
> कोटि कलप बीतत नहिं जानत बिहरत युगल सरूप॥

भगवान् तथा भक्तिका विहार कभी समाप्त नहीं होता क्योंकि भक्ति तो स्वयं फलरूपा है। उद्धवजी कहते हैं—

दानव्रततपोहोम - जपस्वाध्यायसंयमैः।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥

(श्रीमद्भाग० १०-४-२४)

'दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, जप, वेदाध्ययन, संयम (शम-दम) तथा अन्य नाना प्रकारके कल्याणकारी साधनों (योगादि)से श्रीकृष्णमें भक्ति ही प्राप्त की जाती है। उन साधनोंका परम फल यही है कि श्रीकृष्णकी भक्ति चित्तमें आवे।'

भक्ति प्राप्त होनेपर भक्तमें प्रकट होनेवाले लक्षण

• संगति

ऐसी परमप्रेमरूपा तथा अमृतस्वरूपा भक्ति प्राप्त हो जानेपर भक्तकी क्या अवस्था होती है, यह तीन सूत्रोंमें बतलाते हैं। अमृत पीनेमें भी मधुर होता है और परिपाकमें भी। यदि अमृत पीनेपर भी कोई लक्षण प्रकट न हो तो वह अमृत कैसा! अतएव अमृतस्वरूपा भक्तिका सेवन करनेपर जो अमृत छलकता है, उससे तन-मन-जीवनका एक-एक कण परिपूर्ण हो जाता है। भक्तिके जीवनमें आनेपर भक्तमें क्या लक्षण प्रकट होते हैं, उनका वर्णन तीन सूत्रोंमें किया जा रहा है।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति[1], तृप्तो भवति ॥ ४ ॥

जिसको (प्रेम अथवा भक्तिको) पाकर पुरुष सिद्ध हो जाता है, अमृत हो जाता है, तृप्त हो जाता है ॥ ४ ॥

'यत्' यह नपुंसकलिङ्गका रूप है। यदि 'यत् लब्ध्वा' का अर्थ 'भक्ति लब्ध्वा' करना हो तो 'यां लब्ध्वा' होना चाहिए था। किन्तु 'परमप्रेम' भी नपुंसकलिङ्गका रूप है। अतः 'यत् परमं प्रेम लब्ध्वा' ऐसा अर्थ भी कर सकते हैं। इनका तात्पर्य यह होगा कि

---

१. 'अमृतो भवति' यह पाठ भी मिलता है।

भक्तिकी बात तो दूर, उसके एक रूप परमप्रेमको पाकर भी पुरुष सिद्ध हो जाता है, तृप्त हो जाता है।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। पूरे नारदीय भक्तिसूत्रमें कहीं भी ईश्वरके स्वरूपका वर्णन नहीं है। महर्षि अंगिराके मध्य-मीमांसादर्शन (दैवीमीमांसादर्शन) और महर्षि शाण्डिल्यके भक्ति-सूत्रोंमें भी ईश्वर तथा भक्ति दोनोंके स्वरूपोंका वर्णन है किन्तु इस नारदीय भक्तिदर्शनमें केवल 'अस्मिन्'—प्रत्यक्ष विद्यमान ईश्वर अथवा 'कस्मै'—ईश्वरके लिए, बस इतना ही संकेत है। अतः इन तीनों सूत्रोंका अर्थ ईश्वरपरक करना भी संगत है।

आप किस ईश्वरकी भक्ति करनेकी बात कह रहे हैं ?

यत् अस्मिन् पदनिर्दिष्टं लब्ध्वा सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।

'उस अस्मिन् पदसे निर्दिष्ट ईश्वरकी भक्ति करनेकी बात कही जा रही है जिसे प्राप्त करके पुरुष सिद्ध हो जाता है, अमृत हो जाता है, तृप्त हो जाता है।' इस रीतिसे लोगोंकी चित्तवृत्ति आकृष्ट करनेके लिए फलनिर्देशसे भक्तिका वर्णन कर रहे हैं।

'लब्ध्वा'—यह बात बहिर्दृष्टिसे कही गयी है। लाभ होना, मिल जाना, जैसे किसीको कोई वस्तु उत्तराधिकारमें मिल जाय अथवा मार्गमें पड़ी मिल जाय तो उसे लब्ध कहेंगे। भक्ति मिलती है महात्माओंसे। भगवान्‌से प्रेम माँगो तो वे कहेंगे—'हम तो स्वयं प्रेमके भिखारी हैं, गोपियोंसे प्रेम माँगते फिरते हैं। प्रेमके जो धनी हैं, प्रेम तो उनसे ही प्राप्त होगा।'

लोग बड़े-बड़े योगके साधन करके सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं और उनका प्रदर्शन करते फिरते हैं। पर ये चमत्कार सिद्धियाँ नहीं हैं। सिद्धि है अन्तःकरणका वासनारहित हो जाना। जिस अन्तःकरणमें ब्रह्मज्ञान हुआ उसमें वासना न हो तो उसे देखकर दूसरोंकी भी ब्रह्म-

ज्ञान प्राप्त करनेमें प्रवृत्ति होगी। परन्तु यदि ब्रह्मज्ञानी भी सामान्य लोगोंके समान विषयलोलुप ही हुआ तो उसे देखकर तो लोगोंकी ब्रह्मज्ञानके प्रति अरुचि हो जायगी।

जो साधन करता है वह सिद्ध होता है, जो ज्ञान-सम्पादन करता है, वह अमृतत्वकी प्राप्ति करता है और जो पदार्थोंका, भोगोंका संग्रह कर पाता है उसे भोगके द्वारा तृप्ति होती है। किन्तु भक्तको बिना साधनके ही सिद्धि प्राप्त होती है, बिना घटाकाश-मठाकाशका विवेचन किये अमृतत्वकी उपलब्धि होती है, बिना संग्रह एवं भोगके उसे अखण्ड तृप्ति रहती है।

भक्तको सिद्धिके लिए जप, तप अथवा योगाभ्यास नहीं करना पड़ता। मोक्षके लिए पृथक्से उसे श्रवण-मनन-निदिध्यासन करनेकी आवश्यकता नहीं होती। तृप्तिके लिए उसे भोगोंका संग्रह–वस्तु-परिग्रह आवश्यक नहीं होता। महर्षि शाण्डिल्यने भक्तिका लक्षण करते हुए कहा है—

तत्संस्थस्य अमृतत्वोपदेशात्।

श्रुतिने कहा है—ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।

'जो ब्रह्मसंस्थ है-ब्रह्ममें सम्यक् स्थित है (स्था गतिनिवृत्तौ), जो ब्रह्मसे हटता ही नहीं, अथवा 'संस्था मृत्युः'—ब्रह्ममें जिसका मैं (परिच्छिन्न व्यक्तित्व) मर गया वह अमृतत्व प्राप्त करता है।' किन्तु 'ब्रह्मसंस्था'का वास्तविक अर्थ है भक्ति। ब्रह्मज्ञान तो वह है जो अज्ञानको मिटाकर स्वयं भी मिट जाता है किन्तु भक्ति वह है जो ब्रह्ममें निष्ठाके रूपमें रहती है। भगवान्‌में निरन्तर मनुष्यकी स्थिति रहे, इसका नाम भक्ति है।

सिद्धिका अर्थ है ऐश्वर्य। अमृतत्वकी उपलब्धि विदेहमुक्ति है। तृप्ति जीवन्मुक्ति है। मनुष्यके जीवनमें भक्ति आवे तो सिद्धि–ऐश्वर्य

आता है। यदि कोई भक्तको पराभूत करना चाहे तो ईश्वर भक्तका पराभव नहीं होने देगा--प्रबलया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते।

'सिद्धो भवति' = ईश्वरके समान ऐश्वर्यवान् हो जाता है। एक महात्मा गंगा-किनारे बैठे थे। एक दुष्टने उन्हें डंडा मारना चाहा किन्तु उसका हाथ उठा ही नहीं। हमने उन महात्मासे पूछा—'भगवन्! आपने इसका हाथ स्तम्भित करनेके लिए क्या कोई संकल्प किया था?'

महात्मा बोले--'मुझे तो पता भी नहीं कि यह कब मेरे पीछे आकर खड़ा हो गया?'

दुर्वासाजीने अम्बरीषको मारनेके लिए कृत्या उत्पन्न की किन्तु भगवान्के चक्रने कृत्याको कष्ट कर दिया। प्रह्लादपर दैत्योंने अस्त्रसे प्रहार किये, उन्हें विष दिया, पर्वतसे गिराया, जलमें डुबाया, अग्निमें डाला, सर्पसे डँसवाया, पर प्रह्लादका कहीं कुछ नहीं बिगड़ा। इससे बड़ा सिद्ध भला कोई कभी हुआ या हो सकता है!'

'सिद्धो भवति'—भक्त सिद्धि चाहता नहीं। वह तो सिद्धियोंकी ओर आँख उठाकर देखता भी नहीं। देवता प्रकट होकर कहते हैं-'हम तुम्हें यह सिद्धि देते हैं।' पर भक्त सिद्धिको स्वीकार नहीं करता और 'मैंने सिद्धिको अस्वीकार करके देवताको लौटा दिया' यह अभिमान भी नहीं करता। सिद्धिको स्वीकार करनेसे आसक्ति बढ़ती है और उसे अस्वीकार करनेसे अभिमान बढ़ सकता है। अतः सिद्धि दोनों रूपोंमें बाधा ही देती है।

कोई व्यक्ति पारदको सिद्ध करके सेवन करे तो वह सिद्ध हो जाता है परन्तु अमृतस्वरूपा भक्तिका सेवन करे तो भक्तके जीवनमें वह स्वयं सेवा करनेके लिए आ उपस्थित होती है। संत ज्ञानेश्वर जन्मसे योगसिद्ध थे और नामदेव भक्त। तीर्थयात्रापर

जाते समय ज्ञानेश्वरजीने नामदेवको आग्रह करके साथ ले लिया। यात्रा करते हुए दोनों मरुभूमिमें पहुँचे तो प्यास लगी। मार्गमें एक कुआँ मिला; किन्तु बहुत गहरा। न उसपर रस्सी, न डोल। ज्ञानेश्वरजीने योगशक्तिसे कुएँमें प्रवेश किया; स्वयं जल पीकर. कमण्डलु भरकर जल ले आये और नामदेवसे जल पीनेके लिए कहा। नामदेव बोले—'यह तो सिद्धिके हाथका जल है। मैं इसे नहीं पीता। मेरे विठ्ठलको क्या अपने बच्चेकी चिन्ता नहीं है! मैं तो उसीके हाथका जल पीऊँगा।'

नामदेवके नेत्रमें आँसूसे भर गये—'मेरे स्वामी; मेरे पास तो सिद्धि है नहीं; किन्तु मैं प्यासा हूँ तो तुम भी तो प्यासे हो। तुम्हें कैसे जल अर्पित करूँ?'

नामदेवके नेत्रोंसे कुएँमें दो बूँद आँसू गिरे और कुआँ ऊपर-तक जलसे भर गया। नामदेवने प्रभुको जल अर्पित करके अपनी प्यास दूर की। यह भक्तकी सिद्धि, भगवान्की लीला है।

दक्षिण भारतके आल्वार संतोंके चरितमें एक कथा आती है। एक सन्त एक छोटी कुटियामें रहकर भजन करते थे। कुटिया इतनी छोटी थी कि उसमें वे अकेले भी कठिनाईसे ही लेट पाते थे। एक रातको वायु वेगसे चलने लगी। वर्षा होने लगी। सन्त अपनी कुटियामें बैठकर भजन कर रहे थे। उनके मनमें आया—'इस वायु तथा वर्षामें यदि कोई साधु यहाँ आ गये तो? लेटनेको स्थान तो है नहीं, दोनों बैठकर रातभर भजन करेंगे।

बात मनमें आयी और सचमुच एक साधुने आकर कुटियाका द्वारा खटखटाया। द्वार खुला। वे भीतर आगये। दोनों सन्त बैठकर भजन करने लगे। दोनोंके मनमें आया—'यदि कहीं कोई और साधु आगये तो? तीनके बैठने योग्य स्थान तो है नहीं। अच्छा, तीनों खड़े होकर कीर्तन करते हुए रात्रि व्यतीत कर लेंगे।

सचमुच तीसरा साधु आगया। अब तीनों खड़े होकर कीर्तन करने लगे। तीनोंके मनमें आया--'कहीं चौथा कोई आजाय इस वर्षामें ? आजायगा तो तनिक कसकर खड़े हो जायेंगे।'

चौथा साधु भी आगया और कुटियामें चारों कसकर-सटकर खड़े हो गये। सहसा तीनोंको रोमांच होने लगा, अश्रु गिरने लगे, हृदय अद्भुत आनन्दसे परिपूर्ण हो गया। तीनोंकी दृष्टि सबसे पीछे आनेवालेपर स्थित हो गयी। वे तो साक्षात् नारायण थे जो चतुर्भुज रूपमें प्रकट हो गये थे !

'सिद्धो भवति'--भक्त सिद्धिके लिए प्रयास, इच्छा या संकल्प नहीं करता। उसमें जो चमत्कार प्रकट होते हैं, उन्हें तो भगवान् भेजते हैं। सिद्धि है क्या ? मनुष्यका बिना यन्त्रकी सहायताके आकाशमें उड़ना क्या सिद्धि है ? किन्तु मच्छर, मक्खी, पक्षी तो आकाशमें उड़ते ही हैं। उनकी समता यदि मनुष्यने कर ली तो क्या विशेष बात हुई ! परमहंस रामकृष्णसे किसीने पूछा--'सिद्धिका लक्षण क्या है ?'

परमहंसदेव बोले--'चावल पहले कड़ा रहता है किन्तु सिद्ध होनेपर नरम हो जाता है। न उसमें कोई कणिका रहे और न वह गल ही जाय।'

तात्पर्य यह कि व्यक्ति तो बना रहे किन्तु अभिमानका कोई कण शेष न रहे। यह भक्तकी सिद्धि है। उसमें विद्याका, बलका, जातिका, पदका, संयमका, धनका--किसी भी प्रकारका कोई अभिमान नहीं रह जाता। सिद्धका अर्थ है कोमल। भक्त बाहर-भीतरसे अत्यन्त कोमल होता है।

संतहृदय नवनीत समाना। कहा कबिन पै कहा न जाना॥
निज दुख दाह द्रवइ नवनीता। पर दुखद्रवहिं संत सुपुनीता॥

(रामचरितमानस)

'अमृतो भवति'--अमृतत्वकी प्राप्ति होती है तत्त्वज्ञानसे। भगवान् कहते हैं--

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गी० १०-११)

'उन्हीं (अपने भक्तों) पर कृपा करनेके लिए मैं उनके अज्ञानान्धकारको उनके हृदयमें स्थित होकर ज्योतिर्मय ज्ञानदीपकसे नष्ट कर देता हूँ।'

भगवान् स्वयं ज्ञानकी मशाल लेकर आगे चलते हैं। जीवन-मुक्तिमें बाधा तो उन्हें पड़ती है जो विषयलालसावाले हैं। जो भगवान्के ही दिव्य रूप-सौन्दर्य-माधुर्यमें तृप्त हैं उन्हें भला बाह्य विषयोंसे तृप्तिकी क्या आवश्यकता! उनकी तृप्ति तो अखण्ड और निर्बाध है।

'अमृतो भवति'--अमृत पीनेसे मनुष्य अमर हो जाता है। किन्तु भक्त इस स्थूल शरीरको अमर नहीं बनाना चाहता। यह ठीक है कि शरीर रहेगा तो उससे प्रभुकी सेवा करेंगे; किन्तु एक शरीरसे ही सेवा करनेका आग्रह क्यों किया जाय! मयूर, कोकिल, गिलहरी आदि नाना प्रकारके रूप धारण करके प्रभुको रिझानेमें भक्तको तो आनन्द ही है। कोई पतिव्रता नारी यह आग्रह क्यों करे कि उसकी एक ही साड़ी अजर-अमर हो जाय। नयी-नयी साड़ी, नया-नया वेश बदलकर स्वामीको सन्तुष्ट किया जायगा!

रहीम कविका एक श्लोक है जिसका भाव यह है—'स्वामी! मैंने बार-बार वेश बदलकर आपको चौरासी लाख नाटक दिखलाये। यदि मेरे इस नाट्यसे आप प्रसन्न हुए हैं तो मैं जो माँगता हूं वह पुरस्कार मुझे प्रदान करें और यदि आप इससे प्रसन्न

नहीं हुए तो मुझे मना कर दें--मुझे नाटक करना नहीं आता। अतः अब फिर ऐसी भूमिकामें मेरे सम्मुख मत आना !'[1]

श्रीवल्लभाचार्यके सम्प्रदायमें इस सूत्रके पाठमें 'अमृतो भवति'के स्थानपर 'अमृतीभवति' यह पाठ माना जाता है। भारतेन्दुबाबूने 'अमृतोभवति' पाठ ही माना है।

'अमृतीभवति'--भक्त अमर नहीं होता, स्वयं अमृत बन जाता है। वह इतना मधुर हो जाता है कि जो उसके सम्पर्कमें आते हैं उन्हें भी माधुर्य तथा आनन्दकी प्राप्ति होती है। उसके शब्द प्रभुके शब्द हो जाते हैं। उसका स्पर्श प्रभुका स्पर्श होता है। उससे लोगोंको अमृततत्व उपलब्ध होता है। वह किसीको दुःख नहीं देता, सबको प्यार देता है।

> प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
> प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः।
> पुरो वा पश्चाद् वा सविधमविपर्यासितरसं
> रहस्यं साधूनां निरुपधिविशुद्धं विजयते ॥

'प्रायः सबके प्रति प्रिय लगनेवाला आचरण, विनम्रतासे मधुर संयमित वाणी, स्वभावसे ही सबका मंगल चाहनेवाली बुद्धि, अपना गुण-गौरव छिपा रखनेकी प्रवृत्ति, कोई सामने हो या पीछे, एक-सा भाव—प्रेममें कोई विकृति नहीं, यह साधुजनोंका उपाधिहीन विशुद्ध स्वभाव ही होता है।'

---

१. वह श्लोक इस प्रकार है

> आनीता नटवन्मया तव पुरः श्रीकृष्ण या भूमिका
> व्योमाकाशखखाम्बराब्धिवसवस्त्वत्प्रीतयेऽद्यावधि।
> प्रीतो यद्यसि ताः समीक्ष्य भगवंस्तद् वाञ्छितं देहि मे
> नो चेद् ब्रूहि कदापि मानय पुनर्मामीदृशीं भूमिकाम् ॥

एक व्यक्तिसे प्यार करना तो संसारी पुरुषका स्वभाव होता है। अग्नि प्रज्वलित है, जो चाहे ताप ले। चन्द्र उदित हो रहा है, जिसकी इच्छा हो, उसकी ज्योत्स्नाका आनन्द ले। कमल फूल रहा है, जो समीप आवे वह सौरभ पावे। इसी प्रकार संतों–भक्तोंके जीवनमें विनयका माधुर्य होता है, किसीको नीचा दिखानेकी इच्छा कभी नहीं होती। वे वाणी मधुर तथा संयमित बोलते हैं। सबका कल्याण चाहना उनका स्वभाव बन जाता है। समीपके लोग उनसे आनन्द पाते हैं। उनसे आज मिलो या कल, उनकी निन्दा करो या स्तुति, उन्हें हानि पहुँचाओ या लाभ, उनसे सेवा करने मिलो या पीड़ा देने, चाहे जिस निमित्तसे उनसे मिलो–उनके हृदयका रस उलटता नहीं, मधुर ही बना रहता है। चीनीको चाहे स्वच्छ जलमें घोलो या गन्दे जलमें, वह मीठी ही रहती है। भक्तके पास कड़वाहट है ही नहीं। प्रभुको प्रसन्न करनेके लिए उसने अपने हृदयमें माधुर्यका कोष भर रखा है—

साधु ते होइ न कारज हानी।

'तृप्तो भवति'—सच्चा अमृत भक्तको प्राप्त है। अतः सच्ची तृप्ति भी उसको प्राप्त है। संसारके सभी प्राणियोंके हृदयमें अतृप्तिकी–तृष्णाकी आग लगी है। सब उसी अग्निको बुझानेके लिए दौड़ रहे हैं। किन्तु विषयोंका संग्रह करके अबतक विश्वमें किसीको तृप्ति नहीं मिली, हिरण्यकशिपु तथा रावण-जैसे त्रिभुवनजयी लोगोंको भी नहीं !

सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।

'पदार्थोंकी आसक्तिसे सम्पूर्ण दोष उत्पन्न होते हैं।'

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
(श्रीमद्भाग० ९.१९.१३-१४)

'पृथिवीमें जितना अन्न, स्वर्ण और स्त्रियाँ हैं वे सब मिलकर भी कामनासे आक्रान्त पुरुषके मनको सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं, क्योंकि विषयोंके उपभोगसे कामना शान्त नहीं होती, वह तो विषयोपभोगसे वैसे ही बढ़ती जाती है जैसे घृतकी आहुति देनेसे अग्नि बढ़ता है।'

सुना है, एक राजाको भोजनका रस लेनेका व्यसन था। वह भोजन करके वमन कर देता था और इस प्रकार पेट खाली करके फिर भोजन करता था। ऐसे क्या कभी स्वादवृत्ति तृप्त हो सकती है? जिसके समीप सौ है वह सहस्र चाहता है, सहस्रवाला लाख। संग्रहसे किसीकी तृप्ति कभी हुई है! तृप्तिके स्वरूप तो भगवान् हैं। उन्हें छोड़कर कहीं तृप्ति नहीं है।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥
(श्रीमद्भाग० ११.२.४२-४३)

'जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ तृप्ति मिलती है, शरीर पुष्ट होता है और क्षुधा-निवृत्ति होती है वैसे ही शरणागतको भगवान्की भक्ति, भगवत्तत्त्वका अनुभव तथा विषयोंसे वैराग्य, ये तीनों बातें एक साथ ही प्राप्त होती हैं। राजन् परीक्षित! जो चित्तमें निरन्तर भगवान्के चरणकमलोंका चिन्तन करता है, उस भगवद्भक्तको भक्ति, वैराग्य तथा भगवत्तत्त्वका ज्ञान अपने आप हो जाता है और इसके पश्चात् वह परम शान्तिको प्राप्त करता है।'

भजन करनेसे भोगवासना घटेगी, भगवान्‌में प्रेम बढ़ेगा, और जब भगवान्‌में प्रेम होगा तब भगवान् कैसे हैं, यह ज्ञान भी होगा।

'तृप्तो भवति'—तृप्तिका स्वरूप क्या है, यह समझना आवश्यक है। धर्ममें तृप्ति है, इस आशासे कि हमने यह यज्ञादि किया है अतः स्वर्ग मिलेगा। योगमें तृप्ति है, वृत्तिका निरोध होना। समाधिमें तृप्तिरूप वृत्तिका भी निरोध हो जायगा। ज्ञानी ज्ञानामृतसे तृप्त होते हैं—

ज्ञानामृतस्य तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
न चास्ति किञ्चित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

'जो ज्ञानामृतसे तृप्त कृतकृत्य योगी है, उसके लिए कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं है। यदि कर्तव्य शेष है तो वह तत्त्ववेत्ता ही नहीं है।'

जीवन्मुक्तिके वर्णनमें अपार तृप्तिका वर्णन किया गया है। १. अज्ञान, २. भ्रान्ति, ३. आवरण, ४. परोक्ष ज्ञान, ५. अपरोक्ष ज्ञान, ६. दुःखनिवृत्ति, और ७. अपार हर्ष (निरंकुश तृप्ति) ये जो सात भूमिकाएँ कही गयी हैं, ये सातों आभासमें ही हैं। ज्ञान होनेपर जो कहते हैं—'धन्योऽहं', धन्योऽहं 'अहो अहं नमो मह्यम्' आदि, उसके सम्बन्धमें यदि विचार करें कि यह तृप्ति-धन्यताका भाव किसमें रहता है तो कहना होगा कि आभासमें ही रहता है। जबतक प्रारब्धानुसार शरीर है तबतक उस शरीरमें जो बाधित अन्तःकरण है, उसीमें तृप्ति रहती है।

यहाँ देखना यह है कि भक्तकी तृप्ति क्या है? विषयभोगसे जैसी तृप्ति होती है वैसी तृप्ति तो यह है नहीं; क्योंकि विषयभोगसे होनेवाली तृप्ति क्षणिक होती हैं। धर्म करके भविष्यमें मिलनेवाले सुखकी आशाके समान भी यह तृप्ति नहीं है, क्योंकि

योगकी तृप्ति वृत्तिनिरोध है और ज्ञानमें तृप्तिका भी बाध हो जाता है। तब ? भक्तमें जो प्यास है, उस प्यासका ही नाम तृप्ति है।

जनम अवधि हम रूप निहारेनु नयन न तिरपित भेला।

(माहाकवि विद्यापति)

'दीर्घ कालसे हम प्रियतमकी रूपामाधुरीका पान करते रहे; किन्तु हमारे प्यासे नेत्र तृप्त नहीं हुए।'

प्यारी जूको रूप मानो प्यास ही को रूप है।

श्री राधाका–भक्तिका रूप क्या है ? वह तो प्यासका ही रूप है। यह प्यास ही भक्तकी तृप्ति है। इसमें 'इति' कभी कहीं है ही नहीं। न इसके आदिका किसीको पता है न अन्तका, क्योंकि प्रेमका आदि भी परमेश्वर और अन्त भी परमेश्वर। तब मध्यमें जिसे तुम प्रेम कहते हो वह भी परमेश्वर ही है।

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यत्।

सब अवस्थाओंमें–जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें; खाते-पीते, बैठते-चलते, हँसते-बोलते सब दशामें एक समान। हँसते-बोलते हैं तो उसके साथ, चलते-बैठते हैं तो उसके साथ, खाते-पीते हैं तो उसके साथ, सोते-जागते हैं तो उसके साथ, स्वप्न देखते हैं तो उसका। डूबते उसके साथ और उतराते उसके साथ। उसके अतिरिक्त जीवनमें–मनमें कोई वस्तु रही ही नहीं। यह अतृप्तिमें तृप्ति है। यहाँ भोगमें भी वैराग्य है। प्रेम भोगका प्रेमी नहीं है। यहाँ तो शृङ्गारमें भी शान्त, और शान्तमें भी शृङ्गार-रस है। प्रेमका स्वरूप ही अलौकिक है। लोककी लीकपर प्रेम नहीं चलता।

भक्तको कोमलता सिद्धि है। उसका अमृतत्व है उसकी मधुरता और उसकी प्यास है तृप्ति। वह भगवान्‌के विरहमें जितना सुख-जितना आनन्द प्राप्त कर लेता है, विषयी पुरुषको विश्वके सारे विषय-भोग प्राप्त हो जायँ तो भी वह आनन्द, वह तृप्ति नहीं मिलेगी। •

भक्तिको प्राप्त हुए भक्तका लक्षण

• संगति

फलके द्वारा जब भक्तिका निरूपण आवश्यक हुआ तब यह बतलाना भी आवश्यक है कि भगवान् किस भक्तिको भक्ति मानते हैं। स्वामी अपने सेवककी किस सेवाको सेवा मानता है, यह जानना ही चाहिए क्योंकि यदि सेवासे स्वामी प्रसन्न न हो तो सेवा अपूर्ण है। भगवान्ने गीतामें बताया है--

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
(गी० १२.१७)

'जिसे न हर्ष होता, जो न द्वेष करता, न शोक करता, न इच्छा करता तथा शुभ और अशुभ दोनोंका जिसने भली प्रकार त्याग कर दिया है ऐसा भक्तिमान् प्राणी मुझे प्रिय है।'

गीताकी यही बात यहाँ सूत्रद्वारा कही गयी है।

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति॥ ५॥

'जिस (प्रेम अथवा भक्ति) को प्राप्त करके (पुरुष) अन्य कुछ नहीं चाहता, न (किसीके लिए) शोक करता, न (किसीसे) द्वेष

करता, न (किसी वस्तु या व्यक्तिमें) आसक्त होता और न (किसी लौकिक कार्यमें) उत्साहवान् होता है ॥ ५ ॥

यत् प्रेम प्राप्य अथवा भक्ति प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति—भगवान्ने गीतामें कहा था—**न काङ्क्षति**—भगवत्प्रेम या भक्ति प्राप्त हो जानेपर फिर अन्य कोई कामना नहीं रह जाती।

यो मद्भक्तः स मे प्रियः—गीतामें भगवान्ने जो यह बात कही उसमें भक्ति तो भक्त करता है और **मे प्रियः**—उससे प्रेम भगवान् करते हैं।

'यो न हृष्यति' यह बात सूत्रमें 'न रमते' के द्वारा कही गयी है।

हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममतिक्रामति।

'संसारके विषयोंको प्राप्त करके जो हर्षित होता है उसे विषय-भोग प्राप्त होनेपर अभिमान हो जाता है और अभिमान होनेपर उससे अवश्य ही धर्मका उल्लंघन होने लगता है।' यहाँतक कि जिसे भगवत्सेवा या सन्त-सेवा प्राप्त करके हर्ष हुआ उसे भी सेवा-प्राप्तिका अभिमान हो जाता है और तब वह सेवाका अधिकारी नहीं रह जाता। जो अपने सुखमें लगा, सेवाका आनन्द जो स्वयं लेने लगा, वह सेवाके योग्य नहीं रह गया। उससे सेवा छिन जायगी।

एक बार अयोध्यामें सन्तोंकी सभा हुई। बहुत-से सन्त-महात्मा एकत्र बैठकर भगवच्चर्चा कर रहे थे। एक सज्जनने हाथमें बड़ा पंखा लिया और सन्तोंको झलने लगे। पंखा करते-करते मनमें आया—'आज मेरे कैसे सौभाग्यका उदय हुआ है कि इतने सन्तोंका दर्शन, सत्सङ्ग तथा उन्हें पंखा झलनेका सुअवसर मुझे मिला है!'

इस भावनासे वे विभोर हो उठे। नेत्रोंमें अश्रु आये, रोमाञ्च हुआ और वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। पंखा हाथसे पहले ही छूट गिरा। कुछ सन्तोंने उन्हें सम्हाला, मुखपर जलके छींटे दिये। वे चैतन्य हुए किन्तु जब फिर वे पंखा उठाने लगे तो सन्तोंने उन्हें रोक दिया—'तुम रहने दो। यह कार्य तुम नहीं कर सकते।'

इसी प्रकार द्वापरमें द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णका सारथी दारुक एक दिन अपने स्वामीको पंखा कर रहा था। उसके मनमें भी आया—'कितना सौभाग्य है मेरा कि मुझे त्रिभुवनके स्वामीकी सेवा मिली है। देवता, मुनीन्द्र भी जिनके श्रीचरणोंमें कदाचित् ही प्रणाम कर पाते हैं, मैं उनके पादपद्मोंके समीप रहता हूँ। उनकी सेवा मिली मुझे!'

ये विचार मनमें आते ही दारुकके नेत्रोंमें भी अश्रु आ गये, शरीरमें रोमाञ्च हो गया, किन्तु दारुक तत्काल सावधान हो गया। उसने मनको झिड़क दिया—'मैं स्वामीको सुख देनेके लिए सेवा करता हूँ, स्वामीकी सेवाका आनन्द स्वयं लेनेके लिए नहीं। सेवाका आनन्द स्वयं लेना तो मेरे लिए सर्वथा अनुचित है।'

'यत्प्राप्य–यल्लब्ध्वा'—जिस भक्तिको प्राप्त करके।' भक्तिकी प्राप्ति तीन प्रकारसे कही गयी है—१. उत्तराधिकारमें मिल गयी, जैसे प्रह्लादके वंशधर धर्मात्मा तथा भक्त हुए। २. किसी सन्त, महापुरुष या गुरुदेवने कृपा करके प्रदान कर दी। किसी भक्तकी दृष्टि पड़ गयी। भगवत्कृपासे, भगवत्प्रेरणासे और भगवद्भक्तोंकी कृपासे जीवनमें भक्तिका सञ्चार हो गया। ३. साधन-भजन करते-करते चित्त शुद्ध होनेपर उसमें भक्तिका उदय हो गया। इनमें-से किसी भी प्रकारसे भक्ति प्राप्त हुई। अब भक्ति मिली तो क्या हुआ? भक्त तो प्रेमपूर्वक सेवा करता है और भगवान् उसे प्यार करते हैं।

'यो न हृष्यति न द्वेष्टि' आदिमें भक्तिके लक्षण भगवान्के द्वारा कहे गये हैं। इन लक्षणोंको भगवान्को स्वीकृति प्राप्त है। भगवान्ने आश्वासन दे रखा है कि ऐसा भक्त मुझे प्रिय होता है।

'न किञ्चिद् वाञ्छति'—हम एक बार एक व्यक्तिके घर उसे अपना स्नेही मानकर जायँ। वह हमारी ओर तो ध्यान ही न दे और द्वारसे लगा प्रतीक्षा करे—'मेहमान आनेवाले हैं, कब आवेंगे ?' यह बात क्या हमें अच्छी लगेगी ?

'यत्प्राप्य'—हृदयमें भगवान् प्रकट हुए, उनकी सेवा प्राप्त हुई, उनका सान्निध्य मिला। अब भक्त उनका दर्शन करे, उनकी सेवा करे या अन्य किसी अप्राप्तकी प्राप्त करनेकी इच्छा करे ? भक्तके हृदयमें अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेकी चाह नहीं होती। चाहका दुर्गुण यह है कि वह अपने घरमें नहीं रहने देती, अपने मनको दूसरेके घरमें बैठा देती है। ईश्वरसे प्रेम हो चाहे अन्यसे, यह तो प्रेम है ही नहीं। ऐसा प्रेम तो संसारी करते हैं कि आज एकको चाहते हैं, कल दूसरेको और परसों तीसरेको। यह तो केवल देहसे, हड्डी-मांसकी ठठरीसे प्रेम है। भगवतीका भक्त कहता है—

न मोक्षस्याकाङ्क्षा भवविभववाञ्छाऽपि च न मे।

'मुझे न मोक्ष चाहिए, न संसारका वैभव।' वस्तु और व्यक्ति दोनों नहीं चाहिए; क्योंकि चाह उत्पन्न होते ही भक्ति मलिन हो जाती है ! श्रीयामुनाचार्यजी (श्रीरामानुजाचार्यजीके गुरु) आलवन्दारस्तोत्रमें कहते हैं—

तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
स्थितोऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं हि वीक्षते॥
(आलवन्दारस्तोत्र ३०)

'प्रभो ! अमृत-क्षरण करनेवाले आपके चरणकमलोंमें जिसका चित्त लग गया है, वह अन्य किसीकी भी प्राप्तिकी इच्छा कैसे कर

सकता है ! मकरन्दसे परिपूर्ण कमलपर बैठा हुआ भ्रमर गन्नेके रसकी ओर कभी देखता भी नहीं।'

'न शोचति'—हम किसीको अपना प्रेमी समझकर उसके घर गये और वह रोने लगा—'कल एक मित्र आये थे। उनके आनेपर बड़ा आनन्द था। आज वे चले गये !' उसे हमारे आनेका तो कोई सुख है ही नहीं। घरमें ईश्वर हैं और तुम रो रहे हो दूसरेके लिए ! यह बात भक्तिमें सम्भव नहीं है। भक्त किसी अन्यके लिए नहीं रोता। उसने तो सम्पूर्ण विश्व भगवान्‌पर न्यौछावर करके फेंक दिया है। रुदन तो उसी दिन सदाके लिए चला गया जिस दिन वह भगवान्‌का हो गया अथवा उसे भक्ति मिली।

संसारकी किसी भी वस्तु, व्यक्ति या स्थितिके लिए शोक करना घर आये भगवान्‌का तिरस्कार है। शोक मनुष्यके मनको ईश्वरसे हटाकर भूतमें ले जाता है। व्यतीतके लिए ही शोक होता है। शोक मनको वर्तमानमें नहीं रहने देता। अतः भूत छोड़ो और भगवान्‌में लगो।

कांक्षा व्यक्तिके चित्तको अन्यत्र ले जाती है। मित्र तो मिलने आये और तुम चले गये निमन्त्रण खाने—

आये सजना, फिरि गये अँगना, मैं बौरी रही सोय री।

'प्रियतम आये और लौट गये, मैं तो तमोगुणके घर--निद्रामें थी।' इस प्रकार कांक्षा चित्तको अन्यत्र ले जाती है और शोक भूत-कालमें ले जाता है। जिसके चित्तमें भक्ति आयी, उसके चित्तमें तो भगवान् आ गये। वह भगवान्‌को छोड़कर न अन्यत्र जाता, न भूतसे मिलता। वह न कुछ चाहता, न किसीके लिए शोक करता।

'न द्वेष्टि'—एकके घर उसके गुरुदेव आये। उस समय पति-पत्नी परस्पर झगड़ रहे थे। पत्नीने कहा—'गुरुदेवका तो कुछ संकोच करो !'

क्रोधके आवेशमें पति बोला—'ऐसे गुरु बहुत देखे हैं !'

क्रोध व्यक्तिको भगवान्के समीप नहीं रहने देता। वह मनको शत्रुके समीप ले जाता है। वहाँ भला क्या मिलेगा? जलन, पीड़ा तथा नरक। यदि कहो कि 'हम तो पापीसे द्वेष करते हैं।' तो द्वेष रहेगा कहाँ? तुम्हारे हृदयमें ही तो। जहाँ द्वेष रहेगा वहाँ जलन उत्पन्न करेगा और द्वेष्यका चिन्तन करावेगा। तुमको भगवान्का चिन्तन करना है या पापीका?

भजन करनेसे मनमें शान्ति आयी। रक्त शीतल हुआ। क्रोधसे वह रस जलकर भस्म हो गया। क्रोध भजनके पुण्यको तो नष्ट नहीं कर सकता किन्तु भजनके रसको भस्म कर देता है।

द्वेष अग्नि है। अग्नि जिस लकड़ीमें लगेगी वह लकड़ी तो जलेगी ही। जब तुम किसीका बुरा चाहते हो तब उसका बुरा तो होगा या नहीं, पता नहीं; किन्तु तुम्हारा बुरा तत्काल होता है। तुम्हारा चित्त तो बुराईसे दूषित हुआ ही।

प्रह्लादको मारनेके लिए शुक्राचार्यके पुत्र षण्ड तथा अमर्कने कृत्या उत्पन्न की। कृत्या जब प्रह्लादका स्पर्श करनेमें समर्थ न हुई तो उसने अपने उत्पन्न करनेवालोंको ही मार डाला। इससे प्रह्लादको दया आगयी, वे बोले—'जिन्होंने मुझपर शस्त्रप्रहार किये, मुझे विष दिया, पर्वतसे गिराया, समुद्रमें डुबाया, अग्निमें डाला, उन सबके प्रति भी मेरे मनमें द्वेषका भाव न हो तो ये दोनों गुरुपुत्र जीवित हो जायँ!' दोनों जीवित हो गये।

श्रीएकनाथजी महाराज स्नान करके घर आ रहे थे। तभी एक व्यक्तिने उनके ऊपर कुल्ला कर दिया। एकनाथजी बिना कुछ कहे स्नान करके लौट गये। इससे वह दुष्ट पुरुष चिढ़ गया। एकनाथजी स्नान करके आये तो उसने फिर कुल्ला कर दिया। एकनाथजी फिर स्नान करने लौट गये। इस प्रकार उसने एक सौ

आठ बार एकनाथजीपर कुल्ले किये। अन्तमें वह उनके चरणोंपर गिरकर क्षमा माँगने लगा, फूट-फूटकर रोने लगा। एकनाथजीने उसे उठाया और बोले--'तुमने तो मुझे आज एक सौ आठ बार तुंगभद्रामें स्नानका पुण्य दिया है।'

एक भक्त सो रहे थे। मच्छरोंने काटा तो निद्रा टूट गयी। उठकर बैठ गये। बोले--'मच्छर बड़े कृपालु हैं। वे कहते हैं कि सोओ मत, भजन करो!'

इस प्रकार भक्त पीड़ा देनेवालोंसे भी द्वेष नहीं करता। वह उनके प्रति भी सदय ही रहता है। भगवान्‌को छोड़कर शत्रुका चिन्तन उसका मन कभी नहीं करता।

'न रमते'--एक बार हम लोग कहींसे आ रहे थे। मार्गमें एक स्थानपर रुके और एक परिचितके घर गये। उनको टेलीफोन-से पहले ही समाचार दे दिया था। उनके घर पर पहुँचे तो माताएँ स्वागत-सत्कारको प्रस्तुत थीं; किन्तु सेठ लोग जुआ खेलनेमें लगे थे। माताओंने सत्कार किया। किन्तु सेठ लोगोंको प्रणाम करनेका भी अवसर तब मिला जब हम लोग उनके घरसे चलने लगे।

बंचक भगत कहाइ रामके। किंकर कंचन कोह कामके॥

(रा० च० मा०)

यह बात भक्तमें नहीं होती। वह श्रीराधारमणमें ही रमता है, संसारमें कहीं नहीं रमता। जो अन्यत्र रम गया उसके चित्त-में भगवान्‌का प्रेम कहाँ है! पिङ्गलाने कहा--

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय।
अकामदं दुःखभयादिशोकमोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा॥

(श्रीमद्भाग० ११.८.३१)

'मैं कैसी मूर्खा हूँ कि अपने समीप ही विद्यमान अपने परमा-नन्दप्रदाता, निखिल ऐश्वर्यको देनेवाले इन अन्तर्यामीरूपी स्वामीको

छोड़कर, कोई भी कामना पूरी न करनेवाले; प्रत्युत दुःख, भय, शोक तथा मोह देनेवाले तुच्छ लोगोंका सेवन करती हूँ!'

भक्त इस तथ्यको जानता है। वह संसारके रागके चक्करमें नहीं पड़ता क्योंकि संसारके रागमें फँसनेपर भगवान्‌का अनुराग प्राप्त नहीं होता।

'नोत्साही भवति'--गीतामें भगवान्‌ने भक्तका लक्षण बतलाते हुए जो बात **'शुभाशुभपरित्यागी'** कहकर कही है, वही बात यहाँ 'नोत्साही भवति' से कही गयी है।

संसारमें पाप भी है, पुण्य भी है। जो अच्छे लोग हैं, उनमें किसीका उत्साह उत्तम--शुभ कर्म करनेमें होता है तो किसीका अशुभको दूर करनेमें--लोगोंको सुधारनेमें होता है।

उत्साह वीररसका स्थायी भाव है। जिसका जिस काममें उत्साह है, उस कामको करनेमें वह अपनी वीरता प्रकट करेगा। भक्त यदि संसारी कार्योंमें उत्साह दिखाने लगे तो उसका भगवत्प्रेम शिथिल हो जायगा। भक्तके मनमें उत्साह केवल भगवत्सेवामें होता है। अन्य किसी कार्यके प्रति उसके मनमें उत्साह नहीं होता।

भक्तिके सम्यग् ज्ञानका फल

• संगति

अब भक्तिका एक अपूर्व लक्षण कहते हैं—

यज्ज्ञात्वा[1] मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति ॥ ६ ॥

जिस (परमप्रेम अथवा भक्ति) को जानकर पुरुष मत्त (आनन्दविभोर) हो जाता है, स्तब्ध (शान्त) हो जाता है और आत्माराम हो जाता है ॥ ६ ॥

'यज्ज्ञात्वा' अथवा पाठभेदके अनुसार 'यज्ज्ञानात्' भक्ति करके नहीं, भक्तिका ज्ञान होनेसे, भक्तिको ठीक-ठीक समझ जानेसे ही पुरुष मत्त, स्तब्ध तथा आत्माराम हो जाता है।

भक्ति मनुष्यके हृदयमें स्वाभाविक रूपसे है, उसे कहींसे लाना नहीं है। प्रेम करना तो प्राणीका स्वभाव है। कोई देहभक्त है, कोई पत्नीभक्त या पुत्रभक्त, कोई धनका भक्त है तो कोई पद-प्रतिष्ठाका भक्त। जातिभक्त, देशभक्त अथवा किसी वादविशेषके भी भक्त लोग हैं। भक्तिके बिना कोई हृदय नहीं है। किन्तु मनुष्य अपने हृदयकी भक्ति कहीं-न-कहीं जोड़ देता है। यह ज्ञान यदि ठीक-ठीक हो जाय कि हृदयकी भक्ति संसारमें कहीं जोड़नेकी नहीं है, वह तो प्रभुसे ही जोड़नेके लिए है, तो प्रभु कहीं दूर नहीं हैं। वे तो तुम्हारे हृदयमें ही दोनों हाथ फैलाये, नेत्रोंके संकेतसे तुम्हें

१. 'यज्ज्ञानान्मत्तो भवति' यह पाठभेद प्राप्त होता है।

अपनी ओर बुलाते खड़े हैं। तुम्हीं उनकी ओर, उसके संकेतकी ओर नहीं देख रहे हो।

मुनि अगस्त कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना॥

(रा० च० मा०)

सुतीक्ष्णजीको जब पता लगा कि श्रीराम इधर आ रहे हैं तब उनकी अवस्था हो गयी 'मत्तो भवति'—

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहि सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुंक फिरि पीछे पुनि जाई। (रा० च० मा०)

इसके पश्चात् 'स्तब्धो भवति'—

मुनि मग माँहि अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनसफल जैसा॥

(रा० च० मा०)

यहाँतक कि मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम समीप आगये और उन्होंने पुकारा, हिलाया, जल छिड़का उनके ऊपर—

मुनिहिं राम बहु भाँति जगावा। काग न ध्यानजनित सुख पावा॥

(रा० च० मा०)

'मत्तो भवति' अवस्थाका वर्णन श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादजीके चरित में किया गया है—

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत् तन्मनस्तया।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम्॥
आसीनः पर्यटन्नश्नञ्छयानः प्रपिबन् ब्रुवन्।
नानुसन्धत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः॥
क्वचित् रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित्॥
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्वचित् तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह॥

(७.४०.३७-४०)

'बालक होनेपर भी भगवान्में ही मन लगा होनेके कारण प्रह्लादने खिलौने तो छोड़ ही दिये थे, जैसे श्रीकृष्णरूपी ग्रहसे उनका चित्त ग्रस्त हो। जगत्को वे इस रूपमें देखते-जानते ही नहीं थे। बैठते-घूमते, खाते-सोते, पीते-बोलते, कोई भी कार्य करते हुए उन्हें इन कार्योंका भान नहीं रहता था; क्योंकि उन्हें तो लगता था कि गोविन्दने उनको अंकमाल दे रखी है। कभी भगवान्के वियोगका अनुभव करके रोने लगते थे, कभी प्रभुके मिलनका अनुभव करके हँसते थे, कभी यश अथवा लीलाका गायन करते थे, कभी जोरसे पुकारते थे, कभी लज्जा छोड़कर नाचते थे और कभी भगवान्की भावनासे तन्मय होकर--अपनेको ही श्रीकृष्ण मानकर उन श्यामसुन्दरकी लीलाओंका अनुकरण करने लगते थे।'

इसके पश्चात् 'स्तब्धो भवति' की दशा आती है--

क्वचिदुत्पलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः।
अस्पन्दप्रणयानन्द - सलिलामीलितेक्षणः॥

(श्रीमद्भाग० ७.४.४१)

'कभी शरीरमें रोमाञ्च हो आया है और शान्त बैठे हैं। वाह्यस्पर्श, शब्द आदिका कोई अनुभव नहीं है। स्पन्दनहीन--स्थिरकाय, बंद नेत्रोंसे प्रेमानन्दके अश्रु झर रहे हैं।'

जैसे राष्ट्रभक्तको हिन्दू-मुमलमान-ईसाई आदिका पक्षपात छोड़ना पड़ता है उसी प्रकार जब सबमें रहनेवाले, सर्वव्यापक ईश्वरकी भक्ति आती है तब खण्ड-खण्डके प्रति पक्षपात–राग नहीं रह जाता, क्योंकि ईश्वर सबमें अखण्ड है। भौगोलिक दृष्टिसे ईश्वर सबसे महान् है। अतएव ईश्वर-भक्ति राष्ट्रभक्ति या मानवभक्तिसे भी बड़ी है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे कोई संस्कृति या सम्प्रदाय चौदह सौ वर्ष प्राचीन है, कोई दो हजार वर्ष प्राचीन तो कोई इनसे भी अधिक;

किन्तु ईश्वर कालातीत होनेसे ऐतिहासिक मर्यादासे परे है इसलिए ईश्वरकी भक्ति इतिहाससे ऊपर है। इसपर दृष्टि डालो कि ईश्वर-भक्तका हृदय कितना विशाल होगा! अतः आश्रय-विषयसहित ईश्वरका ज्ञान पुरुषको मत्त बना देता है। 'मत्त' का अर्थ यहाँ यह है कि उससे किसी विशेष व्यक्ति या समाजका स्वार्थ सिद्ध नहीं होता। वह है तो सबका है, सबके हितका कर्ता है, अन्यथा किसीका नहीं है। स्वार्थी लोगोंकी दृष्टिसे वह पागल है क्योंकि वह न परिवारके पक्षमें आया, न जातिके। न सम्प्रदायका पक्षपाती, न राष्ट्रका—किसीके पक्ष-विपक्षमें वह नहीं आता।

एक शारीरिक जीवन होता है और एक मानसिक जीवन। सुख-दुःख शारीरिक जीवनमें नहीं, मानसिक जीवनमें है; क्योंकि सुख या दुःखकी स्फुरणा मनमें होती है। सुख-दुःख चेतनमें होते हैं, जड़में नहीं। इसे समझ लो तो सुख-दुःखमें स्वतन्त्र हो जाओगे।

हम लोग एक बार गंगा किनारे श्रीहरिबाबाके बाँधपर थे। वहाँ वेदान्त-सत्संगमें यह चर्चा आयी—'भगवान्‌की जो मूर्ति हृदयमें आती है, वह अपनी कल्पनासे आती है।' एक भक्त इस चर्चाको सुन रहे थे। पीछे वे मुझसे बोले—'स्वामीजी! आज सत्संगमें बहुत आनन्द आया। मैं तो समझता था कि चित्तमें आना-न-आना भगवान्‌की इच्छापर निर्भर है किन्तु आज पता लगा कि इस विषयमें हम स्वतन्त्र हैं। मैं ध्यान करने बैठता था तो समझता था कि भगवान् महान् हैं, बहुत दूर हैं, मेरे चित्तमें वे पता नहीं आवेंगे या नहीं; किन्तु अब तो अपनी स्वतन्त्रता है। हम जब चाहें तब चित्तमें भगवान्‌को बना सकते हैं। हम भगवान्‌के पिता बन सकते हैं।'

अपने मानसिक जीवनको सन्तुलित करो, मनको अपने वशमें करो, फिर ईश्वर तुम्हारी मुट्ठीमें हो जायगा क्योंकि 'भक्तिवशः पुमान्'—वह परमपुरुष भक्तिके वश रहता है।

दैहिक जीवनके लिए जो भोजन, जल, वस्त्रादि आवश्यक हैं उनका उपयोग तो करो; किन्तु मानसिक जीवन ऐसा बना लो कि जब इच्छा हो तब मनको भगवान्‌से जोड़ सको। भगवान्‌की जो मनोमय मूर्ति हृदयमें होती है, वही पुरुषको परमानन्द देती है--

सखी री, मनके स्याम भले।

'मनमें जो श्यामसुन्दर रहते हैं वही भले हैं'। वे न तो रूठते न कहीं हमें छोड़कर जाते हैं।

जब कभी श्रीकृष्णचन्द्र श्रीराधाके समीप नहीं जाते और वे श्रीकीर्तिकुमारी दुःखी होतीं तो सखियाँ कहतीं--'हम मयूरमुकुटीको बुला लाती हैं।

तब श्रीवृषभानुनन्दिनी कहतीं--'जो हृदयमें रहनेवालेसे प्रेम करता है वही सुखी रहता है।'

जो बिछुड़े हैं पियारेसे, भटकते दर बदर फिरते।
हमारा यार है हममें, हमनको बेकरारी क्या॥
'कबीरा' इश्कका माता, दुईको दूर कर दिलसे।
जो चलना राह नाजुक है हमन सिर, बोझ भारी क्या॥

ईश्वर हमसे दूर है, यह कल्पना त्याग दो। ईश्वर तो सबसे समीप-अपने भीतर ही है,किन्तु उसके प्रति प्रेम जागना चाहिए।

नयनं गलदश्रुधारया वचनं गद्‌गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः यदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

(शिक्षाष्टक)

ऐसी उत्कण्ठा हो--'हे प्रभु! कब हमारी ऐसी प्रेमविभोर अवस्था होगी कि आपका नामोच्चारण करते नेत्रोंसे अश्रुधारा चलेगी, गद्‌गदकंठ होनेसे वाणी अवरुद्ध हो जायगी और सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चपूर्ण हो उठेगा!'

अमून्यधन्यानि दिनान्तराणि प्रभो तवालोकनमन्तरेण।
अनाथबन्धो करुणैकसिन्धो हा हन्त हा हन्त कथं नयामि ॥

'हे प्रभो! हे अनाथनाथ! करुणासागर! आपका दर्शन न होनेसे ये जो दुर्भाग्यपूर्ण दिवस हैं, इन्हें हाय! हाय! कैसे व्यतीत करूँ!'

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत्सर्वं श्रीकृष्णविरहेण मे ॥
(शिक्षाष्टक)

'श्रीकृष्णचन्द्रके वियोगमें मेरे लिए एक-एक पल युगके समान बीत रहा है। नेत्र वर्षाके मेघ बन गये हैं और सम्पूर्ण संसार सूना-सा हो गया है।'

इस प्रकार भक्तके चित्तमें भगवद्वियोगकी अनुभूति जागती है और वह रुदन-क्रन्दन करता है।

'क्वचिद् हसति'—कभी उसे हँसी आती है। वह अपने ध्यानमें देखता है कि पार्थसारथिने प्रतिज्ञा कर रखी है कि 'हम महाभारतके युद्धमें शस्त्र नहीं उठावेंगे', इधर गंगानन्दन पितामह भीष्म प्रतिज्ञा करते हैं—

आजु जौं हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननी को संतनुसुत न कहाऊँ ॥

होता क्या है? भक्तवत्सल हार जाते हैं, चक्र लेकर दौड़ पड़ते हैं। ध्यानमें यह देखकर भक्त हँसता है।

भक्त ध्यानमें देखता है कि 'नन्दकुमार एक गोपके घरमें माखनचोरी करने घुस गये। उस घरकी वधूको तो पता लग गया; किन्तु उसकी बुढ़िया सासको इसका कुछ पता नहीं है। श्यामसुन्दर अवसर देखते हुए अँधेरे कोनेमें छिपे खड़े हैं। इतनेमें

बुढ़ियाने जो घीमें लाल मिर्चकी छौंक लगायी तो कृष्णको आ गयी खाँसी ! बुढ़िया डंडा लेकर दौड़ी--'मेरे घरमें कौन चोर घुस आया है ?' गोपाल भागे जा रहे हैं। दिगम्बर वेश, कटिमें किंकिणी, कण्ठमें मुक्तामाल, चरणोंमें नूपुर, मुट्ठी बाँधे भाग रहे हैं।' यह छटा देखकर भक्त हँस पड़ता है।

भक्तशिरोमणि प्रह्लादने भक्तकी दशाका वर्णन किया--

यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम्।
मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः॥
तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धनस्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्॥

(श्रीमद्भाग० ७.७.३५-३६)

'जब पुरुष उन्मत्त-भूतादि ग्रहग्रस्तके समान कभी हँसता है, कभी-फूट-फूटकर रोता है, कभी ध्यान करता है और कभी सामने आनेवाले प्रत्येककी वन्दना करता है, बार-बार लम्बी साँस लेकर 'हरे ! जगत्पते ! नारायण !' पुकार उठता है, बुद्धि भगवान्‌में लगी होनेसे लोकलज्जा छूट जाती है, तब वह सम्पूर्ण बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। निरन्तर भगवद्भाव रहनेसे उसका चित्त भगवदाकार बन जाता है, अन्तःकरणमें स्थित कर्मके बीज जल जाते हैं। इस महान् भक्तिको अपनानेसे वह अन्तर्यामी भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है।'

जिसे समझदार बने रहना है, जिसे सुखसे ही राग है, उसे इस प्रेमके मार्गपर पैर नहीं रखना चाहिए--

जो सीस तलीपर रख न सके वह प्रेम गलीमें आवेइ क्यों ?

प्रेम-दीवानी मीराबाई कहती हैं--

जौ मैं ऐसा जानती प्रीति किये दुख होइ।
नगर ढिंढोरा पीटती प्रीति करै जनि कोइ॥

प्रेममार्ग सुख चाहनेवालेके लिए नहीं है। जो दुःखको सुखसे अधिक प्यार कर सके वही प्रेमका अधिकारी है।

गोपियाँ कहती थीं--'यदि हमारे दुःखसे प्रियतमको सुख होता हो तो हम जन्म-जन्म दुःखी रहेंगी।'

अपनेको सुख मिले, इसलिए प्रेम नहीं होता। गोपियोंको तो श्रीकृष्णको सुख देते भी शंका होती थी कि कहीं इन्हें कष्ट न पहुँचे। वे कहती हैं--

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।

'प्यारे! तुम्हारे चरणपंकज अत्यन्त सुकुमार हैं और हमारे वक्ष अत्यन्त कर्कश हैं। तुम्हें हमारे वक्षपर चरण रखनेसे सुख मिलता है यह हम जानती हैं। इसलिए तुम्हारे चरणोंको अपने वक्षपर रखती हैं; किन्तु डरते-डरते बहुत धीरेसे रखती हैं कि कहीं हमारे कठोर वक्षके स्पर्शसे कोमल चरणोंको पीड़ा न हो।'

'मत्तो भवति'--लोग तो डरते रहते हैं कि कोई श्रद्धा कराके हमें ठग न ले जाय; किन्तु भक्ति ऐसे नहीं होती। जो सर्वस्व ठगानेको प्रस्तुत नहीं, वह प्रेममार्गका अधिकारी ही नहीं। भक्ति तो प्रेमभावमें उन्मत्त करनेवाली है।

'यज्ज्ञात्वा'--जिसकी भक्ति की जाती है वह परमात्मा, जिसमें भक्ति होती है वह जीव, और परमात्मा तथा जीवको संयुक्त करनेवाली भक्ति, इन तीनोंको यदि ठीक-ठीक जान ले तो जाननेसे ही वह 'मत्तो भवति'....।

लोग अपनेको जानते नहीं कि हम कौन हैं? यह जो तुम्हारा नाम है वह तो जन्मके पश्चात् रखा गया है। जीव तो भगवान्का अंश, भगवान्का भाग, भगवान्का स्वरूप है। भगवान्को छोड़कर वह रह नहीं सकता। एक भक्तने कहा है--

त्वां विना निःस्वरूपोऽहं मां विना त्वं कथं स्थितः ।
इति कृत्वा महादेव योऽसि सोऽसि नमोऽस्तु ते ॥

'हे महादेव ! आपके बिना तो मैं स्वरूपरहित हूँ । आपके बिना मेरी सत्ता ही सम्भव नहीं । अग्नि न हो तो चिनगारी क्या, समुद्र न हो तो लहर कैसी, महाकाश न हो तो चिनगारी कहाँसे आवे, मिट्टी न हो तो धूलि कहाँ ! अतः आपके बिना तो मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं । पर मेरे बिना आप रहते कैसे हैं, रह कैसे पाते हैं ! अस्तु, आप जो कुछ भी हों, आपको मैं नमस्कार करता हूँ ।'

प्रेमास्पद प्रभु, प्रेमी जीव तथा प्रेम, इस त्रिपुटीका ज्ञान होते ही—'मत्तो भवति'.....। यहाँ 'ज्ञात्वा' का अर्थ है—इसे मनसे देखो । हमारा हृदयरूपी ह्रद प्रेमके जलसे परिपूर्ण है और उसमें श्यामाश्याम जलविहार कर रहे हैं । जो इस प्रकार मनसे देखते हैं उनकी अवस्था कैसी होती है ?

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥

'कभी वे भगवान्‌को चिन्तासे, उनके वियोगसे व्याकुल होकर रोते हैं; कभी प्रभुकी लीला देखकर हँसते हैं, आनन्दित होते हैं, अलौकिक ढंगसे बोलते हैं, नाच-नाच उठते हैं, गाते हैं और उस अजन्माको ढूँढ़ते हैं, उसकी लीलाओंका अनुकरण करते हैं तथा उसे प्राप्त करके आनन्दमग्न चुप—शान्त हो जाते हैं ।'

पुत्रके लिए, धनके लिए, सम्मानके लिए, स्त्रीके लिए—इस प्रकार संसारके लिए तो तुम बार-बार रोते हो; किन्तु क्या कभी भगवान्‌के वियोगका अनुभव करके भी रोते हो ! ईश्वरके लिए भी तुम्हारे नेत्रोंमें अश्रु आते हैं ! कभी तुम्हारा हृदय हाहाकार करता है !

ऐसेहि जनम समूह सिराने।

संसारके भोग प्राप्त करके, सम्मान प्राप्त करके तो तुम बहुत बार हँसते हो; किन्तु क्या कभी भगवान्‌के संयोगकी स्फूर्ति पाकर भी सुखी हुए हो ! केवल मान लेने तथा दूसरोंके 'भक्तजी' अथवा 'भक्तराज' कहनेसे कोई भक्त नहीं हो जाता। काशीमें एक आचार्य थे। उन्होंने संस्कृतमें बड़ी-बड़ी उपाधियाँ छपवा रखी थीं। लोगोंको वे ये उपाधियाँ देते थे। 'धर्मधुरीण' जैसी उपाधियाँ लेकर तो कोई धर्मात्मा हो नहीं जाता। ऐसे ही उपाधि मिलनेसे कोई भक्त भी धर्मात्मा हो नहीं जाता।

श्रीचैतन्य महाप्रभु तीर्थयात्रा करने वृन्दावन आये थे। उस समय वृन्दावन आजके समान नगर तो था नहीं, केवल वन था ! महाप्रभुके साथ एक पंडा हो गया मथुरासे। वह जब बतलाता--'यहाँ भगवान्‌ने माटी खायी', यहाँ चीरहरण किया, यह रासस्थली है' तब आनन्दविभोर महाप्रभु रजमें लोट-पोट होने लगते। पंडेने समझ लिया कि उसे आज पागल यजमानसे पाला पड़ा है। भक्तिका प्रादुर्भाव पुरुषको प्रेमोन्मत्त कर देता है।

'स्तब्धो भवति'--श्रुति कहती है--'वृक्ष इव दिवि तिष्ठति स्तब्धः।' जैसे कोई खम्भा हो, उसे मारो अथवा उसपर पुष्प चढ़ाओ। उसकी स्तुति करो या उसे गाली दो, उसके लिए सब एक-जैसा है।

स्तब्धता जड़ता संचारी भाव है। इन्द्रने जब व्रजको बहा देने के लिए रोषमें भरकर प्रलय-वृष्टि प्रारम्भ की तो व्रजजनोंकी व्याकुल पुकार सुनकर श्रीकृष्णने गोवर्धनको उठाकर बायें हाथकी कनिष्ठिकापर रख लिया। व्रजवासी पहले तो वर्षासे घबड़ाये किन्तु अब पश्चात्ताप करने लगे--'हाय ! हाय ! यह परम सुकुमार पर्वत उठाये खड़ा है। इससे तो हम जलमें डूब जाते, बह जाते, यह कहीं

श्रेष्ठ था ! सखा आग्रह करने लगे--'हम उठावेंगे ! तू नहीं मानता तो कम-से-कम पर्वतको दाहिने हाथपर ले ले ! हम तेरे वाम बाहुको तबतक दबा दें।' इस प्रकार सात दिन-रात बीत गये। भग्न-मनोरथ इन्द्रने वर्षा बन्द कर दी। श्रीकृष्णने सबको पर्वतके नीचेसे निकल जानेको कहा और जब सब लोग निकल गये तब पर्वत भूमिपर रख दिया। मैया यशोदाने चाहा कि अपने लालको दौड़कर हृदयसे लगा लें; किन्तु पैर उठते ही नहीं, हाथ भी नहीं उठते, सिर हिलता नहीं, बोला जाता नहीं। संकेतसे या बोलकर भी अपने गोपालको समीप बुलानेमें मैया असमर्थ हो गयी। यह जड़ता संचारी भाव है। मैयाकी अवस्था देखकर स्वयं श्यामसुन्दर दौड़कर मैयाके गलेसे लिपट गये।

भक्तोंकी ऐसी मान्यता है कि वृन्दावनके वृक्ष, लता, पाषाण आदि जड़ नहीं हैं; वे सब-के-सब भक्त हैं और स्तब्धीभावको प्राप्त हो रहे हैं।

मुझे दो बार इस स्तब्धीभाव का अनुभव हुआ है। जब मैं घरपर था तभीके ये दोनों बारके अनुभव हैं। एक बार मैं चारपाई-पर लेटा हुआ था। वेदान्तकी रीतिसे पृथ्वीको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें, वायुको आकाशमें, आकाशको अहंतत्त्वमें, अहंतत्त्वको महतत्त्वमें, महतत्त्वको प्रकृतिमें और प्रकृतिको ब्रह्ममें लीन करनेके क्रमका चिन्तन कर रहा था। अचानक एक महात्मा आ गये। वे मेरे परिचित थे और श्रद्धेय भी। उन्होंने 'नारायण !' कहा। मेरे नेत्र तो खुल गये; किन्तु इच्छा करनेपर भी न सिर हिलता था, न हाथ, न पैर। कोई अंग मैं हिला ही नहीं पाता था। कई क्षणोंतक यह अवस्था रही।

दूसरी बार मैं घरपर ही कमरेमें बैठा अत्यन्त व्याकुल होकर रो रहा था। सहसा एक मूर्ति सम्मुख प्रकट हुई। मैंने प्रणाम करना

चाहा तो सिर झुके ही नहीं। हाथ जोड़ना चाहा तो हाथ भी न उठे। नेत्रोंके पलकतक हिलानेमें असमर्थ हो गया। पलक गिरे ही नहीं। इसका नाम स्तब्धीभाव है।

'आत्मारामो भवति'—भक्त विषयाराम नहीं होता। विषयाराम पुरुष तो यह भी नहीं बता सकता कि उसके जीवनका आराम कहाँ है—धनमें, पुत्रमें, स्त्रीमें, भवनमें, दूकान-व्यापारमें, सम्मानमें या पदमें।

कुछ ऐसे लोग होते हैं जो विषयाराम भी नहीं, इन्द्रियाराम हैं। उनको विषयके रहने या नष्ट होनेका भी ध्यान नहीं रहता। उनकी इन्द्रियोंकी तृप्ति होनी चाहिए। ऐसे पुरुष पामर हैं। जो विवाह करके स्त्री-सेवन करता है वह विषयी है; किन्तु चाहे जहाँ, उचित-अनुचित, चाहे जिस रूपसे इन्द्रियतुष्टि करता है, वह पामर है।

भक्त न इन्द्रियाराम होता, न विषयाराम; वह तो आत्माराम होता है। यहाँ आत्माका अर्थ है हृदय। भक्तको आराम पानेके लिए न इन्द्रिय-तृप्ति चाहिए, न भोग-संग्रह। वह तो अपने हृदयमें ही बिना विषय एवं इन्द्रिय-व्यापारके सहज स्वाभाविक रूपसे तृप्त है।

भक्तके हृदयमें विराजमान श्यामसुन्दर, मुरलीमनोहरके चरण-कमलोंके नखचन्द्रसे अमृत झरता रहता है और भक्त उस अमृत-रसमें ही निमग्न रहता है। भक्त अपने 'स्व' को आत्मा नहीं कहता। वह तो भगवान्‌को ही आत्मा कहता है—

आततत्वात् प्रमातृत्वादात्मा हि परमो हरिः।

'व्यापक होनेसे और प्रमाता होनेसे निश्चय ही श्रीहरि परम आत्मा हैं।'

भागवतमें परीक्षितने शुकदेवजीसे पूछा—

ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत् ।
योऽभूतपूर्वस्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम् ॥
(१०.१४.४९)

'ब्रह्मन् ! दूसरेके पुत्र श्रीकृष्णमें व्रजवासियोंका ऐसा अभूतपूर्व प्रेम कैसे हो गया जैसा कि अपने बच्चोंमें भी नहीं था, यह बात आप मुझे बतलाइये ।'

परीक्षितके प्रश्नका उत्तर देते हुए शुकदेवजीने वहाँ बतलाया है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥
(१०.१४.५५)

'इन श्रीकृष्णको तुम सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मा समझो। ये तो यहाँ व्रजमें जगत्-कल्याणके लिए अपनी मायासे देहधारीके समान प्रतीत हो रहे हैं ।'

'आत्मारामः'का अर्थ है—सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा भगवान्में ही तृप्त होना ।

व्रजमें एक बार कुछ लोगोंने कहा—'हम श्रीकृष्णको ईश्वर नहीं मानते ।'

उनसे पूछा गया—'श्रीकृष्णको हुए तो पाँच सहस्र वर्ष हो गये । आज उनसे प्रेम क्यों करते हो ? श्रीकृष्ण नित्य हैं या नहीं ? वृन्दावन, ग्वालबाल, गोप-गोपियाँ, नन्द-यशोदा, गायें, वृक्ष-लता, कुञ्ज-निकुञ्ज आदि ये सब नित्य हैं या नहीं ?'

'हाँ, ये सब तो नित्य हैं । श्रीकृष्ण नित्य और उनके परिकर, धाम आदि सब नित्य ।'

'यही तो ईश्वरत्व है ।' इसीमें जिसकी तृप्ति है, वह आत्माराम है ।

भक्ति निरोधरूपा होनेसे कामनान्शूय है

• संगति

अब निरोधाधिकरण प्रारम्भ होता है। अबतक भक्तिके जो लक्षण बतलाये गये वे अनुरोधी लक्षण हैं। भक्तिमें क्या-क्या होता है, यह बतलाया गया। अब यह बतलाते हैं कि भक्तिमें क्या नहीं होता।

यह बतलाना इसलिए आवश्यक है कि प्रेम तथा काम निकट-निकट रहते हैं। इनकी पहचान संसारी पुरुषके लिए बहुत कठिन है। श्रीउड़िया बाबाजी महाराज कहते थे—'प्रेम और काममें बाल बराबर अन्तर है।'

श्याम और काम पिता-पुत्र हैं, अतः दोनों श्यामवर्ण हैं। दोनों अनुपम सुन्दर हैं। तब इनका व्यावर्त्तक लक्षण क्या है? किन लक्षणोंसे इनका पार्थक्य जाना जाय, यह जानना आवश्यक है। इसलिए काम तथा प्रेममें जो अन्तर है उसे इस निरोधाधिकरणमें निरूपित करते हैं। •

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥ ७ ॥

वह (भक्ति) कामनावाली नहीं है; क्योंकि वह निरोध-रूपा है ॥ ७ ॥

'सा'--वह भक्ति, 'कामयते इति कामयमाना'--कामना करनेवाली कामिनी नहीं है। 'निरोध' पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ अगले सूत्रमें स्पष्ट होगा।

महर्षि अंगिराके मध्यममीमांसा (दैवीमीमांसा) का सूत्र है--

'अकाम्या सा।'

प्रेमका मार्ग है प्रियतमको सुख पहुँचाना और कामका मार्ग है स्वयं सुखका उपपभोग करना। क्रिया दोंनोंमें एक ही जैसी होती है। जैसे घरमें संत आये---

आज म्हारे भाग जागे, संत आये पाहुणा।

क्रिया तो एक-सी ही होती है। संतको आसन दिया। रोटी बनाकर खिलायी। संत भखे थे। सब रोटी खा ली। कुछ बचा नहीं। इससे जो प्रेमी था उसे बड़ी प्रसन्नता हुई कि आज मेरा बड़ा सौभाग्य! क्षुधातुर सन्तकी सेवाका सुअवसर प्रभुने मुझे दिया। किन्तु दूसरे व्यक्तिने घर आये सन्तके निमित्त पड़ोसीके घरसे दही मँगाया, आम मँगाये और उनमें-से अपने लिए बचा लिया।

मैं एक सज्जनके घर भोजन करने गया। देखा कि उन्होंने अपने घरके लोगोंके लिए तो गेहूँके आटेकी रोटी बनवायी हैं और बाजरेकी रूखी रोटियाँ बनवाकर एक टोकरीमें रखवा दी हैं। घरपर जो साधु भिक्षा लेने आते हैं उन्हें वे बाजरेकी रूखी रोटियाँ देते हैं। मेरे पूछनेपर वे बोले—'हम तो गृहस्थ हैं। हमारे लिए भोगवृत्तिका बढ़ना हानिकारक नहीं है। पर साधुओंको चुपड़ी-गेहूँकी रोटी मिलेगी तो उनकी भोगवृत्ति बढ़ेगी। उनको संयम करना चाहिए। इसलिए उन्हें रूखी बाजरेकी रोटी भिक्षामें देते हैं।'

यह पद्धति उचित नहीं है। इस प्रकार दूसरेसे संयम नहीं कराया जाता। इसी प्रकार यह भी उचित नहीं है कि अपनी

जीभकी वासना तृप्त करनेके लिए 'साधु आये हैं' इस नामपर नाना प्रकारके पदार्थ बनाये और खा लिये।

'सा न कामयमाना'का अर्थ है--कोई भी कार्य करते समय यह देखना कि इससे प्रभुको सुख होगा या नहीं। आप कभी कोई कार्य करते हुए सोचते हैं—'पिताजी जीवित होते और हमें यह कार्य करते देखते तो उन्हें कैसा लगता!'

धर्मात्मा पिताके पुत्र जब शराब पीते हैं, उस समय यदि उनके मनमें आजाय—'पिताजी होते और जान लेते कि मैं शराब पीता हूँ…'तो क्या उनसे शराब पी जा सकेगी?

जब आप किसी गरीबको डाँटते हैं, गाली देते हैं, तब आपके मनमें कभी आया है कि 'दीनबन्धु भगवान् यहीं खड़े हैं और हमारे इस कर्मको देख रहे हैं!'

भक्तका यह स्वभाव है—वह प्रभुको सुख देकर सुखी होता है--तस्मिंस्तु तत्सुखसुखित्वम्।

जा भेसां म्हारा साईं रीझे सोई भेष धरौंगी।

हम ऐसा रूप, ऐसे गुण, ऐसी सज्जा लेकर प्रभुके सम्मुख जायँ कि उसे देखकर प्रभु प्रसन्न हों। एक दिन अर्जुनने श्रीकृष्णसे पूछा—'तुम यह रात-दिन गोपी-गोपी क्यों करते रहते हो? किसीके प्रेमकी चर्चा आयी और लगे गोपियोंकी प्रशंसा करने। गोपियोंमें ऐसी क्या विशेषता है? द्वारकाकी महषियोंमें क्या त्रुटि है?'

श्रीकृष्ण बोले--'पार्थ! गोपियोंकी बात मत पूछो--

निजाङ्कमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे किञ्चिन्निगूढप्रेमभाजनम्॥

'गोपियाँ तो अपने शरीरकी भी सेवा इसलिए करती हैं कि वह शरीर उनका नहीं, मेरा है। उन गोपियोंसे अधिक मेरे अत्यन्त गूढ़ प्रेमका पात्र दूसरा कोई नहीं है।'

गोपियाँ तो चलते-बैठते, खाते-पीते, घरका काम करते भी ध्यान रखती थीं कि वे सब काम कृष्णके लिए करती हैं। उनका स्नान-भोजन, शृङ्गरादि सब इसलिए था कि यह शरीर श्रीकृष्णका है। गोप-गोपियाँ सब चाहती थीं कि सब लोग कृष्णसे ही प्रेम करें। कोई ऐसा न बने जिसे देखकर श्रीकृष्णके प्रेममें किसीकी अरुचि हो। व्रजमें कोई कृष्णसे कुछ माँगता नहीं। वहाँ तो सब श्रीकृष्णको देते ही हैं।

जब भगवान् नृसिंहने हिरण्यकशिपुको मार डाला तब भगवान्-का क्रोध शान्त करने ब्रह्माजीने प्रह्लादको भेजा। प्रह्लादको देखते ही नृसिंह शान्त हो गये। प्रह्लादने स्तुति की तो भगवान् नृसिंहने उनसे वर माँगनेको कहा। प्रह्लाद बोले--

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव॥

(श्रीमद्भाग० ७ १०.६)

'प्रभो! मैं आपका निष्काम भक्त हूँ और आप मेरे अनन्याश्रय स्वामी हैं। राजा तथा सेवकके समान हममें और कोई स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है।'

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥

(श्रीमद्भाग० ७.१०.७)

'वरदान देनेवालोंके शिरोमणि! यदि आप मुझे वरदान देना ही चाहते हैं तो मैं आपसे यही माँगता हूँ कि मेरे चित्तमें कभी कोई कामना अंकुरित न हो।'

'न सा कामयमाना'--भक्ति कामिनी नहीं है। भक्ति श्रीकृष्णकी पत्नी है और काम श्रीकृष्णका पुत्र है। अतः भक्ति कामकी माता है, कामकी भोग्या नहीं। भक्तके हृदयमें कामके प्रति आकर्षण नहीं हो सकता। काम व्यक्तिगत सुखतक आकर अटक जाता है किन्तु भक्ति परिपूर्ण परमात्माके समीप पहुँच जाती है।

संसारका विषयसुख जीवात्माको होता है। विषय कोई एक तो चाहिए नहीं, सहस्रों चाहिए। यदि एक ही विषय सदा बना रहे तो मनुष्य उससे ऊब जायगा। आपको केवल रसगुल्ले ही खानेको दिये जायँ तो एक ही दिनमें ऊब जायँगे। विषय पुराने पड़ जाते हैं और इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण होती जाती है। मनमें विषयके प्रति सदा रुचि नहीं रहती, सदा भोक्तापनका भाव नहीं रहता। ये चार बातें विषयभोगमें हैं। कोई ऐसा विषय नहीं है जो सदा एकरस आनन्द दे। भोजन, वस्त्र, स्त्री आदि सब पुराने पड़कर आकर्षणहीन हो जाते हैं। इन्द्रियोंकी शक्ति रोगसे बुढ़ापेसे तथा उपभोगसे क्षीण हो जाती है। विषय स्थिर नहीं रहते। उनका उपभोग करते-करते इन्द्रियाँ थक जाती हैं। विषयके अधिक सेवनसे उसके प्रति अरुचि हो जाती है। मनुष्य सदा जिह्वादि इन्द्रियोंके विषयका भोक्ता ही नहीं बना रह सकता, वह थककर सोना भी चाहता है।

काम मनुष्यको विषयोंमें फँसाकर सुखीपनका भ्रम उत्पन्न करता है। किसीको गुड़ खानेकी कामना हुई तो गुड़ खाकर एक क्षणकी तृप्ति तो हुई; किन्तु दूसरे ही क्षण रसगुल्ला खानेकी कामना हो गयी और वह दुखी हो गया।

भक्तिमें कामना नहीं है। एक सेवक किसीकी प्रेमसे सेवा करता है तो वह यही चाहता है कि सेव्यको सुख प्राप्त हो।

भक्तिका अर्थ है प्रेम-सेवा, अतः भक्तिमें सुखकी दिशा ही बदल जाती है। सेवा करते हुए जो वेतन, पेन्शन अथवा ऊपरी आयपर दृष्टि रखता है वह तो सेवक है ही नहीं। सेवक तो वह है जो अपना सुख-स्वार्थ नहीं चाहता, केवल स्वामीको सुख पहुँचाना चाहता है।

तुम ठाकुरजीको गुलाबके पुष्प चढ़ाओगे, धूप दोगे, तो सुगन्ध तुम्हें भी मिलेगी ही; यदि तुम भगवान्‌को भोग लगानेके लिए रसोई करते हो तो प्रसाद तुम्हें प्राप्त होता ही है; किन्तु कार्यका उद्‌देश्य बदल जाता है। भक्त अपने सब कार्य भगवान्‌के लिए करता है। वह शौच-लघुशंका भी इसलिए जाता है कि शरीर स्वस्थ रहे और भजन हो सके। निद्रा भी इसलिए लेता है कि भजनमें आलस्य न आवे। इस प्रकार उसकी निद्रा भी भजन ही है। भक्तिमें उद्‌देश्यकी पवित्रता है। शबरी प्रति दिन अँधेरेमें उठकर दूरतक मार्ग बुहारती थी कि उसके यहाँ आज श्रीराम पधारेंगे। उसका यह झाड़ू लगाना भी भक्ति ही थी।

सबरी देखैले सगुनवाँ आज घर रामा अइहैं हो !

श्रीकृष्ण जब पाण्डवोंके सन्धि-दूत बनकर हस्तिनापुर आये तब दुर्योधनने उनके स्वागत-सत्कारका बड़ा भारी आयोजन किया। उसने नाना प्रकारके व्यञ्जन बनवाये। वह चाहता था कि श्रीकृष्ण अनुभव करें कि ऐसा भोजन उन्हें पहले नहीं मिला है; किन्तु श्रीकृष्णको पदार्थोंकी भूख तो लगती नहीं, वे तो प्रेमके भूखे रहते हैं। इसीलिए दुर्योधनका निमन्त्रण अस्वीकार कर दिया और विदुरके घर जाकर केलेके छिलके खाये।

कस्मै देवाय हविषा विधेम।

तुम यह जो सब संग्रह-परिग्रह करते हो, यह जो तुम्हारा परिश्रम है, यह जो उपार्जन है, वह किसके लिए है? इससे किस

देवताकी पूजा तुम्हें करनी है ? भक्त वह है, जिसका सर्वस्व एवं सब चेष्टाएँ अपने प्रभुको प्रसन्न करनेके लिए हो। विभीषण लंकासे श्रीरामके समीप जाते हुए मनमें संकल्प कर रहे हैं—

महाराज राम पहँ जाउँगो।

सुख स्वारथ परिहरि करिहउँ सोइ, जेहि साहिबहिं सुहाउँगो॥

जहाँ श्रम अपने लिए, आय अपने लिए, भोग अपने लिए है; वहाँ काम है, भक्ति नहीं है। भक्तिमें तो अपना सुख, अपना स्वार्थ सर्वथा त्याग देना होता है।

भक्ति कामिनी नहीं है—उसमें अपने सुख-स्वार्थकी कामना नहीं है ऐसा क्यों ? क्योंकि उसका स्वरूप ही है निरोध। निरोधका अर्थ है रोकना। चित्तवृत्तियोंको रोकना भक्तिका स्वरूप है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (योग०)

'चित्तवृत्तिका निरोध ही योग है।' किसीको कारागारमें बन्द कर दिया तो यह निरोध नहीं है। बहते जलको बाँध बनाकर रोक दिया, यह जलका निरोध हुआ। भक्ति मनको प्रवाहमें डालनेवाली नहीं है, उनमें मनका निरोध हो जाता है।

धर्म-कर्म, योग-ज्ञान व्यक्ति स्वयं कर सकता है। धर्म करो तो धर्मका फल स्वर्ग मिल जायगा। कर्म करो तो कर्मके अनुसार फल मिलेगा। योग करो तो उसका फल–समाधि सिद्ध होगी। धर्मका; कर्मका, योगका फल हिसाबसे–क्रियाके अनुसार मिलता है; किन्तु भक्ति कर्म-धर्म, योग-ज्ञान आदिसे विलक्षण है। भक्तिमें भगवान्‌की स्वीकृति आवश्यक है। सेवा करनी है तो सेवाकी स्वीकृति लेनी पड़ेगी। सेवामें निरोध होता है। सेवा प्रारम्भ की तो निश्चित हो गया--'इतने समय इस सेवामें लगे रहना है।' वहीं रुक गये। भगवान् भक्तके मनको इधर-उधर जानेसे रोकते हैं। भगवान्‌को अपने सेवकसे व्यवहार करना आता है। भक्त भक्ति करने लगता

है तब उसके जीवनमें भगवान् दो प्रकारसे प्रकट होकर उसे संसारमें जानेसे रोकते हैं। जैसे उत्तम स्वामी यह ध्यान रखता है कि उसका नौकर चोरी-जुआ आदिमें न पड़े; उसका स्वभाव बिगड़े नहीं।

भगवान् भक्तिको कामिनी नहीं होने देते; उसमें अन्य कामना न आवे, इसका ध्यान रखते हैं। भक्तके लिए भगवान् सर्वभावमें प्रकट होते हैं। भक्त जहाँ जाता है, जहाँ उसकी दृष्टि पड़ती है, उसे सर्वत्र सर्वरूपमें भगवान् ही दीख पड़ते हैं। वैसे जीवके साथ भगवान्के चौदह चर सदा साथ रहते हैं और जीवके शुभ-अशुभ कर्मोंको देखते रहते हैं--

सूर्योऽग्निः खं मरुद् गावः सोमः सन्ध्याहनी दिशः।
कं कुः कालो धर्म इति ह्येते दैह्यस्य साक्षिणः॥

(श्रीमद्भाग० ६.१.४२)

'सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, इन्द्रियाँ, चन्द्रमा, सन्ध्या, दिन, रात्रि, दिशाएँ, पृथ्वी, जल, काल और धर्म ये देहधारीके (कर्मोंके) साक्षी हैं।'

किन्तु भक्तको तो दीखता है कि सर्वरूपमें वह भगवान् स्वयं ही बैठा है। इस प्रकार भक्तके विक्षेपकालमें सर्वरूपमें प्रकट होकर भगवान् उसका निरोध करते हैं तथा समाहित दशा-भजनकालमें शान्ति रूपसे प्रकट होकर उसका निरोध करते हैं। हम शान्तिपाठ करते हैं--'द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः...' शान्तिमें भगवान्की वाणी, भगवान्के रूप, भगवान्के स्पर्शका अनुभव भक्तको होता है। वह रसवती, ज्योतिष्मती, शब्दवती, स्पर्शवती, गन्धवती रूपोंमें शान्तिका अनुभव करता है। 'शान्तिरेव शान्तिः' अर्थात् अखण्ड-एकरस शान्ति—इस अनुभवसे संसारकी ओर मनका जाना बन्द हो जाता है।

योगमें जो योगीके चित्तवृत्तिका निरोध है वह योगीका किया हुआ है। अतः विक्षेपकालमें वह टिकता नहीं, किन्तु भक्तिमें जो निरोध है, वह भगवान्‌का किया हुआ है। अतः वह विक्षेप तथा समाहित दोनों अवस्थाओंमें बना रहता है।

भगवान्‌का तीसरा आविर्भाव सर्वात्मरूपमें है। सर्वान्तर्यामि-भाव और सर्वात्मभावसे दो शाखाएँ होती हैं। एक तो, प्रत्यक्-चैतन्यके रूपमें परमात्माका अनुभव करके उससे अभिन्न हो जाता है, अभेदज्ञान देकर परमात्मा उसके जन्म-मरणको मिटाकर उसे अपनेमें लीन कर लेता है। दूसरे, सर्वात्मभावमें भक्तको सर्वत्र भगवद्दर्शन होता है। कोई अनुचित कार्य करनेकी इच्छा मनमें आयी भी तो लगता है--भगवान् सम्मुख खड़े हैं, डाँटते हैं; जैसे कोई स्वामी अपने सेवकको डाँटकर बुराईसे रोके।

वंचक भगत कहाइ रामके। किंकर कंचन कोह कामके॥

भगवान्‌के परमप्रेमास्पद तीन रूप और हैं निरोधके लिए-- १. सखा, २. पुत्र और ३. प्रियतम। जैसे कोई एकान्त देखकर कोई अनुचित कार्य करने जा रहा हो, तभी एक मित्र आकर कन्धेपर हाथ रख दे--'मित्र, कहाँ जा रहे हो? हमें भी तो साथ ले चलो!' इस प्रकार गोपाल कंधेपर हाथ रखकर रोक लेता है।

भगवान् पुत्ररूपसे-शिशुरूपसे भी निरोध करते हैं। एक पुरुषका अपनी पत्नीसे झगड़ा हो गया। पुरुषने कहा--'निकल जा घरसे!'

पत्नी बोली--'मेरा कोई दूसरा घर नहीं है। मेरा घर तो यही है। मैं क्यों घरसे निकल जाऊँ?'

पुरुष बोला--'तू नहीं जाती तो मैं ही यहाँसे चला जाता हूँ।'

वह घरसे जाने लगा तो उसका छोटा बालक आकर उसके पैरोंसे लिपट गया--'कहाँ जाते हो? अम्माके पास चलो!' पुरुषका क्रोध चला गया। वह हँसकर लौट आया।

मधुर भावके निरोधकी बात तो प्रकट ही है। एक ही मुस्कानसे चित्त अपनेमें लगा लेते हैं। भक्त जब काम-क्रोध-लोभ-मोहके चक्करमें पड़कर अपने स्वामीको छोड़कर अनुचित मार्गपर जाना चाहता है तब भगवान् उसे रोक लेते हैं, उसका निरोध करते हैं। किन्तु देवर्षि नारद यहाँ इस निरोधकी चर्चा नहीं कर रहे हैं जो भगवान्की ओरसे होता है। वे तो भक्तिको निरोधरूपा कह रहे हैं अर्थात् भक्त भक्तिके साथ अपने आप ही निरोधका पालन करता है। उसके लिए निरोध स्वाभाविक है।

निरोधकी परिभाषा (१)

• संगति

'निरोध' पारिभाषिक शब्द है। अतः उसकी परिभाषा करना आवश्यक है। अगला सूत्र निरोधकी व्याख्या करता है।

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः[1] ॥ ८ ॥

लौकिक तथा वैदिक (समस्त) कार्योंके समर्पणको निरोध कहते हैं ॥ ८ ॥

न्यासो नाम भगवति समर्पणम्—'न्यासका अर्थ है भगवान्‌को समर्पण।' यहाँ 'न्यास' का अर्थ त्याग नहीं है। लौकिक तथा वैदिक सभी कार्योंको भगवान्‌के प्रति अर्पित करनेका नाम निरोध है।

लोक और वेदके जितने काम हैं, उन्हें जब ऐसा माना जाता है कि 'ये त्रिगुणोंसे या प्रकृतिसे होते हैं, मैं तो असंग द्रष्टा हूँ, इन कार्योंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है' तब यह सांख्योक्त त्याग होता है।

कार्यको जबतक कारणमें न डाल दें तबतक कार्यका त्याग सम्भव नहीं है। अतः ज्ञानमें कार्यको उसके कारण प्रकृतिमें डाल देते हैं। भक्तिमें जगत्‌का मूल कारण परमाणुओंको, त्रिगुणोंको या प्रकृतिको नहीं, अपितु भगवान्‌को माना जाता है, अतएव भगवान्‌के प्रति समस्त कर्मोंका अर्पण ही न्यास है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

---

१. 'संन्यासः' यह पाठभेद मिलता है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।।
(गीता ९.२७.२८)

'अर्जुन ! तुम जो कुछ करते हो--जो खाते हो, जो यज्ञ या दान करते हो, जो तप करते हो, वह सब मुझे अर्पण कर दो। (गृहस्थ, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ या संन्यास किसी भी आश्रममें रहो किन्तु) जब इस ढंगसे रहोगे तब संन्यासयोगसे युक्तात्मा होकर शुभ तथा अशुभ कर्मके बन्धनसे छूट जाओगे।'

न्यास एवात्यरेचयत् । न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः ।

'न्यास सबसे बड़ा तप है।' न्यासका अर्थ है जिसकी वस्तु है उसे लौटा देना। वस्तुएँ तो भगवान्ने अपनी सेवाके काममें लानेके लिए हमें दी थीं, हमने मोहवश उन्हें अपनी मान लिया है।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।

इनका नाम न्यास है।

हम बड़े परिश्रमसे उपार्जन करके पाँच रुपये भगवान्को दे रहे है, यह क्या भगवान्पर अपना उपकार लाद रहे हैं ! अरे नहीं, यह धन, ये वस्तुएँ तो हमारी थीं ही नहीं। शरीरमें श्रम करनेकी जो शक्ति है, वह भी भगवान्की है। हमने भूलसे इन वस्तुओंको अपनी मान लिया था। अब इन्हें भगवान्को सौंपकर हम अपनेको चोरी और बेईमानी करनेके पापसे बचा रहे हैं, अपनी भूल दूर कर रहे हैं।

यत् कृतं यत् करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम् ।
त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव मधुसूदन ।।

'जो कुछ मैंने किया और जो आगे करूँगा वह वस्तुतः न मैंने किया, न करूँगा। वह तो तुम्हींने किया है, अतः हे मधुसूदन! उसका फल भी तुम्हीं प्राप्त करो।'

इसका नाम है न्यास। जो अन्न, जल, वस्त्र तुम पाते हो उसे भगवान्‌को अर्पण करके प्रसादके रूपमें ग्रहण करो। दुर्गापाठके लिए कहा गया है--

ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसीदति।

(कीलक ८)

'देवीको समर्पण करके जो प्रसादरूपमें ग्रहण करता है (उसी-पर देवी प्रसन्न होती हैं), अन्य किसी रूपमें ये भगवती प्रसन्न नहीं होतीं।' अतएव लोक-वेदका जो भी कर्म करो वह भगवान्‌के लिए करो। अपने लिए कोई काम करोगे तो वह सकाम होगा। कर्मका अभिमान और कर्मका फल, वस्तु एवं वस्तुका भोग, इन्हें अपनी ओर मत खींचो। इनको भगवान्‌की ओर कर दो।

श्रीचैतन्य महाप्रभु जब संन्यासी हो गये तब उनकी पत्नी विष्णुप्रियाजी भगवन्नाम महामन्त्रका जप करने लगीं--

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

इतना एक महामन्त्र बोलकर एक चावल पृथक् पात्रमें डाल देतीं। दिनभरमें इस प्रकार जितने चावल जपसे पात्रमें पड़ते उन्हें ही पकाकर नैवेद्य अर्पण करके प्रसाद ग्रहण करतीं। शरीर-पोषणके लिए भोजन नहीं, जपके लिए अक्षत और प्रसादसे क्षुधा-शान्ति।

भक्तिके लक्षण जिसमें मिलें वह भक्त। यहाँ जो ये सब भक्तिके लक्षण देवर्षि नारद बतला रहे हैं वे सिद्ध भक्तकी पहचान करानेके लिए तथा साधक उन्हें अपने आचरणमें लावें, जीवनमें उतारें—

इसके लिए हैं। जिस साधक भक्तमें ये लक्षण न हों उसे इन्हें अपनेमें लानेका प्रयत्न करना चाहिए।

भक्तके मनमें संसारकी किसी वस्तुके लिए प्यास-कामना नहीं होती, क्योंकि **अन्तो नास्ति पिपासायाः**--'भोगोंकी प्यासका तो कहीं अन्त ही नहीं है।' कामना कभी समाप्त नहीं हुआ करती। और--

जो सेवक साहिबहिं सँकोची। निज सुख चहै तासु मति पोची॥

'जो सेवक स्वामीको संकोचमें डालकर अपना सुख चाहता है वह तो दुर्बुद्धि है।' यह तो भगवान्‌की नहीं, अपनी भक्ति हुई। भक्तिमें स्वयं भगवान् प्रकट होकर भक्तके मनका निरोध करते हैं, उसे अपनी ओर खींचते हैं। अतः भक्तके मनमें कामना रह नहीं पाती।

जिसपर कृपा अभी हुई नहीं; किन्तु होनेवाली है, उसके मनको 'भय' का रूप दिखाकर भगवान् निरोध करते हैं। उसे निन्दाका भयका, धर्मका भय होता है। वह भयके कारण संयम-सदाचारका पालन करता है और इससे चित्त शुद्ध होनेपर प्रभुकी शरण ग्रहण करता है। भगवान् जिसे अपनाना चाहते हैं उसे संसारमें विफलता देते हैं--अपनी प्राप्तिमें सफलता देनेके लिए। ठीक वैसे ही जैसे कोई भागते पशुको कभी हरी घास दिखलाकर पुचकारे और कभी डंडा लेकर उसका पीछा करके उसे घेरकर अपने गोष्ठमें ले आना चाहे।

भगवान् तो इस प्रकार भक्तके मनका निरोध करते ही हैं, भक्तको भी अपनी ओरसे निरोधमें सहायता करनी चाहिए। भगवान् तुम्हें अपनी ओर खींचें तो तुम पृथ्वीमें पैर अड़ाकर रुको मत। वे गोवर्धन उठाते हैं तो तुम्हें भी डंडा तो लगाना ही चाहिए। अपनी ओरसे निरोधमें सहायक होना यह है कि लौकिक-वैदिक कर्मोंका भगवान्‌को समर्पण कर दिया जाय।

लोकमें पुत्र-स्त्री आदि जो परिवार है इसे अपना न मानकर भगवान्‌का मान लो। खेती है, व्यापार है, पद-प्रतिष्ठा है, इसे भगवान्‌की सेवाके लिए करो। वैदिक कर्म है गणेश-नवग्रहादिका पूजन। गोस्वामी तुसलीदासजीने विनयपत्रिकामें गणेशजीकी वन्दना की तो अन्तमें कहा—

माँगत तुलसीदास कर जोरे। बसहु रामसिय मानस मोरे।।

वन्दना तो गणेशजीकी की—'गाइये गनपति जगबन्दन' किन्तु प्रार्थनामें कह दिया—'हृदयमें हम आपको नहीं, श्रीसीतारामको बैठाना चाहते हैं।' यह वैदिक कर्मका समर्पण हुआ। यज्ञ, नव-ग्रहादि-पूजा तो जैसी विधि है वैसी ही करना; किन्तु उससे चाहना भगवान्‌को-भगवान्‌की भक्तिको।

लौकिक कर्म है नृत्य, संगीत आदि। भगवान्‌की मूर्तिके सम्मुख संगीत-नृत्य होने दो। यह भावना मनमें रखो कि भगवान् सुन रहे हैं। यह लौकिक कर्मका समर्पण हुआ। बेटीका विवाह करते हैं तो कन्यादानके समय संकल्प करते हैं—**इमां लक्ष्मीरूपिणीं कन्यां श्रीधररूपाय वराय तुभ्यमहं सम्प्रददे**—'यह मेरी कन्या लक्ष्मीस्वरूपा है। इसे मैं आप श्रीधररूप वरको दे रहा हूँ।' यह कन्यादान किसे किया गया? भगवान्‌को। कर्म करते हैं, वैदिक यज्ञ-अनुष्ठान करते हैं और अन्तमें संकल्प करते हैं—**अनेन विश्वात्मा भगवान् प्रीयताम्**—'मेरे इस कर्मसे विश्वात्मा भगवान् प्रसन्न हों!' इस रीतिसे अपने द्वारा जो कुछ हो वह सब भगवान्‌को अर्पण कर दो।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्।।

(श्रीमद्भाग॰ ११.२.३६)

'शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, चित्तसे अर्थात् क्रियाके रूपमें, बोलने-सोचने-विचारने आदिके रूपमें जान-

बूझकर या अभ्यासवश स्वतः जो कुछ भी होता है उस सबको परमपुरुष भगवान्‌को समर्पित कर दे।' ऐसा कर दिया तो अपनी कामना कहाँ रही !

तुम घरसे दूर जाते हो। कहीं विदेश या अन्य नगरमें जाकर जब लौटने लगते हो तो यह विचार करते हो कि बच्चोंके लिए भी कुछ ले चलना चाहिए। उस समय यह विचार भी होना चाहिए कि भगवान्‌की सेवामें आने योग्य कौन-सी वस्तु ले चलनी चाहिए।

'निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः'—इसमें व्यापारका अर्थ है चेष्टा। वैदिक और लौकिक कर्मोंके लिए होनेवाली चेष्टामात्र भगवान्‌को समर्पित कर देनी है।

निरोधकी परिपूर्णता इसमें है कि समस्त कार्य—शरीर, मन, वाणीकी समस्त चेष्टाएँ भगवान्‌के लिए हों। जैसे शरीरमें खुजला उठी। अब अंगको इसलिए मत खुजलाओ कि अपनी खुजली मिटानी है। इसलिए खुजलाओ कि तुम्हें ऐसा करते देखकर भगवान् मुस्कराते होंगे। इस मार्गमें बहुत सावधानी आवश्यक है। तुम निद्रा लेते हो—यदि इसलिए तुम रात्रिमें शीघ्र सो जाते हो कि ब्राह्ममुहूर्तमें शीघ्र उठकर भजन करेंगे तो तुम्हारी निद्रा भी भगवान्‌को समर्पित हो गयी।

एक सज्जन मरुभूमिमें ऊँटपर बैठकर यात्रा कर रहे थे। उनके पास एक पोटली थी। उन्हें ऊँटपर दया आयी कि इसपर मेरा और पोटलीका भी भार है, अतः पोटली उठाकर उन्होंने अपने सिरपर रख ली। इससे क्या ऊँटपर-से पोटलीका भार कम हुआ ! इसी प्रकार जिसपर पृथ्वीका भार है उसीपर तुम्हारा भी भार है। जो विश्वकी समस्त स्वर्ण-राशिका स्वामी है, वही लक्ष्मी-कान्त तुम्हारी तिजोरीमें धरे धनका भी स्वामी है। जिसपर सम्पूर्ण विश्वके पालनेका दायित्व है, उसीपर तुम्हारे पालनका भी

दायित्व है। 'हम यह करते हैं। हमारा यह दायित्व है। हम यह करेंगे।' यह झूठा अहंकार है।

मन पछितैहैं अवसर बीते।
दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु करम बचन अरु ही-ते॥
सहसबाहु दसबदन आदि नृप बचे न काल बली ते।
हम हम करि धनधाम सँवारे, अन्त चले उठि रीते॥

निरोधकी परिभाषा (२)

● संगति

निरोधका अर्थ है भगवान्‌का वन्दी हो जाना। उसकी पहनायी हथकड़ी-बेड़ीको विवाहके कंकणसे प्रिय मानना। यह कैसे हो, लौकिक और वैदिक समस्त कर्म—अपनी चेष्टामात्र भगवान्‌को कैसे समर्पित हो, इसके लिए अब भगवान् निरोधकी दूसरी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उसमें मनको कैसी अवस्था रखनी चाहिए, यह बतलाते हैं।

तस्मिन्[1]ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥ ९ ॥

और निरोध है उन (भगवान् अथवा भक्ति) में अनन्यता तथा उनके विरोधियोंके प्रति उदासीनता ॥ ९ ॥

सूत्रमें 'च' का अर्थ है 'भी'। यह पूर्वसूत्रोक्त निरोधका समुच्चायक है। भगवान्‌के प्रति अनन्यता होनी चाहिए। गीतामें अनेक स्थानों-पर अनन्यताकी बात भगवान्‌ने कही है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९.२२)

'नित्याभियुक्तानाम्'—सर्वदा जुड़े रहनेवाले—

हरिसे लागा रहु रे भाई। तेरी बनत बनत बनि जाई।

---

१. पाठभेद है—तस्मै।

'पर्युपासते'--सर्वत्र भगवान्को ही देखते हैं। अनन्याः—भगवान्के अतिरिक्त दूसरी वस्तु ही नहीं। सर्वदा, सर्वत्र, प्रत्येक वस्तुमें भगवान्को ही देखना, यह बात भगवान्ने कही है। 'पर्युपासते'से सर्वत्र–सब देशमें, 'नित्याभियुक्तानाम्'से सर्वदा–सर्वकालमें, और 'अनन्याः'से सर्ववस्तुमें भगवद्दर्शनकी बात बतायी गयी।

अब कहो कि 'सर्वदा सर्वत्र सर्व वस्तुमें हम भगवान्को ही देखें तो हमारी रोटी कैसे चले? कोई हमारा घर ही लूट ले जाय तो?' इसका उत्तर भगवान्ने दिया—'योगक्षेमं वहाम्यहम्।' तुम्हारे घरकी रक्षा--तुम्हारा वास सकुशल रहे इसका दायित्व–'क्षेम' तथा तुम्हारी रोटी चलनेका दायित्व--जो तुम्हारे पास नहीं है और आवश्यक है वह तुम्हें मिले–'योग', इसका भार मैं ढोता हूं।

एक पण्डितजी श्रीहनुमान्जीको कथा सुनाते थे। उनकी लड़की विवाहके योग्य थी। उसके विवाहके व्ययके लिए पण्डितजीको एक सहस्र रुपयोंकी आवश्यकता थी। मन्दिरमें कोई श्रोता तो आता नहीं था; किन्तु पण्डितजी नियमपूर्वक विश्वाससे हनुमान्जीको कथा सुनाते रहते थे। एक महीना बीत गया। अचानक मन्दिरमें आकाशवाणी हुई--'कल तुम्हें एक सहस्र रुपये मिलेंगे!'

पण्डितजीका ध्यान तो कथा सुनानेमें था। उन्होंने वह आकाशवाणी सुनी नहीं। एक बनिया आया था उस दिन मन्दिरमें पूजन करने। उसने वह वाणी सुन ली। अतः सायंकाल पण्डितजीके घर जाकर बोला--'पण्डितजी, कल आपकी कथाकी जो दक्षिणा होगी उसका ठेका करेंगे?'

पण्डितजी बोले--'भैया, क्यों मेरी हँसी करते हो! कल भला क्या नयी बात होगी?'

बनिया--'आप पाँच सौ रुपयेमें ठेका कर लें। मैं आज आपको पाँच सौ रुपये दे देता हूं। कल कथामें जो चढ़े वह मेरा!'

पण्डितजीको भला क्या आपत्ति थी? घर आये पाँच सौ रुपये उन्होंने रख लिये। दूसरे दिन बनिया भी कथाके समय मन्दिरमें गया। कथा समाप्त करके पण्डितजी पोथी लेकर घर चल दिये, एक सहस्र रुपये नहीं मिले। तब अपने पाँच सौ रुपये भी खो जानेके क्रोधसे बनियेने हनुमान्‌जीको एक लात मारी; किन्तु उसका पैर मूर्तिसे चिपक गया। बहुत रोया-चिल्लाया। वहाँ निर्जन मन्दिरमें कौन सुननेवाला था! गिड़गिड़ाकर बोला—'झूठ बोलकर तुमने मेरे पाँच सौ रुपये तो डुबाये ही, अब मेरा पैर तो छोड़ दो!'

हनुमान्‌जीको दया आगयी, बोले—'मुझे ब्राह्मणको एक सहस्र रुपये देने हैं। झूठ मैं बोलता नहीं। पाँच सौ रुपये तुम दे चुके। पाँच सौ और देनेकी प्रतिज्ञा करो और आज ही दे दो तो पैर छूट जायेंगे।'

बेचारे बनियेको प्रतिज्ञा करनी पड़ी तब पैर छूटा। रुपये उसे देने ही पड़े।

गोस्वामी तुलसीदासजी काशीमें अस्सी घाटपर रहते थे एक रात उनकी कुटिया पर चोर आया। किन्तु उसने देखा कि दो युवक धनुष-बाण लिये, पीठपर त्रोण कसे कुटियाके समीप घूम रहे हैं। उनमें-से एक श्यामल है, दूसरा गौर। चोर लौट-लौटकर कई बार आया किन्तु वे दोनों किशोर उसे प्रत्येक बार सावधान मिले। कई बार उनके दर्शनसे चोरका हृदय शुद्ध हो गया। प्रातःकाल वह गोस्वामीजीके चरणोंपर गिर पड़ा और बोला—'मैं आया तो आपके यहाँ चोरी करने था; किन्तु अब मुझे धन नहीं चाहिए। आपके वे श्यामल-गौर धनुषधारी जो दो चौकीदार हैं, वे कौन हैं? एक बार और उनका दर्शन करा दीजिये।'

श्रीतुलसीदासजीने सोचा—'मैंने स कुटियामें थोड़ी सामग्री एकत्र कर ली है, इसीलिए प्रभुको रात्रिमें जागरण करके पहरा देना पड़ता है।' जो सामग्री थी, सब उन्होंने दीन-दुखियोंको उसी समय बाँट दी।

श्रीजगन्नाथ मिश्रकी पूरे महाभारतपर टीका है। वे जगन्नाथ-पुरीमें रहते थे। महाभारतकी टीका करते समय जब गीताकी टीकामें यह—अनन्याश्चिन्तयन्तो श्लोक प्राप्त हुआ तो उनके मनमें आया—श्लोकमें वहाम्यहम् ठीक नहीं है। भगवान् 'योगक्षेम' दिला देंगे, दे देंगे, स्वयं भला उसे क्यों ढोयेंगे! यहाँ 'ददाम्यहम्' होना चाहिए। अतः उन्होंने 'वहाँ'पर हड़ताल लगाकर वहाँ 'ददा' लिख दिया और समुद्र-स्नान करने चले गये।

मिश्रजीके घरमें उस दिन आटा-दाल नहीं था। एक बालक सिरपर आटा-दालकी गठरी उठाये आया। मिश्रजीकी पत्नीने देखा कि उस परम सुन्दर बालकके मुखपर चोट लगी है। पूछा—'तुमको किसने मारा?' बालक बोला--'मिश्रजीने मारा है।'

पत्नीको बड़ा दुःख हुआ, बड़ा क्रोध आया—'इतने सुकुमार बालकको मारकर घायल कर दिया उन्होंने!'

बालक तो आटा-दाल देकर चला गया। मिश्रजी समुद्र-स्नान करके लौटे तो पत्नी भरी बैठी थीं। वे बिगड़ पड़ीं—'बुढ़ापेमें तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है क्या? जो बच्चा इतना सुन्दर, इतना सुकुमार है, तुम्हारे आटा-दालकी गठरी सिरपर ढोकर लाया, उसे तुमने इतनी निष्ठुरतासे मारा कि उसका मुख घायल हो गया!'

अब मिश्रजीको स्मरण आया कि यह बालक तो वही गीतावक्ता है। उन्होंने अपना लिखा 'ददा' काटा और हड़ताल मिटायी।

एकमात्र उस प्रभुका ही भरोसा हो, यही अनन्यता है। वही साधन करनेकी प्रेरणा देता है। वही बार-बार वृत्तिमें आता है और

वही अन्तमें फल बनकर सम्मुख आ जाता है। तुम बहुत बुद्धिमान् हो और अपने विवेकके कारण भजनमें लगे हो, यह बात नहीं है। यह तो उसकी कृपा, उसका प्रणय-निमन्त्रण है। तुम तो गड्ढेमें गिरने ही जा रहे थे। उसने तुम्हें हाथ पकड़कर उठाया और अब भी अपनी झलक दिखा जाता है। कभी वह पुष्प बनकर तुम्हें अपने सौन्दर्यसे मुग्ध करता है। कभी कोई पक्षी, पशु, वृक्ष, बालक या देवमूर्ति बनकर अथवा संत या गुरुके रूपमें तुम्हारे सामने आकर तुम्हें अपना स्मरण कराता है—**आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति।**

मीराबाई वृन्दावन गयीं और वहाँ जीव गोस्वामीकी कुटियापर दर्शन करने पहुँचीं। जीवगोस्वामीने कहला दिया—'मैं स्त्रीसे नहीं मिलता।'

मीराने कहलाया—'मैंने तो सुना था कि वृन्दावनमें पुरुष अकेले श्रीकृष्ण ही रहते हैं। शेष तो सब उनकी प्रेयसियाँ ही यहाँ रहती हैं। यहाँ यह दूसरा पुरुष कौन आगया ?'

श्रीजीव गोस्वामी यह सुनते ही कुटियासे निकल आये। क्योंकि जो भगवान्‌में ही निष्ठावान् हैं उनके लिए दूसरा पुरुष तो विश्वमें है ही नहीं। उत्तम पतिव्रताका लक्षण सतीशिरोमणि अनसूयाजीने बताया है—

उत्तमके अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥

यह अनन्यता है। अनन्य भक्त कहता है—'तुम शेरकी खाल ओढ़कर आओ या सर्पकी केंचुल पहनकर, मैं सब रूपोंमें तुम्हें पहचान लूँगा। मैं जानता हूँ कि तुम बड़े बहुरूपिया हो—**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।** तुम्हीं कभी पुरुष बनकर आते हो, कभी स्त्री बनकर। तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं।'

तद्विरोधिषूदासीनता ।

तजो रे मन हरि-विमुखनको संग ।
जिनके संग कुमति मति उपजत परत भजनमें भंग ।।

मीराबाईने जब पत्र लिखकर अपनी ससुरालके लोगोंका अपने प्रति विरोधी व्यवहार गोस्वामी तुलसीदासजीको बताकर सम्मति चाही तो गोस्वामीजीने उन्हें लिखा--

जाके प्रिय न राम वैदेही ।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही ।।
तजे पिता प्रह्लाद बिभीषन बन्धु भरत महतारी ।
बलि गुरु तजे कंत ब्रजबनितनि भये जग मंगलकारी ।।
नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं ।
अंजन कहा आँखि जौं फूटै बहुतक कहाँ कहौं लौं ।

'अच्छा, जो भगवान्के, भक्तिके विरोधी हैं, क्या उनका हम विरोध करें ? उनसे शत्रुता कर लें ?'

ऐसा करके तो तुम उनका ही अभीष्ट पूर्ण करोगे। वे तुमसे भजन छुड़ाना चाहते थे। जो काम वे करना चाहते थे वह तुमने स्वयं कर दिया। उनका विरोध करनेमें लग गये तो भजन छूट गया। सफल वे हुए या तुम ? सफल तो वे हो गये। अतः उनकी ओरसे नेत्र बंद कर लो। तुम दूसरोंसे लड़ोगे, शत्रुता करोगे तो इतना समय तुम्हारा व्यर्थ जायगा। लोग कहेंगे--'तुम्हें गुरुने यही सिखाया ? भगवान्का भक्त क्या लड़ाकू होता है ?' अतः गुरु तथा भगवान्की निन्दा मत कराओ।

अपने इष्टमें, भजन-पद्धतिमें, मन्त्रमें तथा गुरुमें अनन्यता होनी चाहिए। जो इनके विरोधी हैं उनका विरोध मत करो। उनसे उदासीन हो जाओ; क्योंकि विरोधी तो आता ही है इष्ट, मन्त्र, भजन एवं गुरु छुड़ानेके लिए। ●

अनन्यता क्या है ?

● संगति

अनन्यताका स्वरूप क्या है, यह बतलाते हैं--

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥ १० ॥

(अपने इष्टसे भिन्न) दूसरे सब आश्रयोंके त्यागका नाम अनन्यता है ॥ १० ॥

ज्ञानमें अनन्यता है एक अद्वितीय परमात्माका ही अनुभव। दूसरी कोई वस्तुसत्ता है ही नहीं। परमात्मा अविनाशी है अर्थात् कालपरिच्छिन्न नहीं है। वह परिपूर्ण है, अनन्त है अर्थात् देशपरिच्छिन्न नहीं है। परमात्मा अद्वितीय है अर्थात् वस्तुपरिच्छिन्न नहीं है। आत्मा और परमात्मा एक ही हैं, यह ज्ञानकी अनन्यताका स्वरूप है।

देवर्षि नारदजीने यहाँ भक्तिकी अनन्यताको स्पष्ट किया है कि दूसरेका आश्रय मत लो। हरिसे जोरि सबन सों तोरचो। संसारसे वैराग्य और भगवान्से राग। दूसरे आश्रयोंसे मनको हटाओ। किसीको धनका आश्रय होता है--'जो चाहेंगे, रुपयेसे हो जायगा।' एक दस वर्षका बालक था। वह चाँदीकी थालीमें गंगाजीकी पूजा-सामग्री लेकर पूजा करने गया। पूजा करके उसने थाली भी गंगाजीमें फेंक दी। साथमें जो नौकर गया था वह बोला--'बाबू, आपने थाली फेंक दी ? मुझपर डाँट पड़ेगी।'

बालकने गर्वपूर्वक कहा--'तुम समझते क्या हो, मैं ऐसी दस थालियाँ मँगा दूंगा !'

यह बालकका धनमद है। धनमदसे मत्त लोगोंको यह भ्रम रहता है कि 'हम धनके द्वारा महात्माको अथवा ईश्वरको भी खरीद सकते हैं।' यह धनाश्रय है।

मेरे एक परिचित अमेरिका गये। वहाँ उनसे एक विद्वान्ने पूछा---'आपके देशकी विशेषता क्या है?'

वे बोले---'हमारे देशमें एक ऐसे प्रकारके लोग होते हैं जिन्हें धनसे खरीदा नहीं जा सकता।'

कांग्रेसके सुप्रतिष्ठित विद्वान् श्रीमन्नारायण अग्रवाल अमेरिका गये। वहाँ उन्हें एक मनुष्याकार यन्त्र दिखलाया गया जो मनुष्यके समान बहुत-सी बातें कर लेता था। यन्त्र दिखलानेवालेने पूछा—'आप इस यन्त्रको देखकर हमारे देशके सम्बन्धमें क्या राय बनावेंगे?'

श्रीमन्नारायणजी—'आपके देशमें ऐसा यन्त्र है, इसलिए यह देश महान् है ऐसा तो मैं नहीं मानता; किन्तु इस देशमें ऐसा यन्त्र बनानेवाला मस्तिष्क है, इसलिए मैं इस देशका सम्मान करता हूँ।'

यन्त्र, धन, भवन, वस्त्र ये बड़े नहीं हैं; बड़ा है, इनका निर्माता और इनका उपयोग करनेवाला। ये सब तो जड़ हैं, अतः इनका आश्रय लेना जड़का आश्रय लेना है। भक्त इनका आश्रय नहीं लेता।

कुछ लोगोंको धनका नहीं तो कर्मका आश्रय होता है। वे मान लेते हैं कि 'धन हाथका मैल है' किन्तु समझते यह हैं कि 'कर्मसे सब कुछ हो जायगा'।

कर्माश्रय दो प्रकारका होता है—बहिरंग और अन्तरंग। खेती, व्यापार, कारखाना आदि बहिरंग कर्म हैं और इनका आश्रय बहिरंग कर्माश्रय है। योगाभ्यास, जप, तप आदि अन्तरंग कर्म हैं और इनका आश्रय अन्तरंग कर्माश्रय है। भक्त यह भरोसा नहीं

करता कि हमारे इतने जपसे; इस तपस्या, व्रत अथवा अनुष्ठानसे भगवान् हमारे वशमें हो जायँगे। भगवान् मनुष्यके किसी कर्मके मूल्यसे खरीदे नहीं जा सकते।

श्रीरामानुजाचार्यजीने कहा है—'प्रभो! संसारमें कुछ लोग ऐसे होते हैं जो कहते हैं कि हम आपको जप, तप, पूजन देते हैं। आप हमको विनिमयमें संसार दीजिये।'

कुछ लोग भजन करके भगवान्से संसार—अपनी किसी सांसारिक कामनाकी पूर्ति—माँगते हैं, कुछ भगवान्से भगवान्को ही माँगते हैं और कुछ उनकी कृपाका आश्रय चाहते हैं।

जप, तप, व्रत, दान आदि कर्म भगवान्का मूल्य नहीं बन सकते। इसीलिए भगवान्ने कहा है—'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' धर्माश्रयताका परित्याग करके भगवान्की शरण लेनी चाहिए। भगवान् ही उपाय–साधन हैं और वे ही साध्य हैं।

साधनके क्षेत्रमें बहिरंग कर्म हैं दान, तप, यज्ञ आदि धर्माचरण, एवं अन्तरंग कर्म हैं योग तथा उपासना। इन दोनों ही प्रकारके कर्मोंका आश्रय भक्त नहीं लेता।

कुछ लोग देवताश्रय लेते हैं। जैसे व्रजके गोप वर्षाके लिए इन्द्रका आश्रय लेते थे। श्रीकृष्णने इन्द्रयाग बन्द करा दिया। गीतामें उन्होंने कहा है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

(गीता ७.२०)

'अपने-अपने स्वभावसे विवश लोग अनेक कामनाओंकी पूर्तिके लोभसे ज्ञान-विमूढ़ होकर उन कामनाओंकी पूर्तिके अनुरूप नियमोंका पालन करते हुए दूसरे देवताओंकी शरण लेते हैं।'

अन्य देवताओंका आश्रय लेना भक्तिमें बाधक है। अतः अपने इष्टसे भिन्न अन्न किसी देवताका आश्रय मत लो। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

बनै तो रघुबर ते बनै बिगरै तौ भरपूर।
तुलसी औरनि ते बनै वा बनिबेमें धूर॥

(दोहावली)

भगवान् शंकरके परम नैष्ठिक भक्त थे उपमन्यु। सदाशिव उनपर प्रसन्न हुए। किन्तु भक्तकी निष्ठा प्रसिद्ध करने तथा उसका आनन्द लेनेके लिए वे गंगाधर उपमन्युके सम्मुख देवराज इन्द्रके रूपमें प्रकट हुए। उनका वृषभ ऐरावत बन गया और त्रिशूल वज्रके रूपमें दीखने लगा। उपमन्युने मर्यादानुसार अभ्यागत समझकर सत्कार किया। अब इन्द्ररूपधारी शिवने वरदान माँगनेको कहा तो उपमन्यु बोले—

अपि कीटः पतङ्गो वा भवेयं शङ्कराज्ञया।
न त्विन्द्राहं त्वया दत्तं त्रैलोक्यमपि कामये॥

'देवराज! मेरे स्वामी भगवान् चन्द्रमौलिकी आज्ञा हो तो उनकी प्रसन्नताके लिए मैं कीट-पतंगादि किसी भी योनिमें जानेको प्रस्तुत हूँ; किन्तु तुम्हारा दिया तो त्रिलोकीका साम्राज्य भी मुझे नहीं चाहिए।' भोले बाबा इस निष्ठासे सन्तुष्ट होकर अपने त्रिनयन, भुजङ्गभूषण, गङ्गाधर, नीलकण्ठ रूपमें प्रकट हो गये।

कुछ लोग जीवाश्रय लेते हैं—अमुक व्यक्ति मेरा भला करेगा! अमुक मेरे हितके लिए चमत्कार कर देगा!'

कुछ लोगोंको स्वबलाश्रय होता है—'मैं इतना जप, अनुष्ठान करके भगवान्को प्रसन्न कर लूंगा।' यह स्वबलाश्रय भी अन्याश्रय

ही है। अपने इष्टके अतिरिक्त दूसरेके इष्टका आश्रय भी अन्याश्रय है—'अमुक अपने इष्टसे मेरा कल्याण कर देगा।'

हमारा इष्ट यदि ईश्वर है तो हम ईश्वरवादी हैं अन्यथा हम ईश्वरवादी नहीं हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्तने कहा है--

राम ! तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?
तो मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे ।।

(साकेत)

प्रति वर्ष व्रजमें चौरासी कोसकी परिक्रमा-यात्रा उठती है। ये यात्राएँ तो कई उठती हैं किन्तु उनमें-से सबसे अधिक भीड़ उस यात्रामें रहती है जिसमें श्रीवल्लभसम्प्रदायके गोस्वामीजी प्रमुख होते हैं। एक बार यह यात्रा निकली। नन्दगाँवमें यात्राका पड़ाव पड़ा। उसमें गोस्वामीजीका दरबार लगा था। पाससे ही नन्दगाँवके एक गोस्वामी ज्वारका बोझ लेकर निकले तो लोगोंको बैठे देखकर बोझ पटक दिया और डण्डा टेककर खड़े हो गये। जो लोग उन्हें पहचानते थे उन्होंने कहा--'जय नन्दलालकी !' यात्रामें जो श्रीगोस्वामीजी महाराज थे उन्होंने पूछा--'आप कौन हैं ?'

नन्दगाँवके गोस्वामीजीने उत्तर देनेके स्थानपर प्रश्न किया-- 'तुम कौन हो ?'

'हम अनन्य हैं।'

'हम फनन्य हैं ?'

'फनन्य क्या होता है ?:

'अनन्य क्या होता है ?'

'जो श्रीकृष्णको छोड़कर अन्य किसी देवी-देवता, काली-भैरव, गणेश-इन्द्र आदिकी पूजा न करे उसे अनन्य कहते हैं' गोस्वामी-जीने बताया।

नन्दगाँववाले गोस्वामी बोले--'जो कृष्णको छोड़कर दूसरे किसीका नाम भी न जाने वह फनन्य है।'

निज प्रभुके बल बढत न काहू।

इसमें प्रवल मनोबल है। भक्तकी यह सुदृढ़ मनःस्थिति है। इसे शिथिल करनेवाली कोई शक्ति संसारमें नहीं है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८.१४)

'अर्जुन! जो अनन्यचित्त होकर नित्य मेरा स्मरण करता है वह तो मुझसे नित्ययुक्त योगी है। उसके लिए मैं सुलभ हूँ।'

यहाँ अनन्यका अर्थ यह है कि प्रभुकी प्राप्तिमें उनकी कृपा, करुणा, वात्सल्यके अतिरिक्त और भी कोई साधन है, इसपर आस्था न रखना।

वेदान्ती ज्ञानाश्रयीको ही सत्य मानते हैं किन्तु सच्चा ज्ञान तो प्रभुकाका स्वरूप ही है। सच्चा ज्ञान वहाँ होता है जहाँ कोई मान न रह जाय--ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।

गोस्वामी तुसलीदासजीने श्रीरामचरितमानसमें कहा--

जे ज्ञान-मान-बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुरदुरलभपदादपि परत हम देखत हरी॥

इसका मूल श्रीमद्भागवतमें है। वहाँ कहा गया है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥
(१०.२.३२)

'कमललोचन ! जो दूसरे (भक्तोंसे भिन्न) अपनेको विमुक्त माननेवाले हैं उनकी बुद्धि आपमें भक्तिभाव न होनेसे शुद्ध नहीं होती। अतः बड़े कष्टसे परमपदके मार्गपर आरूढ होकर भी वे नीचे गिर जाते हैं क्योंकि उन्होंने आपके चरणोंका समादर नहीं किया।'

भगवान्‌में भाव न होनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं हुई। अन्तः-करणको सहारा चाहिए।

व्रजँस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।

'जैसे चलते समय मनुष्य एक पैर जमाकर तब दूसरे पैरको आगे बढ़ाता है।' यदि पैर जमाये विना ही दूसरा पैर उठा दे तो वह गिर पड़ेगा। इसी प्रकार पहले भगवान्‌को पकड़ो तब संसारको छोड़ो। विना भगवान्‌को पकड़े ससारको छोड़ोगे तो संसार छूटेगा नहीं। लोग घर छोड़कर साधु होते हैं पर वहाँ भी महल बनवानेमें लग जाते हैं। मालापर भगवन्नाम गिनना तो गया, ईंट ढोनेवाले गधे गिननेमें लग गये। लोग घर-द्वार छोड़कर वृन्दावन-वास करने आये और मैंने देखा है कि वे वहाँ भी वही सट्टा करने लगे। ईश्वरको नहीं पकड़ोगे तो जहाँ कहीं भी जाओगे वहाँ संसार तुम्हारे साथ लगा रहेगा। काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि आज्ञापालक नहीं हैं कि तुम आज्ञा दोगे तो ये तुम्हारे चित्तसे चले जायँगे; इनके लिए तो चित्तमें स्थान ही रिक्त मत रहने दो।

भरी सराय रहीम लखि पथिक आपु फिरि जाय।

यदि हृदय ईश्वरसे परिपूर्ण है तो उनमें ये कामादि आ ही नहीं सकते और यदि हृदय खाली है तो उसमें ये आये बिना मानते नहीं।

अन्तःकरणमें जो अन्तःकरणका आश्रय होकर बैठा है वह अन्तःकरणका विषय नहीं होता।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् : (ब्रह्मसूत्र १.४.२३)

'प्रकृतिके रूपमें भी ईश्वर ही है।'

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।

(ब्रह्मसूत्र २.१.१४)

'परमात्माके अतिरिक्त दूसरी वस्तु है ही नहीं।' वही सत्ता प्रकाश एवं आनन्दके रूपमें सर्वत्र स्फुरित है। धर्म-अधर्म, ईश्वर-जीव आदि सब उसीमें प्रकाशित हैं। हमारे नेत्र परमात्माके ही प्रकाशमें देखते हैं।

प्रकाश्यते यस्य च येन वा गुणः ।

अन्तःकरण, मन, बुद्धि तथा अहंकी प्रतीति जिससे होती है वह अपने हृदयमें ही विराजमान है, उसीका आश्रय ग्रहण करो।

तद्विरोधिषूदासीनता ।

'भगवद्विरोधी तत्त्वोंके प्रति उदासीन रहो'—उनसे बचकर चलो। जो विरोध या लड़ाई करता फिरे वह तो निकम्मा है।

सा हानिः तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता ।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत् ॥

'यही हानि, बड़ा भारी दोष, अन्धापन, जड़ता एवं मूर्खता है कि एक मुहूर्त या एक क्षण भी भगवान्‌के चिन्तनके बिना व्यर्थ खोया जाय।'

एक महात्माने एक दृष्टान्त सुनाया था कि एक कुत्तेने सौ मीलकी यात्रा करनेका निश्चय किया। उसने सोचा—'दस मील प्रतिदिन चलेंगे और दस दिनमें पहुँच जायँगे।' पर जैसे ही अपने ग्रामसे दूसरे ग्राम पहुँचा, वहाँके कुत्ते उसे काटने दौड़े। उसने पूँछ दबायी और भागा। ग्रामसे बाहरतक खदेड़कर वे कुत्ते लौट गये। यही चक्र चलता रहा। इस प्रकार जाति-भाइयोंने सहायता की

और दस दिनके स्थानपर दो ही दिनोंमें वह अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँच गया। यदि वह लड़ाई करता तो पहले ही घायल होकर किसी गाँवमें पड़ा रह जाता।

संसारमें इसी प्रकार विरोधियोंसे बचकर भागो, लड़ाई करनेके चक्करमें मत पड़ो। काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि ये शत्रु हैं। इनसे भी लड़नेमें मत लगो। इनमें-से एक-एकको जीतना अत्यन्त कठिन है। भगवान्‌की प्राप्ति होनेपर ही ये निवृत्त होते हैं। बड़े-बड़े योगी जो निर्जन वनमें वर्षों साधना करते हैं, उनके मनमें भी काम, क्रोध या लोभ आ ही जाता है। यह शरीर जबतक श्मशान न पहुँच जाय तबतक चित्तका भरोसा नहीं। अतएव मनको इन कामादिको पराजित करनेमें न लगाकर भगवान्‌को ही पकड़नेमें लगाओ।

आजकल तो युगका ऐसा प्रभाव है कि लोग सन्तोषपूर्वक धनवृद्धिमें, निष्कामभावसे वंशवृद्धिमें और अहिंसापूर्वक शत्रुको पराजित करनेमें लग जाते हैं। इस भ्रमके चक्करमें तुम मत पड़ो। आजकल त्यागीजीकी कुटिया महलसे बड़ी बनती है। ब्रह्मचारी-जीकी सन्तान-परम्परा लम्बी होती है। भक्तराज माला लिये न्यायालयमें ही दीखते हैं। तुम ऐसे वाह्याडम्बरोंमें मत पड़ो।

भगवद्विरोधी भावोंमें उदासीनता क्या है ?

● संगति

निरोधकी द्वितीय परिभाषामें यह कहा गया कि भगवान्में अनन्यता और उनके एवं उनकी भक्तिके विरोधी तत्त्वोंके प्रति उदासीनता भी निरोध है। इनमें-से अनन्यता क्या है यह दसवें सूत्रमें बताया गया। अब 'तद्विरोधियोंमें उदासीनता' क्या है यह इस ग्यारहवें सूत्रमें स्पष्ट कर रहे हैं। ●

लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ॥ ११ ॥

लोकव्यवहारमें और शास्त्रीय कर्मोंमें भगवान् एवं भक्तिके अनुकूल आचरण करना ही भगवद्विरोधी व्यवहारोंके प्रति उदासीन रहना है ॥ ११ ॥

करना वह, जिससे भगवान् प्रसन्न हों। भक्तके लिए अश्वमेध-राजसूययज्ञ करना आवश्यक नहीं है। श्येनयागरूपी अभिचारकी भी आवश्यकता नहीं है। ऐसा कोई कार्य भक्तको नहीं करना चाहिए कि भजन छूट जाय।

कुछ लोग परोपकारी होते हैं। मैं एक बार दिल्ली गया। वहाँके एक सुप्रसिद्ध भक्तराजने मेरे प्रवचनकी व्यवस्था की। प्रवचनके प्रारम्भमें उन्होंने लाउडस्पीकर पर मेरी बहुत प्रशंसा की—'स्वामीजीके प्रवचनमें तो अमृतवर्षा होती है। बड़े सौभाग्यसे हमें यह अवसर मिला।' किन्तु मैंने जब बोलना प्रारम्भ किया तो

वे धीरेसे उठकर कहीं चाय पीने चले गये। घर जाकर फिर प्रवचनके अन्तमें लौटे और फिर प्रवचनकी मुक्तकण्ठ प्रशंसा करने लगे। ऐसे लोग इसलिए ऐसे आयोजन करते हैं कि दूसरोंका कल्याण हो। उन्हें यह अभिमानजन्य सुख होता है कि हमने दूसरोंको सुननेका अवसर दिया।

उदासीनका अर्थ है—उत्+आसीन=ऊपर बैठना। जैसे तुम भवनकी छठी मंजिलपर बैठे हो। सड़कपर बालक परस्पर लड़ रहे हैं। उन्हें छुड़ानेवाले आवेंगे ही। तुम ऊपरसे चिल्लाओ मत और कूदो भी मत।

कोई पर्वतकी चोटीपर बैठा है। अब यदि नीचे मैदानमें बाढ़ आती है तो उसका क्या बिगड़ता है। संसारके जिस स्तरमें बैर-विरोध, लड़ाई-झगड़ा है उसमें तुम मत उतरो। अपनेको भगवान्के चरणारविन्दमें ही रखो। यह है उदासीनता।

भक्तिमें लगनेपर शास्त्रीय मर्यादाका क्या होगा, यह बात इस सूत्रमें समझायी गयी है।

रागका अभाव वैराग्य नहीं है क्योंकि रागका अभाव भावका निरोधक नहीं है। यह नियम है कि अभाव भावका निरोध नहीं करता। जो मर गया वह जीवितका निरोध कैसे करेगा? घटका प्रध्वंसाभाव घटका निरोध नहीं कर सकता। अतः राग-द्वेष मिटानेके लिए एक भावात्मक वृत्ति चाहिए। इसके लिए अपेक्षा है आत्माकार या भगवदाकार वृत्तिकी। आत्माकार वृत्ति होनेसे अनात्माकार वृत्तिका और भगवदाकार वृत्ति होनेसे जगदाकार वृत्तिका तिरस्कार हो जायगा। भक्तिके हृदयमें आनेपर प्रपञ्चका स्वयं तिरस्कार हो जाता है। एक स्थानपर मन लगे तो अन्यत्रसे स्वयं हट जाता है। अतएव या तो योगाभ्यास अथवा वेदान्त-चिन्तनसे आत्माकार वृत्ति बनाओ या भक्तिके द्वारा वृत्तिको

भगवदाकार करो। संसारको मिथ्या समझने मात्रसे वैराग्य नहीं होगा। संसारको मिथ्या समझोगे तो राग भी मिथ्या ही लगेगा। तब रागको मिटानेकी आवश्यकता ही नहीं जान पड़ेगी। तब तो कह दोगे—ये राग-द्वेष मिथ्या हैं? किन्तु यदि प्रपञ्चसे विलक्षण ब्रह्मसुखकी चाह हो तो राग-द्वेषका मिटाना आवश्यक है। ये राग-द्वेष या तो विलक्षण आत्मसुखकी चाहसे मिटते हैं अथवा भगवत्प्राप्तिकी चाहसे। वैसे तो सब ब्रह्म ही है किन्तु राग-द्वेष मिटे बिना ब्रह्माकार वृत्ति होती नहीं।

लौकिक और वैदिक कर्म छोड़ने नहीं हैं। बालक है तो उसका मुंडन (चूड़ाकर्म), यज्ञोपवीत आदि संस्कार करने ही चाहिए और जीविकोपार्जनके लिए खेती, व्यापारादि भी करना चाहिए। किन्तु करना चाहिए सब भगवान्‌की आज्ञा—शास्त्रमर्यादानुसार तथा भगवान्‌को अर्पित करनेके लिए। हम लोक या वेदके सेवक नहीं, भगवान्‌के सेवक हैं।

भक्तमें छः बातें अवश्य होती हैं—१. भगवान्‌के ही अनुकूल चलनेका संकल्प, २. जो भी भगवान्‌के प्रतिकूल हो उसका त्याग, ३. संकटमें भगवान् अवश्य रक्षा करेंगे यह विश्वास, ४. संकट आनेपर भगवान्‌को ही पुकारना, ५. सदा अपनेको भगवान्‌के चरणों में डाले रहना और ६. अभिमान किसी बातका न करना।

भक्त लौकिक आचरणके समय भी इन छः बातोंका आचरण करता है। फलतः ये बातें उसके स्वभावमें आ जाती है।

वेदमें तो अनेक बातें हैं। उसमें तो हिंसाके श्येनयाग, पशुयागके भी विधान हैं। पुत्रेष्टियाग आदि सकाम विधान हैं। भक्तके लिए तो वेद-शास्त्रमें भी जो भगवदनुकूल आचरणके विधान हैं, वे ही पालनीय हैं। भगवन्नामोच्चारणसे ही उसके कोटि-कोटि याग पूरे हो जाते हैं। वेदमें अधिकारीके भेदसे विभिन्न कर्मोंके विधान हैं।

उसमें मारणादि प्रयोग भी हैं। भक्त ऐसे विधानोंका आचारण नहीं करता। वेदका मन्त्रभाग कर्मकी प्रधानतासे है। पूर्वमीमांसाके आचार्य कर्मको ही ईश्वर मानते हैं। वेद त्रिगुणात्मक हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदाः। (गीता २.४४)

त्रिगुणात्मक अधिकारियोंके लिए उनके स्वभाव एवं अधिकारके अनुरूप वेदके विधान हैं। अतः वेदका खण्डन या वेदकी निन्दा भक्तको अभीष्ट नहीं है। किन्तु वेदमें भक्तिके प्रतिकूल जो विधान पड़ते हों, उन्हें अन्य अधिकारियोंके लिए समझकर उनके प्रति उदासीन हो जाना चाहिए। अपने लिए जितना विधान भजनके अनुकूल लगता है, उतनेका ही आचरण करना चाहिए। वेदमें तो संन्यासीका आचरण भी बतलाया गया है। गृहस्थ उसका पालन कहाँ करता है, अथवा संन्यासी कहाँ गृहस्थके लिए बताये गये धर्मका पालन करता है। इस प्रकार अन्यके लिए विहित धर्मका पालन न करना वेदका खण्डन या निन्दा नहीं है।

शास्त्रका संरक्षण

○ संगति

अगले सूत्रके अर्थमें बड़ा विवाद है। जब वेदमें-से भी मनोनुकूल आचरण ही करना है तब भक्तिके प्राप्त होनेपर वेदानुकूल आचरणकी आवश्यकता ही क्या है? भक्ति प्राप्त हो गयी, भगवान् हमारे और हम भगवान्के हो गये, तब हम वेदका मुख क्यों देखें? वेदकी हमें क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर अगला सूत्र है। •

भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ।।१२।।

निश्चय ही दृढ़ हो जानेके पश्चात् शास्त्रकी रक्षा (भले) होवे ॥ १२ ॥

अन्यथा पातित्याशङ्कया ।।१३।।

नहीं तो पतित होनेका भय है ॥ १३ ॥

गीताप्रेसके 'प्रेमदर्शनमें' इस सूत्रका अर्थ यह किया गया है--'(विधि-निषेधसे अतीत अलौकिक प्रेम प्राप्त करनेका मनमें) दृढ़ निश्चय हो जानेके बाद भी शास्त्रकी रक्षा अर्थात् भगवदनुकूल शास्त्रोक्त कर्म करना चाहिए ॥ १२ ॥ नहीं तो गिर जानेकी सम्भावना है' ॥ १३ ॥

शास्त्रोक्त आचरण नहीं करोगे तो गिर जाओगे। दृढ़ निश्चय हो जानेके बाद भी शास्त्रोक्त आचरण करनेसे नये भक्तोंका आदर्श बना रहता है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

(गीता ३.२१)

'श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचारण करते हैं, दूसरे उसके उन-उन आचारणोंका ही अनुकरण करते हैं। वह जिसे प्रमाण मानता है, लोग उसके अनुसार ही व्यवहार करते हैं।'

बच्चेको किसीको प्रणाम करनेको कहो और आग्रह करो तो वह रोता है किन्तु बड़े लोग जब प्रणाम कर लेते हैं तो बालक स्वतः प्रणाम करता है। बालक समझता कम है, अनुकरण अधिक करता है।

श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर (टैगोर)ने एक कथा लिखी है--'एक घरमें दो बालक थे। उनमें बड़ा बहुत उद्दण्ड था। वह सिगरेट ही नहीं, शराब भी पीता था, जुआ भी खेलता था। पिता-माताकी मृत्यु हो गयी। अब घरका भार बड़े भाईपर पड़ा। उसने एक दिन छोटे भाईको सिगरेट पीते देखा तो डाँटा, किन्तु इससे केवल यह हुआ कि छोटा भाई अपने बड़े भाईसे छिपाकर सिगरेट पीने लगा। बड़े भाईको जब यह पता लगा तो उसने स्वयं सिगरेट, शराब, जुआ सब छोड़ दिया। फल यह हुआ कि छोटे भाईने भी सिगरेट पीना छोड़ दिया।'

जो अपनेसे छोटे हैं वे आज्ञाकारी कम होते हैं, अनुकरणशील अधिक। उनके मनमें आता है--'जब बड़े ऐसा काम करते हैं तो हम क्यों न करें?' अतएव भक्त यदि शास्त्रविरुद्ध आचरण करेगा तो दूसरे भी वैसा ही करेंगे। इसलिए निश्चय दृढ़ हो जानेपर भी शास्त्र-मर्यादाकी रक्षा करनी चाहिए। किन्तु देवर्षि नारदजी यहाँ यह बात नहीं कह रहे हैं। इस सूत्रमें बहुत अद्भुत बात कही जा रही है। **निश्चयदार्ढ्यात् प्राक् शास्त्ररक्षणं कर्तव्यं न भवति।**

निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणं भवतु।--'निश्चय दृढ़ होनेसे पहले शास्त्रकी रक्षा कर्तव्य नहीं है। निश्चय दृढ़ होनेके अनन्तर भले ही शास्त्रकी रक्षा होवे।' यह सूत्रका अभिप्राय है।

पहले सूत्रमें कह आये हैं—'लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणम्'—'लोक और वेदमें जो भक्तिके अनुकूल हो वही आचरण करना।' यहाँ प्रश्न हुआ कि 'ऐसा करनेसे वेदमें जो कर्मकाण्डप्रधान विधियाँ हैं वे तो छूट जायँगी। यह तो वैदिक कर्मकाण्डका नाश हो गया।' इसके उत्तरमें कहा जा रहा है—'शास्त्रकी रक्षा करना हो तो निश्चय दृढ़ हो जानेके पश्चात् करना।' यह काम आचार्योंका है। श्रीरामानुजाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य प्रभृति जो सचमुच प्रपन्न-भगवत्शरणागत महापुरुष हैं वे शास्त्रकी रक्षा करें। तुम निश्चय दृढ़ होनेके पूर्व शास्त्र-रक्षाके चक्करमें पड़े तो भक्तिके मार्गसे गिर जाओगे; भक्ति शिथिल हो जायगी; अतः निश्चय दृढ़ होनेसे पूर्व शास्त्र-रक्षणमें मत लगना।

लोकसंग्रह—लोककल्याणके कार्य दृढ़निश्चयीके हैं। नया साधक यदि इसमें लगा तो पतित होनेकी—भक्तिसे च्युत होनेकी आशङ्का है।

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(श्रीमद्भा० ११.२०.९)

भगवान् कहते हैं—'जबतक वैराग्य न हो जाय अथवा जबतक मेरी कथाके श्रवण, पूजन, कीर्तनादिमें श्रद्धा न हो जाय तभीतक कर्म करने चाहिए।'

भगवत्कथा-श्रवणमें श्रद्धा हो जाय, कथामें रस आने लगे तो नियमपालनके लिए कथा मत छोड़ो। सन्ध्यावन्दन कालात्यय करके कर लेना। **श्रद्धया सत्यमाप्यते**—'श्रद्धासे सत्यकी प्राप्ति होती

है।' श्रद्धा बड़ी चीज है। वृन्दावनमें एक भक्त सायंकाल वृक्षके नीचे बैठे थे। किसीने कहा--'भक्तजी ! सन्ध्यावन्दनका समय हो गया है !' वे बोले--

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवते भो स्नान तुभ्यं नमः,
भो देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम् ।
यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तंसस्य कंसद्विषः,
स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे ।।

'सन्ध्यावन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो। स्नान ! तुमको नमस्कार। देवताओ और पितरो ! मैं तुम्हारा तर्पण करनेमें समर्थ नहीं हूँ, अतः क्षमा करो। मैं तो कहीं भी बैठ जाता हूँ और यदुवंशशिरोमणि कंसारिका स्मरण कर लेता हूँ। इतनेसे ही मेरे पाप नष्ट हो जाते हैं। अतः मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है। दूसरे कर्मोंसे मुझे क्या प्रयोजन !'

कोई कुशासन या मृगचर्म आवश्यक नहीं है, चाहे जहाँ बैठ गये। यह व्रजभूमि, जहाँका कण-कण गोपियोंकी चरणरजसे परिपूत है, जिस रजमें उद्धव तथा अक्रूर लोट चुके, ब्रह्मा जहाँ कोई तृण बनना चाहते हैं, उस भूमिमें आसनकी क्या अपेक्षा ! बैठे और नन्दनन्दन, श्यामसुन्दरका स्मरण आगया--बस, सारे पाप नष्ट हो गये। 'तदलं मन्ये किमन्येन मे'--मेरे लिए तो इतना ही पर्याप्त है, और किसीसे मेरा क्या काम !

भक्तको कर्म, ज्ञान तथा योगकी आवश्यकता नहीं है। ऐसी स्थितिमें उसके लिए लोक तथा वेदकी आवश्यकता नहीं है। ऐसी स्थितिमें उसके लिए लोक तथा वेदकी मर्यादा-रक्षाकी भी आवश्यकता नहीं है।

मैं एक बार एक महात्माके समीप गया और उनसे पूछा--'भगवान्‌के मिलनेपर क्या होता है ?'

वे बोले--'जबतक भगवान् मिले नहीं हैं तबतक यह पूछो कि 'वे कैसे मिलेंगे।' मिलनेपर वे तुम्हारा क्या करेंगे' यह क्यों पूछते हो ? वे जो चाहेंगे, करेंगे। मिलनेके पश्चात्का प्रश्न नहीं बनता।'

ब्रह्मात्मैक्य-बोध होनेपर जीवन्मुक्त कैसे रहेगा, इसका वेद-शास्त्र-उपनिषद् कोई नियम नहीं बना सके।

समाधिवत् स कर्माणि मा करोतु करोतु वा।

'जैसे वह समाधि लगाता भी है, नहीं भी लगाता; वैसे ही कर्म करे या न करे, उसे आज्ञा देनेवाला अथवा रोकनेवाला कोई नहीं है।'

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वाऽन्यथापि वा।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम्॥

'व्यवहार लौकिक हो, शास्त्रीय हो या इनसे विपरीत हो, मैं तो अकर्ता हूँ, कर्मसे अलिप्त हूँ, अतः जैसा प्रारब्ध हो, वैसा (व्यवहार) होवे।'

इस प्रकार जैसे निर्गुण ब्रह्मकी अनुभूति होनेपर शास्त्रका नियन्त्रण नहीं रह जाता वैसे ही सगुण ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर भी शास्त्रका कोई नियन्त्रण नहीं रह जाता। वह तो जीवन्मुक्त हो चुका। उसके लिए पातित्यकी आशङ्का कहीं है ही नहीं।

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दचरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

(मुकुन्दमाला)

'नरकान्तक प्रभु! आपकी जैसी इच्छा हो वैसा स्थान मुझे दें। मेरा निवास स्वर्गमें हो, पृथ्वीमें हो या नरकमें हो। (मेरा हठ तो इतना ही मात्र है कि) शरत्कालिक कमलकी शोभाको लज्जित करनेवाले आपके चरणोंका चिन्तन मृत्युके समय भी बना रहे।'

हमारी नस-नसमें, वृत्तिमें आप परिपूर्ण रहें, फिर हम कहाँ रहते हैं, इसकी चिन्ता हमें नहीं है—

सरग नरक अपवरग समाना। जहँ तहँ दीख धरे धनुबाना ॥

ऐसे दृढ़निश्चयी भक्तके लिए तो पतित होनेकी आशंका है ही नहीं। पतित होनेकी आशंका उसके लिए है जिसका निश्चय अभी दृढ़ नहीं है। अतः उसीके लिए इस सूत्रमें आदेश है कि दृढ़ निश्चय होनेसे पहले शास्त्र-रक्षाके चक्करमें नहीं पड़ना।

भक्तिके जो 'स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः' आदि द्वादश प्रमुख आचार्य हैं, उनमें देवर्षि नारद प्रमुख हैं। ये बाल ब्रह्मचारी हैं और तत्त्वज्ञ होनेपर भी भक्ति करते हैं। परम विरक्त हैं। कहीं रुकते नहीं। नित्यपर्यटनशील-परिव्राजकशिरोमणि हैं। इनके विषयमें कहा गया है—

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत् ॥

(श्रीमद्भाग १.६.३९)

'अहा! धन्य हैं ये देवर्षि जो शार्ङ्गधन्वा भगवान्‌की कीर्ति अपनी इस वीणापर गाते हुए स्वयं प्रेमविभोर रहते हैं और (नाना क्लेशोंसे) आतुर संसारको आनन्दित करते रहते हैं।'

ऐसे देवर्षिको शास्त्र-मर्यादाकी रक्षाकी चिन्ता नहीं है। लोक-व्यवहारकी चिन्ता वे करते नहीं। अतएव वे वैधी नहीं—रागानुगा, क्रियायोग नहीं—प्रपत्ति, साधनात्मिका नहीं—परा-भक्तिके पक्षमें हैं और उसीका यहाँ निरूपण कर रहे हैं।

'भवतु' यह शब्द कहता है कि देवर्षि किञ्चिदुपेक्षापूर्वक ही यह सूत्र कह रहे हैं।

'भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम्'—निश्चय दृढ़ होनेके अनन्तर शास्त्र-रक्षण भले ही हो। 'शास्त्ररक्षणं भवतु किन्तु

निश्चयदाढ्यादूर्ध्वम्, प्राक् तु निश्चयदाढ्यार्थं प्रयतनमेव कर्तव्यम्। अन्यथा पातित्याशङ्कया।'

निश्चय दृढ़ होनेके पूर्व कोई भूल हो तो पतनकी आशंका है। निश्चय दृढ़ होनेपर भूल भी हो जाय तो पतनकी शङ्का नहीं है।

धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह।

(श्रीमद्भाग० ११.२.३५)

'यह भक्तिका मार्ग ऐसा है कि दृढ़ निश्चय (स्थिर श्रद्धा भाव) हो गया हो तो फिर नेत्र बन्द करके दौड़नेपर भी इसपर-से न कोई फिसलता, न कोई गिरता ही है।'

अतएव इस सूत्रका अर्थ--निश्चय दृढ़ होनेके पश्चात् ही शास्त्ररक्षण, यही करना उपयुक्त है। निश्चय दृढ़ होनेसे पूर्वके लिए भी उसे अनिवार्य बताना ठीक नहीं है।

'अन्यथा पातित्याशङ्कया'में पतित होनेका अर्थ केवल भक्ति-मार्गका छूट जाना ही है।

लोकरक्षण और भोजनादि व्यापार

• **संगति**

पिछले सूत्रमें 'लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणम्' कहा गया था और उसके बाद अब यह कह दिया गया कि 'निश्चय दृढ़ होनेपर शास्त्ररक्षण भले होवें, उसके पूर्व उसे महत्त्व नहीं देना चाहिए, अन्यथा भक्तिमार्गसे गिर जानेकी आशङ्का है।' तब यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठ खड़ा होता है कि लौकिक व्यवहारके विषयमें निश्चय दृढ़ होनेसे पूर्व क्या करना चाहिए। शास्त्ररक्षण तो निश्चय दृढ़ होनेके अनन्तर होवे; किन्तु लोक-व्यवहारका रक्षण उससे पूर्व भी आवश्यक है क्या ? इस शंकाका समाधान करते हुए कहते हैं—

लोकोऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वा-शरीरधारणावधि ॥१४॥

लोक-व्यवहार भी तबतक ही होवे (अर्थात् निश्चय दृढ़ होनेके अनन्तर ही होवे) किन्तु भोजनादिकी चेष्टाएँ तो तबतक करनी चाहिए जबतक शरीर है ॥ १४ ॥

लोकोऽपि तावदेव, यावत् शास्त्र-रक्षणस्य मर्यादा तावदेव लोकरक्षणस्यापि मर्यादा—जबतक शास्त्ररक्षाकी मर्यादा है कि वह निश्चय दृढ़ होनेके पश्चात् होना चाहिए, तबतक ही लोका-नुष्ठानकी भी मर्यादा है। अर्थात् वह भी निश्चय दृढ़ होनेके पश्चात् ही होना चाहिए।

'आशरीधारणावधि'--इसके लिए 'आशरीरधारणम्' अथवा 'शरीरधारणावधि' कहना पर्याप्त था। तो भी जब 'आशरीरधारणावधि' कहा गया तब इसका विशेष अर्थ होना चाहिए। वह अर्थ है--जन्मसे मृत्युपर्यन्त। 'आ' जन्मका बोधक है। 'अवधि' मृत्युका वाचक है।

जन्मसे मृत्युपर्यन्त भक्तको दन्तधावन, स्नान, भोजन, वस्त्र-धारण, निद्रा आदि शरीर-व्यापार ठीक-ठीक करना चाहिए। इनमें व्यतिक्रम करनेसे, हठपूर्वक तपमें लगनेसे रोग हो सकते हैं और भक्त रोगी होगा, कष्टमें पड़ेगा तो भगवान्‌को उसकी चिन्ता करनी ही पड़ेगी। अतः भक्तका स्वभाव ऐसा होना चाहिए, उसे इस तरह रहना चाहिए कि भगवान्‌को उसकी चिन्ता न करनी पड़े। जीवन्मुक्त अवधूत इसीसे भिक्षा माँगकर क्षुधा-निवारण कर लेते हैं, भगवान्‌पर अपना भार नहीं छोड़ते।

इस विषयमें एक कथा है। एक बार अर्जुनके मनमें यह अभि-मान आया कि मैं श्रीकृष्णका उत्तम भक्त हूँ। भगवान् तो गर्वहारी हैं, भक्तोंके गर्वका ही भोजन करते हैं, अतः अर्जुनको साथ लेकर भ्रमण करने निकले। यमुनातटपर घूमते हुए एक झोपड़ी दिखलायी पड़ी। उसके द्वारके सामने गये तो देखा कि एक झोपड़ीमें एक तपस्विनी वृद्धा है। अर्जुनको यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वृद्धाने एक तल-वार समीप रख छोड़ी है। अर्जुन इसका कारण जानना चाहते थे। भगवान्‌ने उनसे कहा--'तुम स्वयं जाकर पूछो; किन्तु अपना परिचय मत देना और मेरे यहाँ आनेका समाचार भी मत देना।'

अर्जुनने जाकर वृद्धाको प्रणाम किया और बोले--'माता! आप तो तपस्विनी हैं। आपने यह तलवार क्यों रखी है?'

वृद्धा--'दुष्टा द्रौपदी तथा स्वार्थी अर्जुनको मारनेके लिए मैंने यह तलवार रखी है!'

अर्जुन घबड़ाये और पूछा--'इन दोनोंने क्या ऐसा अपराध किया है कि उनपर आपका ऐसा रोष है ?'

वृद्धा--'कम अपराध किया है इन दोनोंने ! द्रौपदीको जब दुःशासन कौरव-सभामें पकड़ लाया और उसकी साड़ी खींचने लगा तो उसने पुकार-पुकार श्यामसुन्दरको द्वारकासे भोजनकी परसी थाली छोड़कर छोड़नेको विवश कर दिया। यह भी नहीं सोचा कि मैं अपवित्र दशामें हूँ--रजस्वला हूँ। मधुसूदनको उसका वस्त्र बनना पड़ा। अरे वह नंगी हो रही थी तो हो जाती; पर कृष्णको इतना कष्ट तो न उठाना पड़ता ! अर्जुन तो उससे बड़ा स्वार्थी और निष्ठुर है। उसने श्रीकृष्णसे अपना रथ हँकवाया। युद्धमें बाण चलते तो पहले कृष्णको लगते। अरे पाण्डव युद्धमें हार जाते, मारे ही जाते तो ऐसा क्या बिगड़ जाता कि गोपालको इतना-इतना क्लेश दिया उसने !

अर्जुन सिर नीचा किये लौट आये। उनकी समझमें आगया कि 'भगवान्‌ने तो अपनी भक्तवत्सलता निभायी; किन्तु मैंने प्रेमीके कर्तव्यका पालन नहीं किया।'

भक्त भगवान्‌को कष्ट नहीं देता। भक्तिमती रबिया प्रार्थना किया करती थी--'प्रभो ! यदि मैं नरकसे बचनेको आपका भजन करती होऊँ तो मुझे स्वर्गका दर्शन कभी मत कराना और मुझे नरककी अग्नि में झोंक देना।'

कामना मिटे बिना न तो प्रेम पूर्ण होता है, न ज्ञान प्राप्त होता है, न भक्ति ही आती है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
तदा मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

(कठो० २.३.१४)

'जब इस साधकके हृदयमें स्थित समस्त कामनाएँ स्वतः छूट जाती हैं तब वह मरणधर्मा मानव अमरत्वको पा लेता है और यहीं--इस जीवनमें ही ब्रह्मानन्दका अनुभव करता है।'

अतएव जन्मसे मृत्युपर्यन्त अपने शरीर-निर्वाहका काम स्वयं करो। भगवान्‌पर अपने भोजनाच्छादनका भार मत डालो।

शरीर-निर्वाहके लिए अमुक रीति नहीं निर्धारित की जा सकती। जैसे चार व्यक्तियोंने एक साथ समान मात्रामें भाँग पी। उनमें-से एक गाने लगा, दूसरेको निद्रा आगयी, तीसरा गालियाँ बकने लगा और चौथेको नशा ही नहीं चढ़ा। भंग तो सबने एक साथ, एक मात्रामें पी; किन्तु उनके स्वास्थ्य, प्रकृति आदिके कारण उनपर उसका भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार ज्ञान हो या भक्ति, उसकी खुमारी चढ़नेपर सबका आचरण समान नहीं रहता। अतः जिसका जैसा अभ्यास हो, बचपनसे जैसा संस्कार पड़ा हो वैसा आचरण करना चाहिए। गद्दीपर बैठनेका अभ्यास हो तो गद्दीपर बैठो और कुर्सीपर बैठनेका अभ्यास हो तो कुर्सीपर बैठो।

•

निश्चयकी दृढ़ताके विभिन्न लक्षण

● संगति

निश्चय दृढ़ होनेके अनन्तर लोक एवं शास्त्रका रक्षण होवे किन्तु उसके पूर्व इनके चक्करमें न पड़कर भक्ति ही करनी चाहिए; अन्यथा भक्ति-पथसे गिर जानेकी आशंका है। इतना कहनेके पश्चात् यह बतलाना आवश्यक है कि कोई कैसे समझे कि निश्चय दृढ़ हुआ या नहीं, अतएव निश्चयकी दृढ़ताके लक्षण बतलाते हैं। ●

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात् ॥ १५ ॥

उस (निश्चय दृढ़ होने)के लक्षण अनेक मतभेदोंके अनुसार कहे जा रहे हैं ॥ १५ ॥

इस सूत्रमें 'तत्'से किसका ग्रहण करना चाहिए, यह विचारणीय है। प्रायः टीकाकारोंने 'तत्'का अर्थ भक्ति' किया है और सूत्रका अर्थ किया है कि 'अब नाना मतभेदोंके अनुसार भक्तिके लक्षण कहे जा रहे हैं।' किन्तु भक्तिका लक्षण तो पहले ही बता चुके हैं। भक्तिका विधानात्मक लक्षण--'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' (ना० भ० सू० २) तथा 'अमृतस्वरूपा च' (ना० भ० सू० ३) इन दो सूत्रोंके द्वारा बतलाया और व्यावर्तक लक्षण--'सा न कामयमाना' (ना० भ० सू० ७) इस सूत्रसे बता दिया। अब भक्तिका लक्षण बतलाना आवश्यक नहीं है।

सूत्र-शास्त्रकी प्रणाली यह है कि एक सूत्रमें-से दूसरे सूत्रका उद्गम होता है। सूत्र सकारण होते हैं। अवान्तर पदार्थके भी लक्षण बतलाने पड़ते हैं। जैसे 'निरोध'का लक्षण एक सूत्रमें बतलाया गया है।

अतएव **निश्चयदाढर्यं सञ्जातम् इति केन लक्षणेन ज्ञायते ? इति आकाङ्क्षायाम्**--'निश्चय दृढ़ हो गया यह किस लक्षणसे जाना जाता है, ऐसी आकांक्षा होनेपर' यह सूत्र कहा गया है। अतः यहाँ 'तत्'का अर्थ 'निश्चयकी दृढ़ता' करना ही उपयुक्त है।

निश्चयकी दृढ़ताके नाना लक्षण महात्माओंने बतलाये हैं। नाना लक्षण क्यों ? बात यह है कि अमतके सम्बन्धमें लक्षण एक नहीं हो सकता।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

(केनो० २.३)

'जो मतातीत परमात्माके विषयमें बोलते-बोलते अन्तमें चुप हो जाता है, उसका वह अमत ही ठीक मत है। जो अपना कोई मत बताता है, वह तो उसे जानता ही नहीं।'

व्यक्तिमें अनुरक्ति होती है। इस प्रकार सबके हृदयमें भक्ति उत्पन्न होती है--हो सकती है और वह भावमूलक है। भक्तिमें भगवान् विषय बनकर रहते हैं। ज्ञान प्रमाणमूलक है किन्तु भक्ति तो भावनानुसार होती है। अतः प्रत्येकमें भक्तिका ढंग निराला होता है। इसलिए भक्तिमें निश्चयकी दृढ़ताके अनेक लक्षण महात्माओंने बतलाये हैं।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥ १६ ॥

पूजा (कीर्तन) आदिमें अनुराग हो जाना (निश्चयकी दृढ़ताका लक्षण है) ऐसा महर्षि पराशरके पुत्र भगवान् व्यासका मत है॥ १६ ॥

कथादिष्विति गर्गः ॥ १७ ॥

(भगवान्‌की) कथा सुनने आदिमें (अनुराग हो जाय तो दृढ़ निश्चय हो गया) ऐसा गर्गाचार्यका मत है ॥ १७ ॥

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥ १८ ॥

आत्मरतिका अविरोधी (पूजादि तथा कथादिमें) अनुराग होना (निश्चयकी दृढ़ताका लक्षण है) ऐसा महर्षि शाण्डिल्य कहते हैं ॥ १८ ॥

'पूजादिष्वनुरागः' अर्थात् क्रियायोगमें प्रीति—मूर्तिकी स्थापना करना, प्राण-प्रतिष्ठा करके अथवा अन्य रीतिसे वेदीमें, जलमें, चित्रादिमें भगवान्‌की विधिपूर्वक पूजा करना। यदि मूर्ति प्राण-प्रतिष्ठित नहीं है तो आवाहन करना (बुलाना), आसन देना, अर्घ्य (हाथ धुलाना), पाद्य (चरण धुलाना), आचमन (कुल्ला कराना), स्नान कराना, वस्त्र-उपवस्त्र (धोती तथा उत्तरीय) देना, यज्ञोपवीत देना, चन्दन-रोली-अक्षत (विष्णु-पूजामें अक्षतके स्थानपर सफेद तिल) चढ़ाना, पुष्प, माला, आभूषण चढ़ाना, सुगन्ध (इत्रादि) लगाना, धूप देना, दीपक जलाना (दीपक जलाकर हाथ धो लेना आवश्यक होता है), तब नैवेद्यमें अन्न-फल आदि अर्पित करना, मुखवासके लिए ताम्बूल देना, आरती करना और यह सब करके भगवान्‌को स्तुति करना। भगवान्‌के सम्मुख कीर्तन, गायन, जप, पाठ, ध्यान करना। यात्रा-महोत्सवादि करना। यह सब पूजन—क्रियायोग है। इसमें अनुराग हो जाय तो समझना चाहिए कि अब भक्तिका निश्चय दृढ़ हो गया। आजकल क्लबमें यद्यपि नाचना-गाना सांस्कृतिक कार्यक्रम तथा कीर्तन-भजन पिछड़ापन माना जाता है किन्तु भक्त ऐसे लोगोंकी चर्चाको महत्त्व नहीं देता।

'अनुराग'--जो रागके पीछे हो वह अनुराग। 'सुखानुशयी रागः'—जहाँ स्मरण करनेमें सुख हो उसे राग कहते हैं। वास्तविक रागी भगवान् ही हैं। जीवसे वे राग करते हैं। जीवने भगवान्को विस्मृत कर दिया है किन्तु भगवान्ने जीवको विस्मृत नहीं किया है। वे ही जीवको सत्ता तथा प्रकाश देनेवाले हैं। वे ही जीवके रक्षक-पालक हैं। उसे वे सदा अपनी गोदमें ही रखते हैं। जीव सदा उन प्रभुकी गोदमें ही रहता है। अतः जीवसे वास्तविक राग करनेवाले भगवान् ही हैं।

'अनुराग'—राग करनेवालेके प्रति राग करना। उन प्रभुने हमारे लिए पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्र, तारे, ऋतुएँ आदि बनायीं; हमें जीवन तथा जीवनकी समस्त सुविधाएँ प्रदान कीं---उनके इस राग—प्रेमका विचार करके उनके प्रति प्रेम करना, ईश्वरसे अनुराग करना है।

भगवान्की पूजामें अनुराग हो जाय तब समझना कि भक्तिमें निश्चय दृढ़ हो गया। जीवनकी एक शैली, एक रहनी बने बिना निश्चय दृढ़ होनेका क्या पता लगता है! यह भगवान् व्यासका मत है।

पूजादिमें अनुराग क्रिया-प्रधान दृढ़ता हुई। जिसमें अनुराग होगा उसमें लगन होगी, क्षण-क्षण नवीनता होगी, उसे करनेमें रस आवेगा। प्रेमकी लगन होनेपर वह कभी छूटेगा नहीं। जब स्नेहपूर्ण लगन होती है तो हृदय द्रवित होता है, उसमें कुछ छेड़-छाड़—मान भी आता है। प्रेम निर्भय बना देता है। अनुराग, लगन, स्नेह, प्रेम, प्रणय आदि शब्द पर्यायवाचककी भाँति प्रयुक्त होते हैं; किन्तु गुड़, राब, चीनी, मिश्री, ओला एवं कन्दके समान इनमें तारतम्य है।

पूजामें अनुराग आवश्यक है। तुम वही और ठाकुरजी वही। वही अर्घ्य, पाद्य, आचमनादिकी क्रिया प्रतिदिन। यदि अनुराग

नहीं होगा तो पूजा मशीनी क्रिया बन जायगी। मन कहीं है और अभ्यासवश पूजा-सेवा चल रही है, ऐसी पूजा अनुरागरहित है।

जब पूजामें नित्य नवीन रस, नवीन उत्साह, नवीन कला प्रकट हो तब अनुराग है। एक सज्जनको मैं जानता हूँ जो पूजा भी करते रहते हैं, साथ-साथ दूसरे लोगोंसे बातचीत भी करते रहते हैं।

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

'क्षण-क्षणमें जो नया-नया लगे वह रमणीय-मनोहर है' और इस रमणीयताको उत्पन्न करता है अनुराग। अनुराग होगा तो लगेगा—'आज ठाकुरजी हँस रहे हैं, आज उदास लगते हैं, आज प्रसन्न हैं, आज रूठे हैं, आज अप्रसन्न हैं, अवश्य मुझसे कोई भूल हुई होगी।'

जब अनुराग होगा तब प्रतीत होगा—'ठाकुर आज भूखे हैं। इस समय इन्हें प्यास लगी है। आज जो वस्त्र मैंने धारण कराया, वह इन्हें पसन्द नहीं आया। आज तो ये अमुक फल अथवा सब्जी खाना चाहते हैं।'

ऐसा अनुभव होगा तब पूजामें रस आवेगा। जहाँ रस नहीं आता वहाँ काम मशीनी हो जाता है। पूजामें रस आवे—अनुराग हो, तब समझना कि निश्चय दृढ़ हुआ।

कथादिष्विति गर्गः—भगवान् व्यासने क्रियायोगकी प्रधानतासे—कर्मेन्द्रियोंकी प्रधानता रखकर पूजादिमें अनुरागको निश्चयकी दृढ़ताका लक्षण माना है। गर्गाचार्य ज्ञानेन्द्रियोंकी प्रधानतासे कथा-श्रवणादिमें अनुराग होनेको निश्चयकी दृढ़ताका लक्षण मानते हैं।

जप तथा कथा-श्रवणमें अन्तर है। जपमें एक ही मन्त्रकी आवृत्ति की जाती है और कथामें नवीन-नवीन लीलाएँ आती हैं।

व्याख्यान होता है अपना दल, अपनी पार्टी बढ़ानेके लिए। अपना सम्प्रदाय बढ़े, इसलिए व्याख्यान दिया जाता है। साधकका संशय दूर करनेके लिए सत्संग होता है किन्तु कथा श्रोताके हृदयमें भगवद्रस उत्पन्न करनेके लिए होती है। भक्तको कथा प्रिय है। उसे व्याख्यान अथवा संगीत प्रिय नहीं होता।

भगवान्‌का स्मरण करके उसमें रस लेना भजन है। यह भजन चाहे मालासे हो, पाठसे हो, पूजासे हो अथवा पदगानसे हो। जितना भजन होगा उतना कथामें रस आवेगा। कथासे भगवान्‌में प्रेम बढ़ता है और प्रेम बढ़नेसे सेवा बढ़ती है।

कथा बलात् चित्तको पकड़कर भगवान्‌में लगा देती है। यदि संसारमें लगे रहना है, संसारका–विषयोंका रस लेना है तो भगवत्कथासे दूर रहो। यदि भक्तिमें लगना है, नित्य आनन्द प्राप्त करना है तो कथामें जाओ।

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥
(श्रीमद्भाग० १०.४७.२८)

'जिन भगवान्‌के लीलाकथारूपी अमृतको केवल एक बार कर्णके मार्गसे पीकर, सुनकर, आस्वादन करके सुख-दुःखादि द्वन्द्वात्मक धर्म नष्ट हो गये और ऐसे बहुत-से लोग कथारसका आस्वादन करके तत्काल अपने कुटुम्बको दुःखी बनाकर स्वयं निष्किञ्चन परमहंस बनकर भिक्षाजीवी हो गये, उन्हें कथाने पागल बना दिया।'

कथामें अनुराग क्या? यह तो वही कथा है जो मैंने पहले सुनी है, ऐसी वृत्ति न आवे और कथा नित्य-नवीन रस-प्रदायिनी लगे, यह कथामें अनुराग है।

रामचरित जे सुनत अघाहीं । रस बिसेष जाना तिन नाहीं ।।

अनुराग नहीं होगा तो दृढ़ता नहीं आवेगी । तब लगेगा—'बहुत सुन लिया, यह तो इन कथावाचकोंका व्यवसाय ही है ।'

स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता ।

जैसे लम्पट पुरुष परस्पर स्त्रियोंके हाव-भाव-विलासकी चर्चा करते थकते नहीं, उसमें उन्हें सदा रस आता है, वैसे ही साधु पुरुष भगवान्‌की चर्चा, भगवान्‌की कथा करते हुए कभी तृप्त नहीं होते । इसमें उन्हें नित्य-नवीन रस मिलता है ।

भगवान्‌की कथा नहीं सुनोगे तो शत्रुकी, स्त्रियोंकी, राजा या नेताओंकी, भोगोंकी--संसारकी कथा सुननेको मिलेगी । वह हृदयको मलिन एवं क्षुब्ध बनावेगी । यदि तुम अपने हृदयको शुद्ध करना चाहते हो, शान्त रखना चाहते हो तो भगवान्‌की कथा सुनो । भगवत्कथा हृदयको शुद्ध भी करती है और भगवान्‌का प्रेम भी देती है ।

या अनुरागी चित्तकी गति समुझै नहिं कोय ।
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्यामरँग, त्यों-त्यों उज्वल होय ।।

अपनेको श्यामरंगमें रँगना हो तो श्यामसुन्दरकी लीला-कथा-श्रवण करो । श्रीकृष्ण यह नाम सुना तो मनमें वह नवजलधर-सुन्दर, नटखट मुरलीमनोहर आगया । प्रत्येक बार उसकी कथा सुननेमें नया रस, नया आनन्द आता है, यह भक्तिमें निश्चयकी दृढ़ता है ।

यही सर आवत अति कठिनाई । रामकृपा बिनु आइ न जाई ।।
जौं करि जतन जाइ पुनि कोई । जातहिं नींद जुड़ाई होई ।।
जड़ता जाड़ विषम उर लागा । गयेहुं न मज्जन पाव अभागा ।।
(रा० च० मा०)

दो सौ मीलकी कठिन यात्रा करके तो गंगोत्तरी पहुँचे; किन्तु वहाँ ठण्ड लगने लगी और गंगामें स्नान किये विना ही लौट आये। ऐसे लोगोंको मैं जानता हूँ।

जे यहि बारि न मानस धोये। ते कायर कलिकाल बिगोये॥
(रा० च० मा०)

'जो भगवान्‌के कथा-श्रवणमें नहीं लगे वे कायर हैं। कलियुगने उन्हें बहकाकर नष्ट कर दिया।' वे राग-द्वेषके चक्करमें पड़ गये।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

इसमें श्रवणसे ज्ञानेन्द्रियोंके कर्म उपलक्षित हैं, कीर्तन कर्मेन्द्रियोंके कर्मका उपलक्षण है और स्मरणसे अन्तरिन्द्रिय उपलक्षित है। इनमें भी श्रवण प्रथम भक्ति है। गोपियोंने 'कथा-श्रवण'के सम्बन्धमें कहा है—

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥
(श्रीमद्भाग० १०.३१.९)

'श्यामसुन्दर! तुम्हारी कथा अमृत है, भवताप-संतप्त प्राणियोंको जीवनदान करनेवाली है। बड़े-बड़े मनीषी इसका गान करते हैं क्योंकि यह समस्त पापोंको नष्ट करनेवाली, केवल सुननेसे ही मंगल करनेवाली और अनन्त वैभवसे भरपूर है। संसारमें वे सबसे बड़े दानी हैं जो तुम्हारी कथाका वर्णन-गायन करते हैं।'

भगवान् श्रीराम जब साकेत पधारने लगे तो उन्होंने पवनकुमारसे कहा—'हनुमान्! मैं तो अपने नित्यधाम जा रहा हूँ; किन्तु तुम मेरे भक्तोंकी रक्षाके लिए पृथ्वीपर रहो।'

श्रीहनुमान्‌जीने प्रभुकी आज्ञा स्वीकार करते हुए कहा—

यावत् तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी।
तावत्स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन्॥

'जबतक पृथ्वीपर आपकी पतितपावनी कथा रहेगी तबतक मैं पृथ्वीपर आपकी आज्ञाका पालन करता हुआ रहूँगा।' भगवान्‌के वियोगका दुःख तो श्रीमारुतिको असह्य नहीं है, किन्तु भगवत्कथा सुननेको न मिले, यह असह्य है।

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः।
कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान्॥
(श्रीमद्भाग० १०.३५.१)

'श्रीकृष्ण जब गोचारणके लिए वनमें चले जाते थे तब उनके प्रेमसे द्रवितहृदया गोपियाँ उनकी लीलाका गान करती हुई दुःखपूर्वक दिन व्यतीत करती थीं।'

वीणां करे मधुमतीं मधुस्वरां ता-
माधाय नागरशिरोमणिभावलीलाम्।
गायन्त्यहो दिनमपारमिव स्रवन्ती
दुःखान्नयत्यहह सा हृदयेऽस्तु राधा॥

'करकमलोंमें मधुर स्वरवाली मधुमती नामक वीणाको लेकर नागरशिरोमणि श्यामसुन्दरकी भावलीलाको गाती, नेत्रोंसे अश्रुधारा गिराती तथा दिनको अपार कालके समान किसी प्रकार काटती हुई श्रीराधा मेरे हृदयमें विराजमान रहें।'

कथा भगवान्‌के रूप-सौन्दर्यकी, उनके तात्त्विक स्वरूपकी, गुणोंकी, स्वभावकी, चरितकी होती है।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके दो भक्तोंमें एक बार विवाद छिड़ा। एक कहता था—'महाराज बड़े निष्ठुर हैं।'

दूसरा कहता था—'महाराज बड़े दयालु हैं।'

जब परस्पर बात तय नहीं हुई तो दोनों महाराजजीके पास गये और उनसे ही पूछा—'आप कैसे हैं?'

श्रीउड़ियाबाबाजी बोले—'स्वरूप तो मेरा असंग है और दया मेरा स्वभाव है।'

इस प्रकार भगवान्के स्वरूप, गुण, स्वभाव, लीलादिके श्रवण-कीर्तनमें जब रस आवे, उसमें अनुराग हो जाय, तब समझो कि निश्चय दृढ़ हुआ।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः।

पहलेके जो व्यास और गर्ग मुनिके दो मत हैं कि पूजादिमें अनुराग होना अथवा कथादिमें अनुराग होना दृढ़ निश्चयका लक्षण है, उसपर महर्षि शाण्डिल्य एक **परिष्कार**—एक टिप्पणी कर रहे हैं। इनका कहना है कि अनुराग पूजादिमें हो या कथादिमें, उसे आत्मरतिका विरोध करनेवाला नहीं होना चाहिए। यह न हो कि उससे आत्मरति ही छूट जाय। शाण्डिल्य-भक्ति-दर्शनमें आया है **उभयपरां शाण्डिल्यः**—'भक्ति वह है जिसमें आत्मरति और परमात्मरति दोनों हों।' कथामें जाते हैं, बैठते हैं; किन्तु उसमें कोई रस, कोई आनन्द नहीं आता तो निश्चय दृढ़ नहीं हुआ। जबतक आनन्द न आने लगे तबतक निश्चय दृढ़ नहीं समझना चाहिए। जब पूजा या कथामें आनन्द आने लगेगा तब वे अपनेसे छूट ही नहीं सकते।

पूजा-कथामें अनुराग तो हो किन्तु उसमें आत्मा-परमात्माका ज्ञान छूट न जाय। अर्थात् यह देखते रहो कि पूजा या कथामें तुमको जो रस—आनन्द आ रहा है वह तुम्हारे भीतरसे, भगवान्के सान्निध्यसे या हृदयमें उनका दर्शन करके आता है अथवा पूजामें जो सुगन्ध, सजावट, नाना प्रकारके प्रसाद हैं उनका स्वाद लेनेसे या कथामें जो संगीत, वक्ताका स्वर, ललित शब्दावली आदि है उसके आस्वादनसे आता है?

पूजा या कथामें अपने भीतरसे आनन्द आना चाहिए। बाहरके पदार्थों—संगीत आदिका आकर्षण ऐसा न हो जाय कि पूजा या कथा आत्मरतिकी विरोधिनी हो जायँ।

कोई घंटी ही ले गया इसलिए आज पूजन नहीं होगा। कोई घंटा ले गया इसलिए आज कीर्तन बंद। आज माला टूट गयी इसलिए जप नहीं हुआ। मन्दिरमें या कथामें बड़ी भीड़—बड़ा धक्कमधक्का होता है, इसलिए वहाँ नहीं जाते। कथामें बिछी दरी गंदी होती है अथवा कथावाचकका स्वर फटे बाँस-जैसा है। अतः तुमको कथामें जाना नहीं रुचता। ये सब बातें कहती हैं कि तुम्हें पूजा या कथामें अनुराग नहीं है। तुम्हारा रस घंटी, घंटे और मालामें, शरीरको धक्का न लगने देनेमें, स्वच्छासनमें तथा वक्ताके स्वरमें है। यह सब आत्मरतिका विरोधी रस है। पूजा या कथामें अनुराग हो; किन्तु वह किसी बाह्य आकर्षणका अनुराग न हो, वह आत्मरतिका विरोधी न हो, तब समझना कि निश्चय दृढ़ हुआ।

•

देवर्षि नारद्का मत

• संगति

भगवान् व्यास, गर्गाचार्य तथा महर्षि शाण्डिल्यका मत उद्धृत कर देनेपर यह बताना आवश्यक हो गया कि अपनेको इनमें-से ही कोई मत मान्य है अथवा इनसे पृथक् अपना कोई मत है। अतः देवर्षि अब अपना मत बतलाते हैं। •

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥ १९ ॥

परन्तु देवर्षि नारद उन (भगवान्)को अपने सब कर्म समर्पित कर देने तथा उनके विस्मरणमें परम व्याकुल होनेको (निश्चयकी दृढ़ताका लक्षण) मानते हैं ॥ १९ ॥

देवर्षि नारदका कहना है कि भक्तिके केवल एक अंग पूजा अथवा कथामें अनुराग हो जानेसे, भले वह अनुराग आत्मरतिका विरोधी न हो; किन्तु इतनेसे ही निश्चय दृढ़ हो गया ऐसा नहीं माना जा सकता।

मनुष्य-शरीरका आचरण किसके लिए? अपने परिसीमित मैं'के लिए? यदि कहो कि 'ब्रह्मके लिए', तो वह तुम स्वयं हो। उसके लिए किसी कर्मकी आवश्यकता नहीं है। दैहिक व्यवहार परिच्छिन्न 'मैं'के लिए मत करो। उसे भगवान्को समर्पित करो। सम्पूर्ण कर्म भगवान्के लिए करो।

मैंने ऐसे बहुत लोगोंको देखा है जो कथामें रोते थे, कीर्तनमें नृत्य करते थे, किन्तु जब वे योगमें अथवा वेदान्त-श्रवण-चिन्तनमें लगे तो उनमें भक्तिका संस्कार ही नहीं रह गया। इसका यही तात्पर्य है कि पूजा, कथा आदिमें जो अनुराग है, वह निश्चयकी दृढ़ताका पक्का लक्षण नहीं है।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२.१४)

जो निरन्तर–सदा, सब अवस्थामें सन्तुष्ट रहनेवाला होगा वह योगी होगा। जो योगी होगा वह यतात्मा–संयतचित्त होगा और चित्त संयत होगा तब वह दृढ़निश्चयी होगा। इस दृढ़-निश्चयकी पहचान क्या है? उसका मन तथा बुद्धि भगवान्‌में अर्पित है। भगवान्‌को मन-बुद्धि अर्पित करनेवाला ऐसा दृढ-निश्चयी ही सच्चे अर्थमें भक्त है और ऐसा भक्त भगवान्‌को प्रिय है।

'तदर्पिताखिलाचारता'—जागनेसे सोनेतक और सोनेसे जागनेतक अपना समस्त आचरण भगवान्‌के लिए होने लगे; अपने कर्मोंमें यह अपने लिए, यह स्त्री या पुत्रके लिए इस प्रकार बँटवारा न हो।

जबतक निश्चय दृढ़ न हो कि 'मैं तेरा तू मेरा ठाकुर' तबतक निरोध पूरा नहीं होता। यह मनुष्य-जीवनकी चर्या है कि उसे भगवान्‌के हाथकी कठपुतली बना दो। भक्तिकी बात व्यक्तिकी बात है! ब्रह्मकी बात सर्वात्माकी बात है! स्वर्णका ज्ञान, स्वर्णकी चर्चा एक भिन्न बात है। आभूषणका तात्त्विक रूप जाननेके लिए स्वर्णका ज्ञान आवश्यक है। किन्तु आभूषणकी चर्चा, आभूषणका ज्ञान कि किस आभूषणको कहाँ पहनना चाहिए, उपेक्षणीय नहीं है।

व्यक्ति तो कहीं न कहीं समर्पित होगा ही। तुम अपने व्यक्तित्वको देखो कि वह कहाँ समर्पित है। धर्मनिष्ठ धर्मके प्रति समर्पित होता है—**यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति**। 'जबतक जीये, अग्निहोत्र करता रहे।' व्याकरणका प्रेमी व्याकरणके प्रति समर्पित होता है--**यावज्जीवमध्येयं व्याकरणम्**। 'जबतक जीये, व्याकरण पढ़ता रहे।' इसी प्रकार कोई धनके प्रति, कोई स्त्री या पुत्रके प्रति, कोई भोगके प्रति, कोई पद-प्रतिष्ठाके प्रति अथवा कोई देश या समाजके प्रति अर्पित होता है।

द्रष्टा-दृश्यका विवेक करनेवाले जो शरीरको प्रकृतिमें डाल देते हैं, उनकी देह प्रकृतिको अर्पित है। प्रारब्धवादी कहते हैं—**प्रारब्धाय समर्पितं वपुः**। 'शरीरको प्रारब्धपर छोड़ दिया। उसका जो होना हो वह हो।'

वेदान्ती मानते हैं कि जीवन-मरण अध्यासमात्र हैं। देह ब्रह्ममें भास रहा है। यदि बोध हो गया तब तो ब्रह्म ही है, बोध न हुआ तो भावके द्वारा वे ब्रह्मार्पित होते हैं।

वेदान्तमें दृढ़निश्चयसे बोधका ग्रहण होता है। आत्माके ब्रह्मसे एकत्वका बोध हुआ और अविद्याकी निवृत्ति हो गयी, इसका नाम वेदान्तमें दृढ़ निश्चय है। भक्तिमें दृढ़ निश्चय क्या है? भगवान्को समस्त आचार, अपने समस्त कर्म समर्पित कर देना तथा उनके विस्मरणमें अत्यन्त व्याकुलताका होना।

विस्मरण ही मरण है। विष + मरण = विस्मरण। भगवान् भूलेंगे तो संसारका विषय-विष चढ़ेगा—**विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः**। विपत्ति क्या है? भगवान्की विस्मृति, और सम्पत्ति क्या? भगवान्का स्मरण होते रहना?

कह हनुमान बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ॥

शास्त्रमें जितने विधि-निषेध हैं, वे इसी तथ्यके सेवक हैं—इसी तथ्यको सम्पुष्ट करनेके लिए हैं कि निरन्तर भगवान्का स्मरण करना चाहिए। भगवान्को कभी भूलना नहीं चाहिए।

भगवान्की स्मृति बनी है तो तुम्हारा पाप भी पुण्य बन जायगा और यदि भगवान् भूल गये तो तुम्हारा पुण्य भी अहंकार उत्पन्न करके बन्धन देनेवाला, पतनका हेतु हो जायगा।

अस्त्येवमेवम् ॥ २० ॥

यह ऐसा ही है ॥२०॥

अपने बताये लक्षणको अधिक दृढ़ करनेके लिए कहते हैं कि भगवान्को समस्त कर्मार्पण तथा उनके विस्मरणमें परम-व्याकुलता होना, यह जो दृढ़ निश्चयका लक्षण बतलाया गया, यही ठीक है।

निश्चयकी दृढ़ताकी आदर्शभूता व्रजगोपियां

• संगति

यह लक्षण किसीमें देखनेमें भी आया ? यदि किसीमें कभी यह लक्षण देखनेमें ही न आया हो तो अव्यावहारिक होगा। लक्षण तो ऐसा होना चाहिए जो व्यावहारिक हो, जीवनमें लाया जा सकता हो। यह समझनेके लिए बताते हैं कि किनके जीवनमें यह लक्षण आया था। •

यथा व्रजगोपिकानाम् ॥ २१ ॥

जैसे व्रजकी गोपियोंकी (अवस्था थी) ॥ २१ ॥

मम भवतु परस्मिन् शेमुषी प्रीतिरूपा।

'हमारी बुद्धि प्रीतिपूर्वक भगवान्‌में लगी रहे,' यह महापुरुषोंकी कामना होती है। महाभाष्यकार पतञ्जलिने ये चार बातें करणीय बतलायी हैं—१. शास्त्र पढ़ें, २. उसे समझें, ३. उसका आचरण करें, ४. उसका प्रचार करें। परन्तु यदि कोई इसीमें लग गया तो भक्ति कब करेगा ? अतः इसका हठ कर लें कि हमें तो भजन करना ही है। **बुद्धेः फलमनाग्रहः**—'बुद्धिमान् व्यक्ति आग्रही नहीं होता' किन्तु भक्तिमें तो हठ करना ही बुद्धिमानी है—

ताते जे हरि भगत सयाने। मुकुति निरादरि भगति लोभाने॥

मुक्ति आत्माका स्वरूप है और भक्ति व्यक्तिका स्वरूप है। इसलिए बुद्धिमान्—पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं। जीवन रहे, तबतक वह प्रेमरसमें डूबा रहे। यह निश्चयकी दृढ़ता गोपियोंमें देखनेमें आयी। गोपियोंका समस्त आचरण श्रीकृष्णके लिए था। सबेरे उठीं, घरको बुहारा-लीपा, चित्रित किया, मंगल-कलश सजाया। सास ससुर, पति बहुत प्रसन्न हो रहे हैं कि बहू घरके काममें बहुत चतुर है; किन्तु उस गोपीके मनमें क्या है?—'थोड़ी देरमें नन्दनन्दन इधरसे निकलेंगे। मेरे घरको स्वच्छ, सजा हुआ देखकर प्रसन्न होंगे।'

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(श्रीमद्भा० १०.४४.१५)

मथुराकी स्त्रियाँ श्रीकृष्णचन्द्रको देखकर कहती हैं—'हम नागरी हैं तो क्या हुआ, धन्य तो हैं व्रजकी गोपियाँ, जिनके चित्तके यान–रथपर सदा ये श्रीकृष्ण विराजमान रहते हैं। वे गाय दुहते, धान कूटते, दही मथते, रोते बच्चेको झूला झुलाते, बुहारी देते, बर्तन मलते—सब अवस्थाओंमें अनुरक्त चित्तसे आँसू बहाते, गद्गद कंठसे इन श्रीकृष्णका ही गान करती हैं।'

गोपी कहीं जा रही है, धान कूट रही है। उसके नेत्र झर रहे हैं, कण्ठ भरा है, मुखसे उसी नवघनसुन्दरकी लीलाका गान हो रहा है। मनमें आ रहा है—'धान कूट लूँ तो खीर बनाऊँगी। वनमाली खीर खायेगा।' दूध दुह रही है और सोच रही है—'अभी नन्दलाल पीछेसे आकर मेरी चोटी खींचेगा। मैं उसके मुखमें दूधकी धार दूँगी।'

बच्चा रो रहा है। उसे गोपी झूला झुलाते हुए कहती है—'लाला! चुप रह। अभी मयूरमुकुटी आवेगा। मैं तुझे उसकी गोदमें दूंगी। तुझे उसका सखा बना दूंगी।'

गोपी भोजन बनाती है—श्रीकृष्णको खिलानेके लिए। वह शृङ्गार करती है—श्रीकृष्णको रिझानेके लिए। उसका समस्त आचार श्रीकृष्णको समर्पित है। और उसकी परम व्याकुलता? वह अवर्णनीय है!

एक गोपी अत्यन्त व्याकुल है। बैठी रो रही है। किसीने पूछा—'तू आज रोती क्यों है?'

वह बोली—मैं प्रतिदिन पुष्पोंकी माला बनाया करती थी। यशोदाजीके लाड़ले गोचारणके लिए जाते हुए मेरे द्वारके सम्मुखसे निकलते थे तो उन्हें माला पहनाती थी। आज मुझे अपनी सपत्नीका स्मरण हो आया। चित्तमें बड़ी जलन हुई। माला बनाना भूल गयी मैं। हाय, उन वंशीधरके स्थानपर मैं किसी अन्यका स्मरण करने लगी!'

श्रीकृष्णने वंशी बजायी और गोपियाँ सब सांसारिक कार्य त्यागकर उन परमप्रियतमसे मिलने दौड़ पड़ीं—

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः॥
परिवेषन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्॥
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः॥
ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः॥

(श्रीमद्भाग० १०.२९.५–८)

'कोई गाय दुहने बैठी थी, वंशीध्वनि कानमें पड़ी तो दोहनी वहीं पटककर भागी ! दूसरीने दूध चढ़ा तो दिया चूल्हेपर, किन्तु अब उतारनेका स्मरण किसे है ! कोई भोजन परस रही थी घरके सदस्योंको, सो हाथका भोजन फेंक दिया और दौड़ पड़ी। एक कोई पुत्रको दूध पिला रही थी। उसने बच्चेको भूमिपर डाल दिया। कोई पतिकी सेवामें लगी थी, कोई भोजन करने बैठी थी, कोई घर लीप रही थी, कोई बर्तन मल रही थी और कोई नेत्रोंमें अञ्जन लगा रही थी। जिसके हाथमें जो कार्य था उसे उसने वहीं छोड़ा और दौड़ी वंशीध्वनिकी ओर। बहुत बाधा थी उनके लिए। पति-पिताने डाँटा, बन्धु-बान्धवोंने रोकना चाहा; किन्तु गोविन्दने तो उनके मनका अपहरण कर लिया था। वे क्या अपने देहकी स्मृतिमें थीं कि रुकतीं ! उनके तो वस्त्र, आभूषण सब अस्त-व्यस्त हो रहे थे। पैरका आभूषण हाथमें और हाथका कानमें। एक नेत्रमें अंजन तो दूसरा कोरा--वे तो श्रीकृष्णके समीप पहुँच ही गयी थीं।'

उन्होंने अपना अर्थ दूध-दही, अपना काम भोजनादि, अपना धर्म पति-पुत्रकी सेवा, अपना मोक्ष पतिका अनुगमन--सब छोड़ दिया कृष्णके प्रेममें। वे नन्दनन्दनके प्रेमकी पगली कहती हैं--

बावरे भये हैं लोग बावरी कहत मोहिं।

'पागल तो ये सब लोग हो गये हैं जो वनमालीको छोड़कर संसारके पदार्थोंके मोहमें पड़े हैं और उलटे मुझे पगली बतलाते हैं।' उद्धवने जब गोपियोंका यह लोकोत्तर प्रेम देखा तो बोले--

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(श्रीमद्भाग० १०.४७.६१)

"मैं चाहता हूँ कि इस वृन्दावनमें कोई ऐसी लता, क्षुप या तृण बन जाऊँ जिनपर इन गोपियोंकी चरण-धूलि पड़ती रहे क्योंकि इन्होंने दुस्त्यज स्वजन-सम्बन्धी तथा आर्यपथको छोड़कर उन मुकुन्दको प्राप्त कर लिया जिनकी पदवीको श्रुति ढूँढ़ती तो है— पाती नहीं।'

सृष्टिमें ऐसा त्याग देखनेमें नहीं आता। पुरुष तो सगे-सम्बन्धियोंका त्याग करके संन्यासी होते हैं किन्तु इन्होंने तो स्त्री होकर स्वजन छोड़े। स्त्रीका धर्म है कि वह पुरुषसे तादाम्य करके पुरुषोत्तमको प्राप्त करे; उस धर्मको–आर्यपथको अर्थात् परलोकको भी इन्होंने भी छोड़ दिया—'हम नरकमें भले ही जायँ, कन्हैयासे मुख नहीं मोड़ेंगी!'

भक्तको मोक्षकी कामना होती ही कहाँ है? वह तो कहता है—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥

'स्वामी! सहस्रों योनियोंमें-से जहाँ-जहाँ मैं जन्म लूँ वहाँ-वहाँ आपसमें मेरी अविचल, कभी न घटनेवाली भक्ति हो, इतनी ही मेरी कामना है।'

जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं।
तहँ तहँ नाथ देहु यह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू।
होइ नाथ यहि भाँति निबाहू॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

भक्तकी माँग तो इतनी है कि 'अज्ञानी लोगोंकी जैसी सुस्थिर प्रीति भोगोंमें होती है, आपके स्मरणमें वैसी ही प्रीति मेरे हृदयसे कभी दूर न हो।'

कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहिं राम॥

बनवासके समय श्रीसीतारामकी सेवामें रत श्रीलक्ष्मणजीके आन्तरिक भावका वर्णन गोस्वामी तुलसीदासजीने किया है—

सेवत लखन सीय रघुबीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं॥

प्रत्यक्ष विषयमें प्रीतिको राग कहते हैं। अपरोक्षमें प्रीतिका नाम ज्ञान है। परोक्षमें प्रीति भक्ति कहलाती है। यही ईश्वरको बड़ा करनेवाली बात है। गोपी-प्रेममें एक वैशिष्ट्य है। गोपनशीला होनेसे गोपीको गोपी कहा जाता है। गोपी घरमें रहती है और अपने प्रेमको छिपाकर रखती है कि उसपर संसारकी दृष्टि न पड़े।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीका एक ग्रन्थ है 'प्रेम-सम्पुट'। उसमें एक कथा आयी है—'एक बार श्यामसुन्दरने गोपीका का वेष बनाया और बरसाने पहुँचे। वहाँ श्रीराधासे मिले और बोले—'ये नन्दलाल तो बहुत बुरे हैं। इनके मारे व्रजमें रहना कठिन है। ये छेड़छाड़ तो गली चलते करते हैं किन्तु प्रेम किसीसे नहीं करते। तुमसे भी उनका प्रेम नहीं है। वे पता नहीं किसके-किसके साथ हँसते-खेलते रहते हैं।'

श्रीराधाने कहा—'सखी! यह तो इन मयूरमुकुटीका गुण है। इसे तू दोष क्यों बतलाती है! मुझसे इनका बहुत प्रेम है। अपने प्रेमको छिपानेके लिए ही वे दूसरोंसे हँसते-बोलते हैं क्योंकि प्रेम तो गुप्त रखने योग्य निधि है।'

प्रेमाद्वयो रसिकयोरपि दीप एव,
हृद्वेश्म भासयति निश्चलमेष भाति।
द्वारादयं वदनतश्च बहिर्गतश्चे-
न्निर्याति शान्तिमथवा तनुतामुपैति॥

'द्वैतको दूर करके दोको एक कर देनेवाला अद्वय प्रेम रसिकोंके हृदयोंको प्रदीपके समान प्रकाशित करता है और स्वयं भी हृदयमें स्थिर प्रकाशित होता है, किन्तु यदि यह मुखके द्वारसे बाहर आ जाय--अपने प्रेमको कहकर प्रकट कर दिया जाय तो यह प्रेमका प्रदीप या तो बुझ जाता है अथवा क्षीण पड़ जाता है।'

प्रेमीको अपने प्रेमका अभिमान नहीं होता। एक बार श्रीराधासे ललिताने कहा--'सखी! श्यामसुन्दरमें तुम्हारा बहुत अधिक प्रेम है!'

श्रीराधा बोलीं--

न क्षोदीयानपि मम सखि प्रेमगन्धो मुकुन्दे
क्रन्दन्तीं मां निजसुभगताख्यापनाय प्रतीहि।
खेलद्वंशीवलयिनमनालोक्य तं वक्त्रविम्बं
ध्वस्तालम्बा यदहमहहा प्राणकीटान् विभर्मि॥

श्रीराधा--'सखी! मेरे चित्तमें मुकुन्दके प्रेमकी लेशमात्र भी गन्ध नहीं है।'

ललिता--'फिर तुम इतना रोती क्यों हो?'

श्रीराधा--'तुम विश्वास करो कि यह रुदन-क्रन्दन तो मैं अपने सौभाग्यकी ख्यातिके लिए--'राधा श्रीकृष्णकी प्रेमिका है' यह सूचित करनेके लिए करती हूं!'

ललिता--'भला यह बात भी कहीं मानने योग्य है!'

श्रीराधा--'देखती नहीं हो कि जिस कमलमुखपर वंशी क्रीडा करती थी वह देखनेको नहीं मिलता--मेरा वह एकमात्र सहारा मुझसे छिन गया और फिर भी मैं इन क्षण क्षण काटते रहनेवाले प्राणरूपी कीड़ोंको धारण किये हूं!'

गोपियोंके सम्बन्धमें श्रीशुकदेवजीने कहा है--

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥
(श्रीमद्भाग० १०.३०.४२)

श्रीकृष्णमें ही मन लगाये, उनकी ही चर्चा करती, उनकी ही चेष्टाका अनुकरण करती वे गोपियाँ उन श्यामसुन्दरमें ही चित्तकी एकात्मता प्राप्त कर चुकी थीं, उन्हीं परमश्रेष्ठके गुणोंका गान कर रही थीं। उन्हें न अपने शरीरकी सुधि थी, न घरोंकी।'

गोपियोंके मनमें कृष्ण, वाणीमें उन्हींकी चर्चा—दूसरेकी चर्चा नहीं, वे कैसे चलते हैं, कैसे कटाक्षपूर्वक देखते हैं, कैसे मुस्कराते हैं, कैसे खड़े होते हैं--यही चर्चा, यही चिन्तन--क्षणभरको भी वे उन्हें भूलतीं नहीं। स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं--

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ॥
(श्रीमद्भाग० १०.४६.४)

'उनका मन-प्राण मुझमें ही लगा रहता है अर्थात् वे चिन्तन केवल मेरा करती हैं और जीवित मेरे लिए हैं, श्वास मेरे लिए लेती हैं। मेरे लिए देहके सब धर्म--सब सुख उन्होंने छोड़ दिये हैं। मैं ही उनका वल्लभ, प्रियतम एवं आत्मा हूँ और मनसे वे मुझमें ही स्थित हैं।'

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥
(श्रीमद्भाग० ११.१२.१२)

'जैसे समाधि में स्थित मुनिको अपना नाम-रूप भूल जाता है, जैसे समुद्रमें मिल जानेपर नदीका नाम-रूप नहीं रह जाता, ऐसे ही मुझमें गोपियोंने अपनी बुद्धि ऐसी लगा दी थी कि उनको अपने नाम, रूप, शरीर एवं संसारका ज्ञान ही नहीं था।'

ग्वालिनी प्रगट्यो पूरन नेहु।
दधिभाजन सिरपर धरे कहति गुपालहिं लेहु॥

संसारमें ऐसे प्रेमी भी होते हैं कि प्रेम भी करते हैं और कहते हैं--'महाराज, भूल जाता है वह मुझसे। कोई उपाय बतलाइये।'

प्रेमी भी हैं और विस्मृति भी है, आश्चर्यकी बात है! मेरे एक प्रेमीने मुझे एक बार भोजनका निमन्त्रण दिया। मैंने उनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् वे तीस घंटे बाद मेरे पास आये और बोले--'महाराज! मैं तो भूल ही गया कि आपको निमन्त्रित किया था।'

प्रेममें विस्मृति सम्भव ही नहीं है। विस्मृति है तो प्रेम कहाँ! गोपियाँ नित्य श्रीकृष्णकी स्मृतिमें डूबी रहती थीं। जब संसारकी स्मृति रहती है तब भगवान्‌की स्मृति नहीं होती। स्मरण तो समरण है। मरनेसे डरते हो तो इस प्रेमकी गलीमें मत आना—

सीस उतारौ भुइँ धरौ, तापर राखौ पाँव।
कबिरा कहै पुकारिकै, ऐसो होइ तौ आव।
यह प्रेमको पंथ करारो महा, तरवारकी धार पै धावनो है।

एक दिन गौरवर्ण, भूरी जटाएँ बिखराये, चुटिया फहराते, तेजोमय वपु देवर्षि नारद वीणा बजाते, हरिगुण गाते, आकाशसे व्रजमें उतरे। वहाँ देखते क्या हैं कि यमुना-किनारे घड़ा लुढ़का पड़ा है और उसे लानेवाली गोपी आसन लगाये, नेत्र बंद किये, पीठकी रीढ़ सीधी किये बैठी ध्यान कर रही है। देवर्षिको आश्चर्य हुआ कि व्रजमें यह योगिनी कहाँसे आयी! उन्होंने अपनी वीणा झंकृत की और 'गोविन्द हरे' की टेर लगायी। गोपीका ध्यान भंग हुआ। उसने नेत्र खोले। देवर्षिको देखकर झटपट उठकर प्रणाम किया। नारदजीने पूछा—'यहाँ यमुना-किनारे एकान्तमें क्या तुम श्रीकृष्णका ध्यान करने बैठी थीं?'

गोपी—उसका तो नाम मत लीजिये। मेरे मनमें तो उसने ऐसा उपद्रव मचा रखा है कि पूछिये मत। मैं घर लीपने लगी तो लगा कि वह उस लीपे भागको रौंदता चला गया है। दूध दुहने बैठी तो लगा, पास बैठकर कहता है कि मेरे मुखमें दूधकी धार डालो। मैंने उसके मुखमें दुहना चाहा, सब दूध भूमिमें गिर गया। धान कूटने लगी तो लगा कि मूसल पकड़कर खड़ा हो गया है। अभी घड़ा लेकर जल भरने आयी तो लगा कि उसने घड़ा पकड़ लिया है। यह सब मेरे मनका ही दोष है। वह यशोदाका लाड़ला तो मेरे पास आया नहीं था, मेरा मन ही मेरे वशमें नहीं है; इसलिए मैं यहाँ बैठकर नन्दके बेटेको मनसे निकाल देनेका प्रयास कर रही थी।'

देवर्षि नारदजीने सुना तो उनके नेत्रोंसे अश्रु गिरने लगे। वे गद्गद-कण्ठ होकर बोले—

प्रत्याहृत मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सते
बालेयं विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये रोगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल तस्य पश्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति ॥

(विदग्धमाधव)

'मुनिगण यम-नियम, आसान-प्राणायाम करके बड़े प्रयत्नपूर्वक विषयोंसे मनका प्रत्याहार करके उसे जिन श्रीकृष्णमें क्षण-भरको लगानेकी चेष्टा करते हैं, उस नन्दनन्दनसे मनको हटाकर यह गोपी संसारके विषयोंमें लगाना चाहती है! योगी-यती बड़े उत्कण्ठित रहते हैं कि किसी प्रकार क्षण-भरको श्यामसुन्दरके नखचन्द्रकी चन्द्रिका हृदयमें छिटक जाय, निमेषमात्रके लिए श्रीकृष्णकी स्फूर्ति हृदयमें हो जाय तो हम और हमारा साधन धन्य हो जायँ, और यह मुग्धा उसी नन्दलालको हृदयसे निकाल देना चाहती है!

किन्तु देखो तो इसकी महत्ता वे घनसुन्दर इसके हृदयसे निकलते नहीं हैं।'

गोपियोंने शास्त्र नहीं पढ़े, किसी गुरुसे दीक्षा नहीं ली, जप-तप करके श्रीकृष्णकी प्राप्ति नहीं की। श्रीकृष्णमें प्रेम तो उनका स्वभाव है। इसलिए उद्धवजी कहते हैं--

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

(श्रीमद्भाग० १०.४७.६३)

'नन्दबाबाके व्रजमें रहनेवाली इन गोपियोंकी चरणरेणुकी मैं बार-बार वन्दना करता हूँ, जिनके द्वारा गायी जाती हरिकथा त्रिभुवनको पवित्र करती है।'

योगियोंकी श्रीकृष्णके प्रति 'तदीयता' नहीं है। वे ऐसा नहीं मानतीं कि 'हम उनकी हैं। गोपियोंमें 'मदीयता' है। श्रीकृष्ण हमारे हैं' यह उनका भाव है। उनके प्रेममें अनन्त रस, असीम तृप्ति. अपार माधुर्य एवं अखण्ड स्मृति है। यही समस्त पुरुषार्थका फल है?

गोपियोंमें माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिका कलङ्क नहीं था

● संगति

यदि कोई कहे कि गोपियाँ तो श्रीकृष्णके सौन्दर्यपर मुग्ध हुई थीं, उनको श्रीकृष्णके माहात्म्यका—उनके ईश्वरत्वका ज्ञान तो था नहीं, तब वे मुक्त कैसे हुईं? तो आचार्योंने यह बात कही है कि भगवान्के अवतार-कालमें उनका माहात्म्य-ज्ञान हो तभी कोई उन्हें प्राप्त करे, यह नियम नहीं है। जब भगवान् प्रकट न हों तब उनके माहात्म्यका ज्ञान होनेसे उनमें भक्ति होती है और वह भक्ति मुक्तिदायिनी होती है। यदि अवतारकालमें भी ऐसा ही हो, अवतारकाल एवं अवतारकालमें कोई अन्तर न हो, तब तो भगवान्का अवतार-धारण ही व्यर्थ हो जायगा।

> **नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।**
> **अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥**
>
> (श्रीमद्भाग० १०.२९.१४)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'परीक्षित! अव्यय, अप्रमेय, गुणात्मा होकर भी निर्गुण भगवान्का अवतार ही मनुष्योंके परम कल्याणके लिए होता है।'

अवतार-कालमें कोई भगवान्को भगवान् न जाने तो भी उसका कल्याण होता है, जैसे पूतना, कंस, शिशुपाल आदिका हुआ।

ज्ञानीका कल्याण तो सभी समयमें होता है, अवतार-कालमें अज्ञानीका भी कल्याण होता है। कुब्जाका भी तो कल्याण हुआ। शिशुपालका कल्याण द्वेष करनेसे हुआ तो पाण्डवोंका श्रीकृष्णमें ममत्व होनेसे। तात्पर्य यह कि किसी भी प्रकार श्रीकृष्णमें वृत्ति जुड़नी चाहिए। गोपियोंकी वृत्ति श्रीकृष्णसे जुड़ी थी। अतः माहात्म्यज्ञान उन्हें हो या न हो, उनके कल्याणमें कोई बाधा नहीं है। वे तो कल्याण-स्वरूपा ही हैं।

यहाँ यह बताना अभीष्ट नहीं है कि गोपियोंका कल्याण हो गया। गोपियोंका उल्लेख तो यहाँ प्रेमाभक्तिके दृढ़ निश्चयके उदाहरणके रूपमें किया गया है। गोपीमें श्रीकृष्णके माहात्म्यका ज्ञान न हो तो उसका प्रेम आदर्श कैसे माना जा सकता है! अतएव गोपीको श्रीकृष्णके माहात्म्यका ज्ञान था या नहीं, इस शङ्काका निवारण करते हैं।

न तत्रापि[1] माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥ २२ ॥

वहाँ (गोपियोंमें) भी माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिका कलंक नहीं है ॥ २२ ॥

तत्रापि गोपीजनेऽपि माहात्म्यज्ञानस्य विस्मृतिरेवापवादः न--नास्ति--गोपीजनोंमें भी माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिका कलङ्क नहीं है।

संस्कृतमें 'अपवाद' शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमें होता है। जैसे व्याकरणमें जहाँ सामान्य विधि (उत्सर्ग) का विशेष विधिके द्वारा बाध या संकोच होता है, वहाँ उस विशेष नियमको सामान्य नियमका अपवाद कहा जाता है। पूर्वमीमांसा–धर्मशास्त्रमें भी अपवादका इसी अर्थमें प्रयोग होता है। जैसे तीर्थमें जाकर क्षौर नहीं कराना

---

१. पाठभेद 'तत्रापि न'

चाहिए--यह सामान्य नियम है। किन्तु प्रयागराज जाकर वहाँ मुण्डन अवश्य कराना चाहिए, यह पूर्वोक्त सामान्य नियमका अपवाद है।

साहित्यमें 'अपवाद' शब्द दूसरे ही अर्थमें प्रयुक्त होता है। जैसे—'परापवाद', 'मिथ्यापवाद' आदि। यहाँ अपवादका अर्थ है कलङ्क। एक कथा है—भाद्रशुक्ल चतुर्थी तिथि थी। सायंकाल थालीमें दूर्वा, पुष्प, अक्षतादि लेकर चद्रावलीजी चन्द्रमाको अर्घ्य देने निकलीं। अचानक उधर देवर्षि नारद आ निकले और बोले—'अरी पगली! तू आज यह क्या करने जा रही है? आज तो चन्द्र-दर्शन निषिद्ध माना जाता है। लोग कहते हैं--'तजौ चौथ चंदाकी नाईं।'

चन्द्रावली--'आज चन्द्र-दर्शन करनेसे क्या होता है?'

नारद--'अकारण कलङ्क लगता है।'

चन्द्रावली--'यही तो मैं चाहती हूँ। मेरी दूसरी सहेलियोंकी ओर तो श्रीकृष्ण देखते हैं, उनसे हँसते-बोलते हैं, उनके घर जाते हैं; किन्तु विश्वमें मैं ही ऐसी भाग्यहीना कलङ्किनी हूँ कि वे मेरी ओर देखते भी नहीं। मैं चाहती हूँ कि सत्य भाग्यमें नहीं तो झूठमूठ ही सही, यह कलंक तो लगे कि मेरा उनसे सम्बन्ध है। झूठे कलङ्कसे भी मेरा गौरव ही बढ़ेगा।'--**मिथ्यापवादवचसाप्यभिमानसिद्धिः**। यहाँ सूत्रमें जो 'अपवाद' शब्द है वह व्याकरण या धर्मशास्त्रके समान अर्थमें नहीं है। यहाँ तो वह इस साहित्यगत 'अपवाद'के अर्थमें है और उसका अर्थ है कलङ्क। भक्तके जीवनमें प्रियतम प्रभुके माहात्म्य-ज्ञानको भूलना कलङ्क है। ऐसा कलङ्क गोपियोंमें नहीं है। उन्हें माहात्म्य-ज्ञान है।

प्रेमका स्वभाव है कि जब वह बढ़ता है तब उसमें प्रियतमकी महिमा भूल जाती है। किन्तु माहात्म्य-ज्ञानकी यह विस्मृति भक्तके लिए अपवाद-कलङ्ककी बात नहीं है। यह तो भक्तिका भूषण है।

व्रजके लोग भी श्रीकृष्णकी महिमाका स्मरण होनेपर उनको हाथ जोड़ते थे। किन्तु स्वयं श्रीकृष्ण उनके प्रेमका आस्वादन करनेके लिए माहात्म्यज्ञान विस्मृत करा देते थे। मृद्भक्षण-लीलामें श्रीकृष्णने जब अपने मुखमें समस्त ब्रह्माण्ड मैया यशोदाको दिखला दिया तब मैयाको अपने लालके माहात्म्यका ज्ञान हो गया था। ग्वालबालोंके सम्मुख जब श्रीकृष्णने दावाग्नि-पान किया तब उन्हें भी माहात्म्यज्ञान हो गया था। जब नन्दजीको वरुणलोकसे छुड़ा लानेके पश्चात् व्रजवासियोंको उन्होंने अपने दिव्य धामका दर्शन कराया तो उन्हें भी माहात्म्यज्ञान हो गया था। यदि यह माहात्म्यज्ञान मैयाको, गोपकुमारोंको, व्रजके लोगोंको बना रहता तो श्रीकृष्णको उनके स्नेह, वात्सल्य, प्रेमका आस्वादन कैसे प्राप्त होता ? फिर वे उन्हें सिंहासन पर बैठाकर पूजा करते, आरती उतारते, स्तुति करते। इसलिए श्रीकृष्णने ही उनके माहात्म्यज्ञानको विस्मृत करा दिया। अतः उनमें माहात्म्यज्ञानकी विस्मृति कोई कलङ्ककी बात नहीं है।

गोपियोंमें माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिका कलङ्क नहीं है, इसका तात्पर्य यहाँ यही है कि उन्हें श्रीकृष्णके माहात्म्यका ज्ञान था। रासलीलामें श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर वे कहती हैं--

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ।।

(श्रीमद्भाग० १०.३१.४)

‘श्यामसुन्दर ! तुम गोपीकुमार नहीं हो। तुम तो सम्पूर्ण देहधारियोंके अन्तरात्मा तथा उनके द्रष्टा हो। सखे ! ब्रह्माकी प्रार्थनापर संसारकी रक्षा करनेके लिए तुम सात्वतकुलमें उदित (प्रकट) हुए हो।’

वियोग सूर्यके समान प्रकाशक है और संयोग चन्द्रमाके समान रसवर्षा करनेवाला है। संयोगमें आनन्द है, किन्तु उसमें बेसुधी भी है। अतः संयोगके समय श्रीकृष्णके माहात्म्यके ज्ञानकी विस्मृति रहती है। किन्तु वियोग सूर्यके समान संतप्त करनेवाला होनेके साथ प्रकाशक भी है। अतएव वियोगकालमें गोपियोंको श्रीकृष्णके माहात्म्यका बोध रहता है।

भक्तिमें निश्चयकी दृढ़ता चाहिए, क्योंकि संसारके विषय– धन, भोग, पद-मर्यादा, यश आदि मनुष्यको अपनी-अपनी ओर खींच रहे हैं। यदि मनुष्यमें दृढ़ता नहीं होगी तो वह इनकी ओर खिच जायगा। जो संसारकी ओर खिच गया उसमें भक्ति कैसी? भक्तिमें यह दृढ़ता कैसी होनी चाहिए, इसके उदाहरणमें गोपियोंका नाम लिया गया। गोपियाँ पिता-पुत्रादि सबका निरोध होनेपर भी श्रीकृष्णके प्रेममें दृढ़ रहीं।

ध्रुवको माहात्म्यज्ञान नहीं था। भगवान्‌ने जब अपने ज्ञानमय शङ्खसे उनके कपोलका स्पर्श किया तब उन्हें ज्ञान हुआ— **सपद्यभिव्यक्तपरात्मदर्शनः**। भगवान्‌के लिए तो अस्ति-नास्ति, चित्-अचित्, सुख-दुःखमें कोई अन्तर है नहीं। उनके लिए ये सब एक-से हैं। निर्गुणवादी भी मानते हैं कि वृत्तिसे उपहित चैतन्यका ही साक्षात्कार होता है और जो वृत्तिसे उपहित है, वह तो सगुण ही है। भामती-प्रस्थानकारका यही मत है। वैसे भी यह विचार करनेकी बात है कि जब सद्गुरुकी कृपासे ज्ञान होता है तब भगवत्कृपासे क्यों नहीं हो सकता? भगवान्‌ने स्वयं ज्ञान देनेकी बात कही है--

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १०.११)

'उनके (भक्तोंके) ऊपर ही कृपा करनेके लिए उनके आत्मभावमें स्थित होकर तेजोमय ज्ञानप्रदीपसे मैं उनके अज्ञानान्धकारको नष्ट कर देता हूं।'

प्रश्न यहाँ यह है कि गोपियोंको श्रीकृष्णके माहात्म्यका ज्ञान था या नहीं? क्योंकि प्रेममें भी ज्ञानका होना तो आवश्यक है। संसारमें जिसे हम उत्तम जानते हैं उसे चाहते हैं, जिसे अनुपयोगी समझते हैं उसकी उपेक्षा करते हैं, जिसे हानिकर समझते हैं उससे द्वेष करते हैं। हमारे मनका भाव बननेमें वस्तुके विषयकी जानकारी कारण होती है। हम सर्पसे डरते हैं, शत्रुसे दूर रहना चाहते हैं, यह इसलिए है कि उनके हानिकारक होनेका हमें ज्ञान है। जहाँ लाभ या सुखका ज्ञान है वहाँ हमारा राग होता है। ज्ञानकी प्रेरणासे ही राग-द्वेष होता है। मनुष्यको भला जानोगे तो उसके प्रति श्रद्धा-स्नेह होगा, बुरा जानोगे तो उससे द्वेष-घृणा होगी, सामान्य जानोगे तो उसके प्रति उपेक्षा रहेगी।

ईश्वरको यदि निराकार, निर्गुण जानोगे तो उससे न राग होगा, न द्वेष। यदि ऐसा ईश्वर अपने आत्मरूपमें जाना जाय, तब तो हम वही हैं। यदि अपनेसे पृथक् ब्रह्मको निर्विशेष जानोगे तो उसकी उपेक्षा होगी।

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः॥

(भोजप्रबन्ध)

'जो प्रसन्न होकर कुछ दे न सके और अप्रसन्न होकर कुछ बिगाड़ न सके, उसे लोग उसी तरह अपना स्वामी नहीं बनाना चाहते, जैसे नपुंसक पतिको स्त्री।'

ब्रह्म प्रीतिका विषय नहीं है, वह ज्ञानका विषय है; और उसका ज्ञान भी आत्मरूपमें होता है। अतः जो अपना आपा है उससे

राग-द्वेष अथवा उपेक्षा बन नहीं सकती है। किन्तु भगवान्‌के माहात्म्यका ज्ञान उनके प्रेमके लिए आवश्यक है।

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगेस जलकी चिकनाई॥

भगवान् परम दयालु, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण सद्गुण-निधान, अचिन्त्य अनन्त कल्याण-गुणगणनिलय हैं। ऐसे भगवान्‌की चर्चा विशेषताओंकी खान है। यही भगवान् 'तत्'–पदवाच्यार्थ हैं। इनके सम्बन्धमें जितना ज्ञान होगा, उनमें प्रेम उतना ही बढ़ेगा। जब हम जानते हैं--

अति कोमल रघुबीर सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥

तब उनके प्रति प्रीतिका यह भाव उदित होता है--

अस प्रभु छाँड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिन पूंछ विषाना॥

भगवान् अखिल हेय प्रत्यनीक हैं। उनमें कोई भी त्याज्य गुण (अवगुण) नहीं है। यही माहात्म्य-ज्ञान है।

अब यदि कहो कि 'जब प्रेम है तब माहात्म्यज्ञान क्यों आवश्यक है ?' तो इसका उत्तर यह है कि माहात्म्य-ज्ञानके बिना जो प्रेम है वह तो इन्द्रियोपलब्धिपर ही निर्भर है। नेत्रसे सुन्दर रूप दीखा और लट्टू हो गये। ऐसे ऐन्द्रिय ज्ञानसे होनेवाला प्रेम तो काम है और वह गली-गली मिलता है।

भक्तिका स्वभाव है कि वह आवेगी तो उसके साथ ज्ञान भी आवेगा ही। जिससे हम प्रेम करेंगे उसके स्वभाव, गुण, रहस्यका पता हमें अवश्य लग जायगा। सविशेषके ज्ञानसे उसके प्रति प्रेम होता है और प्रेम होनेसे उसका ज्ञान होता है। भक्ति तथा ज्ञान परस्पर आश्रित हैं। अब देखो कि शिवलिङ्ग या शालग्राममें क्या कोई सौन्दर्य है ? उनके प्रति जो प्रेम है उसमें माहात्म्य-ज्ञान है या नहीं ? इसी प्रकार जब किसी मूर्तिके सम्बन्धमें हमें यह ज्ञान

होता है कि—'इसकी प्राणप्रतिष्ठा हुई है या इसकी सेवा अमुक महापुरुषने की है अथवा यह स्वयं प्रकट हुई मूर्ति है' तब उसके प्रति हमारी भक्ति हमारे ज्ञानके अनुसार बढ़ती है ;

भगवान्‌के सम्बन्धमें कालके दो विभाग किये जाते हैं—अवतारकाल और अनवतारकाल। अवतारकालमें भगवान्‌के माहात्म्यका ज्ञान हुए बिना भी चित्तकी वृत्ति उनमें लगनेसे जीवका कल्याण हो जाता है।

तमेव परमात्मानं जारबुद्धयापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

(श्रीमद्भाग० १०.२९.११)

'जारबुद्धिसे भी उन परमात्मा श्रीकृष्णमें ही आसक्त होनेके कारण उन्होंने गुणमय शरीर (स्थूल, सूक्ष्म, कारण)को छोड़ दिया और तुरन्त उनके सब बन्धन नष्ट हो गये।'

न हि वस्तुशक्तिर्बुद्धिमपेक्षते।

'वस्तुकी शक्ति यह अपेक्षा नहीं करती कि तुम्हारी उसमें कैसी बुद्धि है।' बिना जाने भी अग्निका स्पर्श करो तो जलोगे ही। बिना जाने विष पी लो तब भी मृत्यु होगी। बिना समझे अमृत पी लिया जाय तब भी वह अमर कर देगा। इसी प्रकार श्रीकृष्णको भगवान् न जानकर भी उनसे प्रेम किया; तो भी श्रीकृष्ण भगवान् हैं ही। इसीलिए जिनमें माहात्म्यज्ञान नहीं था उनकी मुक्तिके सम्बन्धमें श्रीधरस्वामीने 'विषयमहिम्ना' लिखा है। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है—

काममोहित गोपिकन पर कृपा अतिसय कीन।

श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णने भी 'मत्कामा रमणं जारम्' तथा 'कामाद् गोप्यः' कहा है। बिना श्रीकृष्णका स्वरूप पहचाने उनसे प्रेम करनेवाली गोपियोंका भी प्रेम तो अन्ततः भगवान्‌से ही था।

श्रीवल्लभाचार्यजीके मत में व्रजवासियोंको भी माहात्म्यज्ञानकी अपेक्षा है। जब गर्गाचार्य नामकरण करने गोकुल आये तो उस प्रसंगमें आचार्यने लिखा है—

गुरूपदेशं विना नन्दस्य कृष्णप्राप्तिर्व्यर्था मा भूदिति गर्ग आजगाम।

'गुरुके उपदेशके बिना नन्दरायको जो भगवत्प्राप्ति हुई है वह व्यर्थ—निष्फल न हो जाय, इसलिए गर्गाचार्य श्रीनन्दरायको उपदेश करने--'ये भगवान् हैं' ऐसा सूचित करनेके लिए आये, क्योंकि गुरुके द्वारा भगवान्‌की पहचान करायी जानी आवश्यक हैं।

गोपियोंकी स्थिति, उनका वात्सल्य सर्वथा विलक्षण था। श्यामसुन्दर नन्हे मुन्ने थे। मैया यशोदा उन्हें गोदमें लेकर स्तन-पान करा रही थीं। 'पीतप्रायस्य'--श्रीकृष्ण प्रायः दूध पी चुके थे। मैयाको लगा कि यह शिशु है, अधिक दूध पी जायगा तो इसे हानि होगी, अपचसे पेट बिगड़ेगा, सहसा रोक देनेपर रोने लगेगा। मैयाने मुख चूम लिया। प्यार-दुलार करने लगीं।

बच्चेको दूध-पिलाना, दूध पीनेसे रोकना, यह सब भी एक कला है। आजकल तो वात्सल्य रहा नहीं। अपने सौन्दर्यकी रक्षा पुत्रसे अधिक प्यारी हो गयी है। दूध पिलानेके लिए माताएँ धाय रखती हैं। धाय छोटी जातिकी, अशिक्षित, संस्काररहित होती हैं। बच्चा जैसा दूध पीयेगा, जिसकी गोदमें पलेगा, उसी जैसे संस्कार उसमें आवेंगे।

मैया यशोदाने अपने लाल-का मुख चूम लिया, उसे हँसा दिया कि यह दूध पीना भूल जाय। श्रीकृष्णको जम्हाई आगयी। मैया उनके मुखको देख ही रही थीं। नन्हें-से सुकुमारके मुखमें दो दाँत आये हैं, जैसे मैयाके दूधकी ही दो बूंदें वहाँ जम गयी--स्थिर हो गयी हों।

मताके वात्सल्य तथा श्यामसुन्दरका ऐश्वर्यशक्तिमें मानो संघर्ष हो गया। श्रीहरिसूरिजीने उत्प्रेक्षा की है--

दुग्धं कियत् पिबसि भूयंलमर्भकेति
वर्तिष्यमाणवचनां जननीं विभाव्य।
विश्वं विभागि पयसो न हि केवलोऽह-
मस्मादर्दाश विभुना किल विश्वमास्ये ॥ (हरिभक्तिरसायन)

'लाल! तू नन्हा-सा शिशु है, कितना दूध पी रहा है। अब बस कर।'--अपनी चेष्टासे मानो मैया ऐसी बात कहनेवाली है, यह सोचकर श्रीकृष्णने अपने मुखमें सम्पूर्ण जगत् दिखलाकर जैसे यह कहा कि—मैया! तेरा यह दूध मैं अकेला नहीं पी रहा हूं। यह तो मैं पूरे विश्वको बाँट रहा हूँ। तेरे वात्सल्यसे सम्पूर्ण विश्व पोषित हो रहा है।'

मैया श्रीकृष्णके मुखसे सम्पूर्ण विश्वको देखती है किन्तु उसका वात्सल्य इस ऐश्वर्यशक्तिको पराजित कर देता है। स्वयं श्रीकृष्ण उसे ऐश्वर्यकी विस्मृति कराते हैं।

प्रमका स्वभाव ही है कि उसमें ऐश्वर्य विस्मृत हो जाता है। पैंतालीस वर्षके पुत्रको भी यात्राके समय पिता यही समझाता है— 'धूपमें मत चलना। पैसा सम्हालकर रखना।' व्रजवासी जानते हैं कि श्रीकृष्ण परमात्मा हैं किन्तु प्रेमके कारण वे इस बातको भूले रहते हैं। यह विस्मृति तमोगुणकी नहीं है, अविद्याजन्य भ्रान्ति नहीं है, वेदान्तमें निरूपित अज्ञान नहीं है, यह प्रेमका विलास है!

श्रीकृष्णने गोवर्धन उठाया। गोपकुमार बड़े व्याकुल हुए—

उन्निद्रस्य ययुस्तवात्र विरतिं सप्त क्षपास्तिष्ठतो
हन्त श्रान्त इवासि निक्षिप सखे श्रीदामपाणौ गिरिम्।
आधिर्विध्यति नस्त्वमर्पय करे किं वा क्षणं दक्षिणे
दोष्णस्ते करवाम काममधुना सव्यस्य संवाहनम् ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

'कन्हाई ! तुझे बिना नींद लिये यह पर्वत उठाये सात दिन बीत गये । हाय सखे ! तू थका-सा जान पड़ता है । तेरी इस स्थितिसे हमें मानसिक कष्ट हो रहा है और वह कष्ट हमें मारे डालता है । अब तो यह पर्वत श्रीदामाके हाथपर रख दे ! बड़ा हठी है तू । दूसरेको पर्वत नहीं देना है तो क्षण-भरको अपने ही दाहिने हाथपर रख ले । तबतक हम तेरी वाम भुजाको दबा दें । तेरी यह सुकुमार भुजा बहुत पीड़ा पाती होगी ।'

यह प्रेमकी महिमा है कि इतने बड़े पर्वतको उठाये सामने खड़े श्रीकृष्णमें भी ऐश्वर्यका दर्शन गोपकिशरोंको नहीं होता ।

गोपीनां स गुरुर्गतिः—'गोपियोंके गुरु तथा परमगति तो श्रीकृष्ण ही हैं' और गोपियोंको कुरुक्षेत्रमें उन्होंने अध्यात्मज्ञानका उपदेश भी दिया—

अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः ।
तदनुस्मरणध्वस्त - जीवकोशास्तमध्यगन् ॥

(श्रीमद्भाग० ब्रह्मसूत्र १०.८२.४८)

श्रीकृष्णने गोपियोंको अध्यात्मतत्त्वका उपदेश किया । उनके स्मरणसे गोपियोंका 'जीवकोश' नष्ट हो गया और उन्होंने श्रीकृष्णको प्राप्त कर लिया ।' क़िन्तु इस उपदेशके पश्चात् भी—

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः ॥

(श्रीमद्भाग० १० ८२.४९)

गोपियाँ बोलीं 'कमलनाभ ! अगाधबोध योगेश्वर लोग भी अपने हृदयमें आपके जिन चरणकमलोंका सदा चिन्तन करते हैं और जो संसारकूपमें गिरे प्राणियोंके उद्धारके एकमात्र अवलम्ब हैं, वे श्रीचरण हर घरमें रहनेवालियोंके मनमें सदा प्रत्यक्ष रहें ।'

गोपियोंका कहना है—'तत्त्वतः तो हम एक हैं किन्तु जबतक यह मनरूपी भ्रमर जीवित है तबतक यह तुम्हारे चरणकमलोंमें ही निवास करे, उन्हींका रस लेता रहे।'

श्रीराधा कुरुक्षेत्रमें एकान्तमें श्रीकृष्णसे मिलीं। जब वे वहाँसे निकलीं तो ललिताने पूछा—'आज कैसा अनुभव हुआ?' उत्तर मिला—

> प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि कुरुक्षेत्रमिलितः
> तथाहं सा राधा तदिदमुभयोः सङ्गमसुखम्।
> तथाप्यन्तःखेलन्मधुरमुरलीपञ्चमजुषे
> मनो मे कालिन्दीपुलिनविपिनाय स्पृहयति॥

'सखी! ये वही मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्रमें मिले हैं और मैं वही राधा हूँ। हम दोनोंका मिलन-सुख भी वैसा ही है; फिर भी मेरा मन यमुनापुलिनके उस वन—उन कुञ्जोंकी स्पृहा करता है जिनमें पञ्चमस्वरमें वंशी बजाते श्यामसुन्दर क्रीड़ा करते थे।'

अतः जब भगवान् प्रकट होते हैं तब माहात्म्य-ज्ञानके बिना भी इन्द्रिय द्वारा उनकी उपलब्धिसे--उनको देखकर, छूकर भी जीवका परम मंगल हो जाता है। किन्तु जब भगवान् प्रकट नहीं रहते तब उनके माहात्म्यके ज्ञानसे उनमें भक्ति होती है। उनका सौन्दर्य, माधुर्य नित्य है--यह ज्ञान माहात्म्यज्ञान ह है। निश्चयकी दृढ़तामें माहात्म्यज्ञान अवश्य रहता है। उसमें माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिका कलङ्क नहीं होता। अतएव सत्संग करो, भगवान्‌की महिमाको जानो, समझो, तब उनसे प्रीति होगी।

•

माहात्म्यज्ञानशून्य प्रेम जारतुल्य

• संगति

माहात्म्यज्ञानके बिना भी अवतारकालमें श्रीकृष्णसे प्रेम हो जाय तो जीवका परम मंगल हो ही जाता है तब माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिको कलङ्क क्यों कहा जाता है? गोपियोंमें माहात्म्यज्ञान था, सका भी क्या महत्त्व है? इसका उत्तर देते हैं। •

तद्विहीनं जाराणामिव ॥ २३ ॥

उस माहात्म्यज्ञानके बिना जो प्रेम होगा (जो प्रेममें दृढ़ निश्चय होगा) वह जार-कामीके समान होगा ॥ २३ ॥

जो जारण या जीर्ण करे--धर्मको जला दे, जीर्ण कर दे, वह जार। अथवा जो हृदयको जर्जर कर दे। भगवान्के प्रेमका स्वरूप तो हृदयको निर्मल बनाना है। भक्ति अमृतस्वरूपा है।

माहात्म्यज्ञान न होनेपर जो प्रेम होगा वह ऐन्द्रिय उपलब्धिके आधारपर होगा। कोई बहुत सुन्दर लगा, बड़ा सुकुमार, सुखदायी लगा तो उसपर लट्टू हो गये। ऐसा प्रेम संसारमें सर्वत्र देखा जाता है। यह प्रेम नहीं, काम है। इसमें सुखभोगकी वासना है।

• संगति

जारकी निन्दा क्यों करते हो? श्रीकृष्णमें 'जारबुद्ध्यापि संगता' जो थीं, उनको भी तो मुक्ति हुई ही। अतः ऐन्द्रिय उपलब्धिके आधारपर माहात्म्यज्ञानके बिना श्रीकृष्णसे प्रेम हुआ तो उसमें त्रुटि क्या है? •

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम् ॥ २४ ॥

उसमें (जारके प्रेममें--माहात्म्यज्ञानके बिना होनेवाले प्रेममें) उस (प्रियतम) के सुखमें सुखी होना सर्वथा नहीं है ॥ २४ ॥

माहात्म्यज्ञानके बिना जो प्रीति होती है वह तो अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिए, अपना आखेट मानकर होती है। यह प्रेम नहीं, भोग है और यह भोग उस वस्तुके नाशका प्रयोग है। किसी पुष्पसे प्रेम हो गया तो क्या हुआ ? उसे तोड़ा, सूँघा, कुछ देर लिये रहे और अन्तमें मसलकर फेंक दिया। संसारमें जो ऐन्द्रिय प्रेम होता है वह ऐसा ही होता है। किन्तु ईश्वरसे प्रेम किया जाता है उसकी सेवा करनेके लिए।

काममें अपना सुख अभीष्ट होता है। ऐसा व्यक्ति कहेगा तो यही--'हम तुमको सुख देना चाहते है' किन्तु उसके मनमें यह होगा--'हम इससे सुख लें।' इसीका नाम माया है। लोग सेठोंके समीप जाते हैं--'हम आपको लाभ करावेंगे।' किन्तु उनके मनमें सेठसे लाभ उठानेकी बात होती है।

प्रेममें प्रियतमके सुखमें सुखी होना है। गोपियोंका प्रेम श्रीकृष्णको सुख देनेके लिए था। श्रीकृष्णसे स्वयं सुख भोगनेकी कामना उनमें नहीं थी।

एक बार देवर्षि नारद द्वारका गये। उन्होंने भगवान्‌से कहा--'आप गोपियोंके प्रेमकी बार-बार प्रशंसा करते हैं, इससे महारानी रुक्मिणी तथा सत्यभामाजो आदि अप्रसन्न हैं। उन्हें दुःख होता है। गोपियोंके प्रेममें ही ऐसी क्या विशेषता है ?'

श्रीकृष्ण--'देवर्षि ! आपके प्रश्नका उत्तर फिर कभी दूंगा। इस समय मेरे मस्तकमें बहुत पीड़ा है।'

नारदजी--'मैं अभी वैद्य ले आता हूँ'

श्रीकृष्ण--'वैद्य ले आना व्यर्थ है। उनकी दवासे कुछ होना जाना नहीं है।'

नारद--'तब ?'

श्रीकृष्ण--'दवा तो है; किन्तु कोई दे तब न !'

नारद--'आप दवा बताइये।'

श्रीकृष्ण--'कोई भक्त अपनी चरणधूलि दे दे और वह मेरे मस्तकमें लगायी जाय तो पीड़ा मिट सकती है।'

नारदजी तीनों लोकोंमें घूम आये। भला ऐसा साहस कौन करे कि भगवान्के मस्तकमें लगानेको अपनी चरणधूलि दे! द्वारकामें पटरानियोंसे-रानियोंसे पूछा तो वे पतिव्रताएँ बोलीं--'राम-राम ! अपनी पदधूलि हम उनके मस्तकपर लगानेको दें तो हमें तो नरकमें भी स्थान नहीं मिलेगा।'

अन्तमें निराश होकर नारदजी लौट आये और बता दिया कि कोई भक्त अपनी पद-रज देनेको प्रस्तुत नहीं है।

भगवान्ने पूछा--'आप व्रजमें भी गये थे ?

नारद--'उन अशिक्षित ग्रामीणोंमें जानेसे क्या लाभ ?'

श्रीकृष्ण--'एक बार वहाँ भी हो आइये।'

देवर्षि व्रजमें पहुँचे। वहाँ गोपियाँ एकत्र थीं। देखते ही उठकर प्रणाम किया और बड़ी आतुरतासे पूछने लगीं--'देवर्षि ! आप कहाँसे पधारे ? आप तो सर्वत्र घूमते रहते हैं, कभी द्वारका भी गये थे ? हमारे हृदयधन श्रीकृष्णका कोई समाचार जानते हैं ?'

नारदजी--'मैं सीधे द्वारकासे ही आ रहा हूँ। इस समय श्रीकृष्णके मस्तकमें बहुत पीड़ा है।'

'हाय ! वहाँ कोई वैद्य नहीं है क्या ?'--एक साथ सबने बड़ी व्याकुलतासे पूछा।

नारद—'वैद्य भी हैं और दवाका भी पता है। कोई श्रीकृष्णका भक्त—उनका प्रेमी अपनी पद-धूलि दे दे तो उनकी पीड़ा दूर हो जाय।'

'जितनी चाहिए उतनी धूलि उठा ले जाइये !'—प्राय: सबने ढेरों धूलि अपने पैरोंसे मसल डाली।

नारद—'बड़ी भोली हो तुम सब। कुछ समझती भी हो कि क्या कर रही हो ! श्रीकृष्ण साक्षात् परमब्रह्म परमात्मा हैं। उन्हें जो पदधूलि देगा उसे तो नरकमें ही जाना पड़ेगा !'

गोपियाँ—'यह सब बात पीछे। आप शीघ्रता कीजिये और धूलि ले जाइये। उनकी पीड़ा दूर हो, हम अनन्त-अनन्त कालतक नरकमें रह लेंगी।'

यह प्रेमका-गोपीप्रेमका स्वरूप है। प्रेममें देना ही देना है। व्रजवासी श्रीकृष्णसे कुछ माँगते नहीं। वे कहते हैं—दूध पीना हो, दूध पीओ। दही-माखन खाना हो खाओ। हमारे पुत्रको ले लो ! यह तुम्हारा सखा बनेगा।'

वे कहते हैं—'लालाको आशीर्वाद दो !' अब भी ऐसे मन्दिर व्रजमें हैं जहाँ प्रणाम नहीं किया जाता, आशीर्वाद दिया जाता है।

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।

कामनावाला तो भिक्षुक है। वह माँगने जाता है। कामना-मूलक प्रेममें अपने भीतर अभावका अनुभव-जलन है। वहाँ तृप्ति नहीं है। प्रेमीके हृदयमें तृप्ति होती है। गोपियोंको लगता था—'हम सुन्दर हैं। हमें देखकर श्रीकृष्ण तृप्त होते हैं।' व्रजके लोग प्रेमके कँगले नहीं, प्रेमके धनी हैं। वे भगवान्‌को प्रेम देते हैं।

भगवान् अपनी वृत्तिसे सगुण नहीं हैं। स्ववृत्तिसे तो निर्गुण हैं। भक्तकी वृत्तिसे वे सगुण होते हैं। यह गोप-गोपियोंका प्रेम है, जो निर्गुणको सगुण बनाता है।

जब यह लगे कि 'हममें बहुत प्रेम है, तब समझो कि प्रेमका वृक्ष सूखने लगा है।' पर जब यह लगे कि--'भगवान् हमसे बहुत प्रेम करते हैं; किन्तु हममें उनके प्रति प्रेम नहीं है' तब प्रेम बढ़ेगा। प्रेममें 'इयत्ता' नहीं है, वह तो 'प्रतिक्षणं वर्धमानम्' है।

छिनहिं चढ़ै छिन ऊतरै, सो तौ प्रेम न होय।
अघट प्रेम अन्तर बसै, प्रेम कहावै सोय॥

बड़े कोषमें-से थोड़ा-थोड़ा निकालना प्रेम नहीं है। प्रेम है छोटे कोषको (हृदयके परिसीमित रागको) अनन्त कोषमें मिला देना।

'भक्ति'— कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठतर

• संगति

जिसके होनेपर ही जो होवे और न होनेपर न होवे, वह पराधीन होता है। माहात्म्यज्ञान हो तब तो प्रेम भक्ति हो और माहात्म्यज्ञान न हो तो वह प्रेम काम हो जाय, तब तो भक्ति ज्ञानके अधीन हुई ! भक्ति छोटी हुई और ज्ञान बड़ा हुआ। ज्ञान पिता हुआ और भक्ति पुत्री हुई। पर ऐसी बात है नहीं। भक्ति माता है और ज्ञान-वैराग्य उसके पुत्र हैं। पद्मपुराणमें जो श्रीमद्भागवत-माहात्म्य है उसमें यह बात कही गयी है। अतएव यहाँ इस बातको स्पष्ट करते हैं। •

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥ २५ ॥

वह (भक्ति) तो कर्म, ज्ञान तथा योगसे भी बहुत श्रेष्ठ है ॥ २५ ॥

सा परमप्रेमरूपा, अमृतस्वरूपा, अकामयमाना भक्तिः।

'सा' का अर्थ वह भक्ति है जिसे परमप्रेमरूपा, अमृतस्वरूपा तथा अकामयमाना पहले बता आये हैं। वह कर्म, ज्ञान तथा योगसे श्रेष्ठ ही नहीं, श्रेष्ठतरा है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

(गीता ६.४६.४७)

'अर्जुन ! तपस्वी, ज्ञानी और कर्मीसे भी योगी श्रेष्ठ है, अतः तुम योगी बनो। किन्तु समस्त योगियोंमें भी जो अपना चित्त मुझमें लगाकर श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें युक्त-तम है। श्रद्धालु भक्त योगीसे भी वड़ा है।'

मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(गीता १०.९.१०)

'जिनका चित्त मुझमें लगा है, जिनका प्राण मुझमें लगा है और परस्पर मेरी कथा कहकर जो सदा सन्तुष्ट रहते तथा मेरी चर्चामें ही रमते हैं उन निरन्तर लगे हुए प्रेमपूर्वक भजन करने-वालोंको मैं स्वयं वह बुद्धियोग—ज्ञान देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।'

गीताके अष्टादश अध्यायमें भगवान्‌ने 'निष्ठा ज्ञानस्य या परा' कहकर जो वर्णन किया है वह ध्यान देने योग्य है।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
(१८.५१.५४)

'विशुद्धबुद्धि होकर, धैर्यपूर्वक चित्तको संयत करके, शब्द-स्पर्शादि विषयोंको त्यागकर, राग-द्वेषसे रहित होकर, एकान्तमें रहते हुए, थोड़ा भोजन करते हुए, शरीर, वाणी और मनको संयत करके, नित्य ध्यानपरायण होकर, वैराग्यको भली प्रकार अपनाकर, अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध एवं परिग्रहको त्यागकर, ममताहीन होकर, शान्त होकर साधक ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। ब्रह्मभूत होनेपर उसका चित्त निर्मल हो जाता है। उसमें न बीतेके लिए शोक रह जाता न आगेके लिए कोई आकांक्षा ही। समस्त प्राणियोंके प्रति वह समान हो जाता है। तब वह मेरी पराभक्ति प्राप्त करता है।'

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
(श्रीमद्भाग० ११.१४.२०)

श्रीभगवान् कहते हैं—'उद्धव ! जैसे मुझमें उत्पन्न भक्ति मुझे प्रसन्न करती है वैसे मुझे योग, ज्ञान, धर्माचरण, वेदाध्ययन, तपस्या अथवा त्याग प्रसन्न नहीं करते।'

ब्रह्मसूत्रमें कहा गया है—

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् । (१.३.२)

'मुक्त पुरुष भी उन भगवान्में ही सरकते—उनका ही आश्रयण करते हैं।'

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहे च ममता तथा ।
नासौ ज्ञानी न वा योगी केवलं क्लेशभागसौ ॥
(अष्टावक्रगीता)

'जिसको अपने मुक्त होनेका अभिमान है; साथ ही शरीरमें ममत्व भी है, वह न ज्ञानी है, न योगी। वह तो केवल दुःखका भागी है।'

संसारमें चिन्तन करने योग्य तो कुछ है नहीं। जब विषयोंसे वैराग्य हो गया तब संसारका चिन्तन क्या !

ताते जे हरिभगत सयाने।
मुकुति निरादर भगति लुभाने ॥

जो बद्ध हैं, संसारके भोगोंमें आसक्त हैं, वे भला भगवान्‌की भक्तिमें—भगवान्‌में क्या जायँगे ! वहाँ तो मुक्त ही जा सकते हैं। अतः भगवान् 'मुक्तोपसृप्य' हैं।

वेदके मन्त्ररूपी पुष्पोंकी माला गूँथनेके लिए ही ये सूत्रग्रन्थ होते हैं; इसीलिये इन्हें सूत्र कहते हैं। अतः देखना चाहिए कि ब्रह्मसूत्रके इस सूत्रका मूल क्या है ? श्रुति कहती है--

यं सर्वे नमस्यन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च।
(श्वेताश्वरोपनिषद्)

'जिन भगवान्‌को सब मुमुक्षु तथा ब्रह्मज्ञानी नमस्कार करते हैं'--यह श्रुति सूत्रका मूल है। श्रीशङ्कराचार्यजीने अपने नृसिंह-तापनीय उपनिषद्‌के भाष्यमें लिखा है—

मुक्तावपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्ते।

'मुक्त पुरुष मुक्तावस्थामें भी लीलासे भगवान्‌के सगुण साकार रूपकी भावना करके उसका भजन करते हैं।' जबतक शरीर है तबतक भगवान्‌की सेवा क्यों न कर ली जाय ? जब दूकान करनेसे, नौकरी करनेसे, मुकदमा लड़नेसे ज्ञानमें अन्तर नहीं पड़ता तब भगवान्‌की भक्ति करनेसे ही ज्ञान कैसे दूषित हो जायगा। भक्ति करनेसे जो ज्ञान बिगड़ जाता हो, वह ज्ञान तो

दूरसे ही नमस्कार करने योग्य है। श्रीनरहरि स्वामीने अपने 'बोधसागर' नामक ग्रन्थमें बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
ननु भजनविधौ वा निर्विकल्पे समाधौ
बुधजन इह तिष्ठेत् तदद्वयं तुल्यमेव॥

'जो प्रेयसी है—जिसने प्यारेका प्रेम प्राप्त कर लिया है, वह प्रियतमके वक्षपर प्रेमकी रीतिसे क्रीड़ा करे अथवा उनके चरण-युगलकी सेवा करे। ऐसे ही जब तत्त्वबोध हो गया तब भगवान्का भजन करे अथवा निर्विकल्प समाधिमें स्थित रहे, ये दोनों अवस्थाएँ समान ही हैं।'

सा तु कर्मज्ञानयोगेऽभ्योऽप्यधिकतरा—इसमें कर्मका अर्थ धर्म है। निषिद्ध कर्म तो त्याज्य है ही, सकाम कर्मकी भी चर्चा छोड़ दो। निष्काम धर्मानुष्ठानका फल है अन्तःकरणकी शुद्धि। अन्तःकरणकी शुद्धिके फलस्वरूप 'तत्' पदार्थका ज्ञान होता है। उस 'तत्' पदार्थमें तदाकाररूपसे रहनेवाली भक्ति है। निष्काम धर्मका कार्य है--अन्तःकरणसे कामनाको निकाल देना। यह बन्दूककी नलीको स्वच्छ करनेकी बात है। भक्ति है, परमात्मामें लक्ष्य स्थिर करना। भक्तिके द्वारा मन परमात्मामें लगता है। अतः भक्ति निष्काम धर्मानुष्ठानसे बहुत श्रेष्ठ है। वह साधकको परमात्मातक पहुँचाती—परमात्मासे मिलाती है।

कर्ममें स्रुक्, स्रुवा, घी तथा अन्य सामग्री अपेक्षित है। पहले तो मन्त्रज्ञान चाहिए। इस प्रकार कठिनाई तो अधिक है किन्तु उसका फल है अन्तःकरणकी शुद्धि।

यहाँ इस सूत्रमें जिस ज्ञानकी चर्चा है, वह ज्ञान आत्मा और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान नहीं है। यहाँ वर्णित–उल्लिखित ज्ञान

धर्मसे बड़ा किन्तु योगसे छोटा है। एक व्यक्ति किसीको जानता तो है किन्तु उससे मिला नहीं है। देशके राष्ट्रपतिको देशके अधिकांश व्यक्ति जानते हैं किन्तु इस जानकारीसे लाभ! इसी प्रकार जो ईश्वरको जानता है कि ईश्वर है--सर्वव्यापक, सृष्टिका कर्ता-पालक, सर्वसमर्थ है, वह आस्तिक तो है किन्तु भक्त नहीं है।

यहाँ अद्वय ज्ञान--साक्षादपरोक्ष ज्ञानका प्रसंग ही नहीं है। प्रसंग है तत्-पदार्थ--परमात्माकी भक्तिका, अतः यहाँ जिस ज्ञानकी चर्चा है वह 'तत् पदार्थ'के ज्ञानका ही वाचक है।

योगमें यम, नियम, आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इन आठ अंगोंको पूरा करना पड़ता है। मनका नियन्त्रण योगमें आवश्यक है। अतएव योगमें भी कठिनाई ही है। योगकी साधना पूरी हो भी जाय तो क्या होगा? समाधिमें चित्त-वृत्तिका सर्वथा निरोध हो जायगा। जहाँ वृत्ति नहीं है, वहाँ व्यवहार नहीं है। जहाँ व्यवहार नहीं है, वहाँ रस नहीं है। अद्वयज्ञानमें भी द्वैत नहीं है तो परस्पर प्रेम भी नहीं है।

संयम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपदरति रस बेद बखाना॥

'संयम-नियम तो साधनामय जीवनके पुष्प हैं और अद्वयज्ञान साधनाका फल है; किन्तु उस फलमें जो रस है वह तो भगवान्‌की भक्ति ही है।' इसलिए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं--

जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहाँ न राम प्रेम परधानू॥

'वह योग योग नहीं, कुयोग है जिसमें भगवान्‌की भक्तिकी प्रधानता न हो और वह ज्ञान ज्ञान नहीं, अज्ञान है, जिसमें भक्तिकी प्रमुखता न हो।'

भक्ति जब अन्तःकरणमें आती है तब भगवान्‌की स्मृतिके साथ ही आती है। भगवान् हैं आनन्दघन। अतः भक्तिमें दुःख नहीं है। तुमको अपना खोया हुआ रुपया अथवा मरी हुई स्त्री मनमें दिखाई

दे और भगवान्‌की स्मृति भी होती रहे, यह सम्भव नहीं है। जब भगवान्‌की स्मृति होगी तब संसारकी स्मृति नहीं होगी और जब संसारका स्मरण होगा तब भगवान्‌का स्मरण नहीं होगा।

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकहिं, रवि रजनी इक ठाम॥

अतएव भगवान्‌की स्मृतिके साथ संसारकी कामना नहीं रह सकती। जहाँ कामना नहीं वहाँ दुःख भी नहीं। भगवान्‌की स्मृतिके साथ चोरी; जुआ, व्यभिचार आदिका होना सम्भव नहीं है। भक्ति पाप मिटाती है।

भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्।
(श्रीमद्भाग० ११.१४.२१)

भगवान् कहते हैं--'मुझमें निष्ठा रखकर जो भक्ति होती है वह जन्मसे अपवित्र चाण्डालको भी पवित्र कर देती है।'

'भक्ति दुःखको मिटा देती है'—का अर्थ है कि प्रारब्धको मिटा देती है। धर्म तो उधार सौदा है। इस लोकमें धर्माचरण, यज्ञादि करो तो परलोकमें उसका फल मिलेगा। योगमें परिश्रम बहुत है और अन्तमें वृत्तिको लीन होना है। ज्ञानमें भी अभिमान आनेका भय होता है। भक्तिमें ये तीनों ही बातें नहीं हैं।

फलरूप होनेसे भक्तिकी श्रेष्ठता

• **संगति**

भक्ति कर्मसे, ज्ञानसे तथा योगसे भी बहुत श्रेष्ठ क्यों है ? •

फलरूपत्वात् ॥ २६ ॥

फलस्वरूपा होनेसे ॥ २६ ॥

'सा तु' वह भक्ति—यह उद्देश्य है, **कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा** कर्म, ज्ञान और योगसे भी बहुत श्रेष्ठ है--यह विधेय है और **फलरूपत्वात्** फलरूपा होनेसे--यह कारण है।

अद्वैतसिद्धिके कर्ता श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपनी गीताकी टीकामें यह श्लोक दिया है—

प्रामाण्यतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम् ।
ये नरा नानुमन्यन्ते वैसे तु निरयगामिनः ॥

'प्रमाणोंसे भी श्रीकृष्णकी अद्भुत महिमा निश्चित हो जाती है। इतनेपर भी जो मनुष्य इसे नहीं मानते वे नरकगामी होते हैं।'

गीताके व्याख्याकार श्रीबच्चा झाने प्रश्न उठाया कि—'गीताके मूलमें तो यहाँ ऐसी कोई बात है नहीं। तब मधुसूदन सरस्वतीने यहाँ यह श्लोक क्यों दिया ?' इसका यही उत्तर हो सकता है कि 'भावावेशमें--प्रसंग न होनेपर भी श्रीकृष्णके अतिशय प्रेममें यह श्लोक दिया गया है।'

देखना यह चाहिए कि जब हम परमार्थके मार्गमें बढ़ते हैं तब हमारे लिए सम्बल क्या होता है ? हम जब ईश्वरकी ओर बढ़ना चाहते हैं तब पिछले किये पाप-कर्म बाधा डालते हैं। पाप करनेवाला शासकसे, समाजसे डरता रहेगा। वह ईश्वरका चिन्तन नहीं कर सकता। भक्ति करनेसे पापसे होनेवाले अनर्थ छूटेंगे।

ईश्वरकी ओर चलनेमें पाप ही नहीं, पुण्य भी बाधक है। पुण्यके फलस्वरूप धन आया, पद-प्रतिष्ठा मिली, परिवार बढ़ा तो भगवान् छूट गये। भक्ति करो तो यह पद-प्रतिष्ठा तथा परिवार या धन अच्छा नहीं लगेगा। इनकी आसक्ति छूटेगी। इधरसे रुचि हटेगी--**अरतिर्जनसंसदि**।

पापोत्थ प्रतिबन्ध, पुण्योत्थ प्रतिबन्ध तथा प्रारब्धोत्थ प्रतिबन्ध ये सब भक्ति करनेसे मिटेंगे। प्रारब्धसे शरीरमें रोग आया, अब भक्ति करते होंगे तो खाँसते-कराहते भी 'राम-राम' कहोगे। इससे प्रारब्ध सुधरेगा।

भक्तिके द्वारा संगोत्थ विघ्न दूर होंगे। कुसंगी स्वयं भार लगने लगेंगे। तुम भी उनको भार जान पड़ोगे। तुम तुलसीदल डाले बिना, भगवान्‌को अर्पण किये बिना भोजन नहीं करते तो कौन तुम्हें अपने साथ किसी 'पार्टीमें' ले जाना चाहेगा !

भक्तिमें विघ्न आनेका एक कारण और है—अपराध। अपराध कई प्रकारके होते हैं जिनके मुख्य भेद हैं--भगवान्‌के अपराध, भक्तिके अपराध और भक्तापराध। भगवदपराध भी कई प्रकारके हैं; जैसे भगवान् ऐसे ही हैं, यह मानना भगवान्‌के स्वरूपके प्रति अपराध है--**इदमित्थं कहि जाइ न सोई**। भगवान्‌के मन्दिरमें श्रीविग्रहके सामने पैर फैलाकर बैठना, किसी अन्यको प्रणाम करना, किसीपर वहाँ क्रोध या कृपा करना

आदि भगवदपराध है। भगवदपराध भगवान्‌के रूपका ध्यान करनेसे मिटता है।

भक्त्यपराधके अन्तर्गत ही नामापराध भी आते हैं। भक्तिको या भगवन्नामको दूसरे साधनोंके बराबर मानना यह एक अपराध है—अन्यधर्मैश्च साम्यम्। जीव तथा ईश्वरमें बँटवारा हुआ। ईश्वरने रूप अपने पास रख लिया और नाम जीवको दे दिया। पर नाम रूपसे बड़ा है। रूप नामके अधीन है—

देखिय रूप नाम आधीना। रूपज्ञान नहिं नामविहीना॥

नाम लेकर पुकारोगे तो रूपको वहाँ आना ही पड़ेगा। जितने भी नामापराध या भक्त्यपराध हैं वे सब नाम-जपसे दूर होते हैं।

भक्तापराध इन सबमें बड़ा है। भक्तका अपराध न भगवान् क्षमा करते और न नाम-जपादिसे वह मिटता है। जिस भक्तका अपराध हुआ है वह भक्त ही उसे क्षमा कर सकता है। दुर्वासाने अम्बरीषका अपराध किया तो उनकी रक्षा भगवान्‌ने भी नहीं की। उन्हें अम्बरीषके ही समीप क्षमा माँगने आना पड़ा।

तब क्या भक्तिका काम दोषोंको मिटाना—दोषापनयन ही है? अन्तःकरणको शुद्ध करनेका काम तो धर्म भी करता है। भक्तिकी विशेषता यह है कि वह केवल दोषापनयन ही नहीं करती, गुणाधान भी करती है। अन्तःकरणको रँगना-सजाना भी उसीका काम है। भक्ति अन्तःकरणसे काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर आदिको दूर करके उसमें सत्य, नम्रता, करुणा, दया आदि गुणोंको भरती है। भक्त मधुरभाषी होगा। वह दूसरोंकी हानि नहीं करेगा। दुखीकी उपेक्षा उससे हो ही नहीं सकेगी। जिसके हृदयमें प्रेमका अमृत भरा है, वह संसारको अमृत ही तो देगा।

हृदयको स्वच्छ करके उसमें सद्गुण भर देना—दोषापनयन एवं गुणाधान मात्र भक्तिका काम नहीं हैं। जो कार्य धर्म, ज्ञान तथा योगसे नहीं होता, वह कार्य भक्ति करती है।

सकाम कर्म करोगे तो इस लोकमें अथवा स्वर्गमें सुख प्राप्त करोगे। निष्काम कर्म करोगे तो अन्तःकरण शुद्ध होगा। धर्मका फल है सुख, पवित्रता; किंतु यह फल धर्मसे देरमें—जन्मान्तरमें मिलता है। भक्ति यह दोनों फल देगी और इसी जीवनमें—तत्काल देगी। भक्तिके उदयके साथ जो सुख प्राप्त होता है, वह इस लोक तथा परलोकके सब सुखोंसे बड़ा है। श्रीरूपगोस्वामीजीने लिखा है—'संसारमें कर्म, धर्म, ज्ञान तथा योगसे किसी भी जीवको अबतक जो-जो सुख मिले हैं, मिल रहे हैं या प्रलयतक मिलेंगे, फिर वे किसी भी साधनसे और किसी भी रूपमें मिलते हों, वे सब जीवोंके सब सुख मिलकर भी भक्तिके विरहमें होनेवाले क्षणभरके दुःखमें जो आनन्द है, उसके बराबर नहीं हैं।'

हंसदूतमें एक कथा है। एक बार देवर्षि नारद व्रजमें आये। व्रजका अकल्पनीय आनन्द उन्होंने देखा तो व्रजके प्रेममें मग्न होकर रुदन करने लगे। एक गोपीकी दृष्टि पड़ गयी। उसके मनमें आया—'ये देवर्षि तो ब्रह्मपुत्र हैं, भक्ताचार्य हैं, इच्छा करते ही भगवद्धाम पहुँच सकते हैं, ये रोते क्यों हैं?' दण्डवत् प्रणाम करके उसने देवर्षिसे उनके रुदनका कारण पूछा। नारदजी बोले—'मुझे इसलिए रोना आता है कि अबतक जो जीव मुक्त हो गये वे बड़े भाग्यहीन थे। व्रजके इस आनन्दका वे दर्शनतक नहीं पा सके। इसे देखकर मुक्त होते तो उनकी मुक्ति सफल हो जाती।'

सब साधन किसलिए? दुःखका आत्यन्तिक नाश हो और निरतिशय अव्याहत आनन्दकी प्राप्ति हो, इसलिए। भक्ति सुखका साधन नहीं है, सुखका स्वरूप है। वह फलस्वरूपा है। जब श्याम-

सुन्दर, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी मनमें प्रकट होकर मन्द-मन्द मुस्कराते हैं, वंशी बजाते हैं; जब उनकी चरणनखचन्द्रिका हृदयान्धकारको विनष्ट कर देती है; तब सुख, पवित्रता और ज्ञानमें क्या कमी रह जाती है ?

धर्मका फल–सुख मरनेपर दूसरे लोकमें मिलता है। जो मरनेपर मिले वह सुख तो अमंगल है। ज्ञानका फल है भव-बन्धनसे मुक्ति। पर भक्त तो भक्तिके एक-एक अंगपर मुक्तिको न्योछावर कर देता है।

रोमाञ्चेन चमत्कृता तनुरियं भक्त्या मनो नन्दितम्
प्रेमाश्रूणि च भूषयन्ति वदनं कण्ठं गिरो गद्‌गदाः।
नास्माकं क्षणमात्रमप्यवसरः कृष्णार्चनं कुर्वताम्
मुक्तिर्द्वारि चतुर्विधाऽपि किमियं दास्याय लोलायते ॥

'रोमाञ्चसे शरीर पुलकित हो रहा है। चित्त भक्तिके आनन्दसे परिपूर्ण है। प्रेमाश्रुका प्रवाह मुखकी शोभा बढ़ा रहा है। कण्ठ भरा है। वाणी गद्‌गद हो रही है। इस प्रकार श्रीकृष्णकी सेवामें लगे हुए हमको एक क्षणका भी अवकाश किसी अन्यकी ओर ध्यान देनेको नहीं है। ऐसी अवस्थामें हमारे द्वारपर ये चारों प्रकारकी (सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य एवं सायुज्य) मुक्तियाँ हमारी दासियाँ बननेके लालचमें क्यों चक्कर काट रही हैं !'

एक कारागारके बन्दीने राजाकी स्तुति की। राजाने प्रसन्न होकर उसे कारागारसे मुक्त कर दिया। संसारके कारागारमें पड़े जीवकी बन्धनमुक्ति तो ऐसी ही है।

कारागारमें पड़ा एक बन्दी राजाके लिए प्रतिदिन एक माला गूँथकर भेज देता था। उसकी सेवासे राजा प्रसन्न हुए और आज्ञा दी--'इसे मुक्त कर दो !'

बन्दीने प्रार्थना की--'मुझे कृपा करके कारागारमें ही रहने दें। मैं आपकी सेवामें सन्तुष्ट हूँ। आपको माला बनाकर पहनानेकी जो सेवा मैं करता हूं, वह मुझसे छीनी न जाय।'

राजा अधिक प्रसन्न हुए--'इसे राजोद्यानमें नियुक्त किया जाय।'

वन्दी राजोद्यानमें रहने लगा। उसकी पुष्पमालासे महारानी प्रसन्न हुई और उन्होंने आग्रह किया--'इस मालीको तो अन्तः-पुरकी साज-सज्जापर नियुक्त करना चाहिए।'—फल यह हुआ कि वह राजाके अन्त:पुरको सजाने पर नियुक्त हो गया।

मुक्ति ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्।

'भगवान् मुक्ति तो सरलतासे दे देते हैं किन्तु भक्ति नहीं देते।' कारागारसे तो किसीको छोड़ देना सरल बात है किन्तु अन्तः-पुरकी सेवा तो हर किसीको दी नहीं जा सकती।

भक्तको भव-बन्धन है ही कहाँ! संसारमें तो उसकी आसक्ति है नहीं। भवबन्धनसे तो वह छूटा ही है। उसे तो भाव-बन्धन, भगवद्-बन्धन है। वह भगवान्के साथ बँधा है; इसलिए ज्ञानसे भक्ति अधिकतरा है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः--'चित्तवृत्तिके निरोधका नाम योग है।' भक्तिसे वृत्ति भगवान्में निरुद्ध होती है या नहीं? पर वृत्तिका निरोध होना तो योगके बराबर हुआ। भक्ति तो योगसे अधिकतरा है।

चित्तवृत्ति क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र या निरुद्ध हुआ करती है। योगके अनुसार यदि प्रतिलोम-परिणाम-क्रमसे प्राणायाम-प्रत्या-हारादिके अभ्यास द्वारा चित्तको संसारसे लौटाया जाय तो सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध चित्तसत्त्वमें--प्रकृतिमें ही होगा। द्रष्टा अपने स्वरूपको जानकर--'सत्त्वान्यथाख्याति' होकर स्वरूपमें स्थित हो जायगा।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्--'चित्तवृत्तिका निरोध होनेपर द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है।' तब द्रष्टाके सम्मुख प्रकृति नहीं रहेगी। यह योगकी पूर्णावस्था--निर्विकल्प समाधिकी स्थिति है।

भक्तिमें चित्तका निरोध प्रकृतिमें नहीं, भगवान्‌में होता है। योगसे द्रष्टाकी स्वरूपमें अवस्थिति होती है और भक्तिसे जीवात्मा परमात्मामें अवस्थित होता--सायुज्य प्राप्त करता है। इस प्रकार भक्तिके द्वारा निष्काम कर्म, धर्म, ज्ञान तथा योग सबका फल प्राप्त हुआ--भगवान्‌में स्थिति हो गयी।

धर्म, ज्ञान तथा योगसे जो फल प्राप्त होता है, वह भक्तिसे प्राप्त हो गया, इसीमें भक्तिकी श्रेष्ठता नहीं है। भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी यह भी भक्तिकी श्रेष्ठता नहीं है। भक्ति यदि भगवान्‌की प्राप्तिमें साधनामात्र है तो वह बड़ी कहाँ हुई? लड़की-लड़केको मिलानेवाला तो केवल दलाल--मध्यस्थ कहलाता है। भक्ति भगवान्‌को मिलाकर ही चरितार्थ नहीं हो जाती। वह तो फलरूपा है। स्वरूपसे ही श्रेष्ठ है। भक्ति करके भगवान् मिले तो अब क्या करोगे? भक्ति छोड़ दोगे? नहीं; भक्ति तो करते ही रहोगे।

भक्त्या संजातया भक्त्या--'भक्तिका फल भक्ति ही है।' भक्तिका फल भगवत्प्राप्ति नहीं है। भक्ति करके जो गोलोक, साकेत, वैकुण्ठ आदि जाना चाहते हैं वे तो मुक्ति चाहते हैं। सालोक्य--भगवान्‌के लोकमें जाकर रहना, सामीप्य--भगवान्‌के समीप उनकी माला आभूषण आदि बनकर रहना, सारूप्य--भगवान्‌के समान रूपके होकर उनके पार्षद बनकर रहना, सार्ष्टि--भगवान्‌के समान सृष्टि-प्रलयादिकी शक्ति पा लेना, सायुज्य--भगवान्‌के श्रीविग्रहमें मिल जाना, ये सब तो मुक्ति हैं। भक्त इनमें-से कुछ नहीं चाहता। वह तो केवल भगवान्‌की सेवा चाहता है। वे दूर रखकर प्रसन्न हों तो

दूर और निकट रखकर प्रसन्न हों तो निकट रहनेको वह प्रस्तुत है। भक्तको इष्टकी प्रसन्नता ही अभीष्ट है। इसीका नाम सेवा है।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।

'श्रीकृष्णके अनुकूल होकर उनका चिन्तन करना उत्तम भक्ति है।'

'फलरूपत्वात्' का अर्थ है 'रसरूपत्वात्'—जड़रूपा माया, रस-रूपा भक्ति। श्रुति कहती है—**रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति।** 'इस रसको प्राप्त करके ही पुरुष आनन्दी होता है।' भक्तके हृदयमें जो आह्लादिनी शक्तिसार-सर्वस्व प्रकट है वह स्वयं फलरूपा है। भक्तिका फल भगवान्‌की प्राप्ति, मुक्ति अथवा समाधि नहीं है। ये सब तो भक्तिके आनुषङ्गिक फल हैं। भक्तिका फल यदि भक्तिके अतिरिक्त कुछ अन्य हो तो भक्ति वृक्षके समान नीरस होगी। रस तो वृक्षमें नहीं, फलमें होता है; किन्तु भक्ति रसरूपा है। भक्ति फल तो है किन्तु ऐसा फल है जिसमें गुठली-छिलका नहीं है।

भक्तिसे असन्तोष उनको होता है जो भक्तिके द्वारा कोई दूसरा फल चाहते हैं। जो कहते हैं—'इतने दिन माला फेरते, चन्दन घिसते, घंटा बजाते हो गया किन्तु कुछ हुआ नहीं। वे तो कामी हैं—किसी कामनाकी पूर्ति चाहते हैं। वे भक्त नहीं हैं।

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

'जबतक भोग-प्राप्ति अथवा मोक्षप्राप्तिकी कामनारूपी पिशाची हृदयमें बैठी है तबतक हृदयमें भक्तिके आनन्दका अभ्युदय कैसे हो?'

सच्चे शिष्य गुरुका ज्ञान लेना चाहते हैं और झूठे शिष्य गुरुकी गद्दी चाहते हैं, अथवा गुरुके परिचितोंसे परिचय बढ़ाना चाहते हैं। इस प्रकार सेवा करके लोग कुछ-न-कुछ प्राप्त करना चाहते हैं।

जो सेवा करके संसार चाहते हैं—कोई सांसारिक वस्तु--सफलतादि चाहते हैं, वे तो सेवक नहीं, व्यापारो हैं। कुछ लोग सेवा करके भगवान्‌को चाहते हैं। यह चाह संसारकी चाहको मिटा देती है। जब भक्त प्रार्थना करता है--

आओ नन्दलाल तरस रहे नैना !

तब उसके चित्तकी यह तीव्र व्याकुलता सांसारिक कामनाओंको नष्ट कर देती है।

लोगोंको तीव्र वैराग्य होता है। घर-द्वार छोड़कर जंगल या पर्वतमें जाते हैं किन्तु जब वहाँ रोटी, चावल, साग-सब्जी नहीं मिलती तो वैराग्य हवा हो जाता है। जब भगवद्दर्शनके लिए चित्तमें तड़पन नहीं है तब मनुष्य कष्ट-सहनकी शक्ति कहाँसे पावेगा! बिना भक्तिके—बिना भगवान्‌को आलम्बन बनाये वैराग्य टिकता नहीं।

इस युगमें, आज भी भगवान्‌के दर्शन होते हैं। किसी बालकमें भगवच्छक्तिका आवेश हो जा सकता है। लोगोंको रामलीला अथवा रासलीलाके स्वरूपोंमें अनेक प्रकारके अनुभव होते हैं। स्वप्नमें भगवद्दर्शन, ध्यानमें दर्शन, प्रत्यक्ष-दर्शन, यह भगवद्दर्शनका क्रम है। प्रत्यक्ष दर्शन होकर भी बातचीत न हो, बातचीत हो, परिचय हो जाय भगवान्‌से और उनकी सेवा प्राप्त हो जाय, ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ अवस्थाएँ हैं। सेवा प्राप्त होनेसे भी उत्तम स्थिति है भगवान्‌की अन्तरङ्गलीलामें प्रवेश प्राप्त होना।

ऐसी बात नहीं है कि निष्काम भक्ति करनेवालेको ही भगवान्‌के दर्शन होते हैं, सकाम भक्तोंको भी भगवान्‌के दर्शन होते हैं। ध्रुव अर्थार्थी भक्त थे और गजेन्द्र आर्त भक्त थे। जब इन सकाम भक्तोंको भी भगवान्‌ने दर्शन दिया तो निष्काम भक्तको तो दर्शन देंगे ही।

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतो मलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद् यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः॥
(श्रीमद्भाग० ११ ३.४०)

'जब कमलनाभ भगवान्‌के श्रीचरणोंकी तीव्रभक्तिके कारण चित्त गुण तथा कर्मके मलोंसे शुद्ध हो जाता है तब उस विशुद्ध चित्तमें आत्मतत्त्व इस प्रकार प्रकाशित होता है, जैसे निर्मल-निर्दोष नेत्रोंमें सूर्यका प्रकाश।'

यह भक्ति हृदयरूपी स्वर्णको शुद्ध करनेके लिए अग्नि है। भक्तिकी अग्निमें, भगवान्‌के लिए होनेवाली व्याकुलतामें तपे बिना चित्त कैसे शुद्ध हो सकता है? जो भक्तिके इस सहारेको नहीं पकड़ते वे गिरते हैं। मनुष्यके जीवनकी शुद्धता—जीवनकी उन्नति अत्यन्त आवश्यक है।

यह मेरा अनुभव है कि जब भगवान्‌के लिए सच्ची व्याकुलता होती है, भगवान्‌के अतिरिक्त जब कहीं कोई सहारा नहीं रहता तब जो अलौकिक–दिव्य भगवान्‌का रूप, भगवान्‌का प्रकाश, भगवान्‌की लीला मनुष्यके सामने प्रकट होती है, संसारी पुरुष उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता।

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्॥
(श्रीमद्भाग० ११.१४.२६)

भगवान् कहते हैं कि 'जैसे अञ्जनके उत्तम प्रयोगसे दृष्टि निर्मल होकर सूक्ष्म वस्तुको देखनेमें समर्थ हो जाती है, उसी प्रकार जैसे-जैसे मेरी पवित्र कथाके श्रवणसे मनुष्यका चित्त शुद्ध होता है वैसे-वैसे वह सूक्ष्म तत्त्वको देख पाता है।'

भक्ति हृदयको शुद्ध करनेवाली है। ज्ञान हृदयको शुद्ध नहीं करता। ज्ञानके लिए तो शान्ति-दान्ति, उपरति-तितिक्षा, श्रद्धा,समाधान आवश्यक हैं। ज्ञान केवल अज्ञानको मिटाता है। ज्ञान बड़ा आदमी है। उसके लिए पहले हृदयको स्वच्छ कर दो, षट् सम्पत्ति तथा साधन-चतुष्टयसे सज्जित कर दो तब वह आवेगा और बड़ा काम—अज्ञानका नाश करनेका काम करेगा। वह हृदयमें झाड़ू लगाने, सजावट करनेका काम नहीं किया करता।

भक्ति तो माता हैं। उनमें अभिमान नहीं है। वे तो भक्तरूपी बालकको कीचड़-गन्दगीमें से उठाकर स्वच्छ करती हैं, उसे स्नान कराकर, सजाकर--सद्गुण-सम्पन्न करके भगवान्के समीप ले जाती हैं और भगवान्से कहती हैं--'यह आपका बालक है। इसे अपनी गोदमें लीजिये।'

भक्ति दो प्रकारकी होती है- एक साधनात्मिका-वैधी भक्ति है। यह भक्ति भगवान्को चाहती, भगवान्से प्रेम करती है। दूसरी परा-साध्या भक्ति है। उसे भगवान् चाहते हैं। भगवान् उससे प्रेम करते हैं।

व्रजमें रासलीला-मण्डलियाँ दो प्रकारकी लीलाएँ करती हैं। एक तो अभिसार लीला होती है। गोपियाँ श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए व्याकुल होती हैं और वे कभी दही बेचनेके बहाने, कभी रात्रि-में घोर वनमें उनसे मिलने जाती हैं। यह वैधी साधनात्मिका भक्तिका रूप है। दूसरी छद्मलीला होती है। श्रीकृष्ण अनेक प्रकार-के बहाने बनाकर, नाना रूप धारण कर गोपियोंसे मिलने जाते हैं। यह रागात्मिक भक्तिका स्वरूप है।

एक सहसा भक्ति होती है। श्रीचैतन्य महाप्रभुसे एक सज्जनने पूछा--'आप कौन-सा पद प्राप्त करनेके लिए भगवन्नाम लेते हैं?

क्योंकि मनुष्य कुछ चाहता है तब प्रयत्न करता है। विना इच्छाके प्रयत्न नहीं होता।'

श्रीचैतन्य--'स्वभाव बिगड़ गया है। जिह्वा भगवन्नाम लिये बिना रह नहीं पाती।'

न मनमें व्याकुलता है, न भगवान्को पाना है; किन्तु भक्ति स्वभावसे स्वतः होती है। श्रीमधुसूदन सरस्वतीने कहा है--

अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः।

जैसे महापुरुषोंका स्वभाव ही है किसीसे द्वेष न करना, वैसे ही उनका स्वभाव ही होता है भगवान्का भजन करना। इस सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें एक विलक्षण प्रसंग है। देवर्षि नारद भगवान् व्यासको उपदेश करते हुए कहते हैं—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥

(१.५.१२)

'अच्युतभाववर्जितं निरञ्जनं नैष्कर्म्यं ज्ञानं शोभते किन्तु अलं न शोभते'--'भगवद्भाववर्जित निर्मल नैष्कर्म्य ज्ञान शोभित तो होता है किन्तु पर्याप्त शोभित नहीं होता', फिर जो सदा ही अभद्र-अमङ्गलरूप कर्म है वह निष्काम भले ही हो, भगवान्को अर्पित किये बिना कैसे शोभित हो सकता है?'

नैष्कर्म्य-संन्यास, निरञ्जन-निर्वासन, वासनारहित त्याग-प्रधान ज्ञान भी भगवान्की भक्तिके बिना पूरा शोभित नहीं होता। ज्ञानकी पूरी शोभा क्या है? ज्ञान हो जानेपर ज्ञानीका जीवन ऐसा हो कि उसे देखकर दूसरोंके चित्तमें ज्ञानकी जिज्ञासा हो जाय।

हम लोग गंगाके किनारे निकलते थे, पैदल यात्रा करते थे। साथमें हँड़ियावाले अवधूत रहते थे, स्वामी स्वरूपानन्दजी रहते थे। हम लोगोंको देखकर गाँववाले पूछते थे--'बाबा! कौन-सी चक्कीका पिसा आटा खाते हो?'

जैसे हमारे शरीर देखकर गाँवके लोगोंके मनमें आता था कि ऐसा शरीर कैसे बने, वैसे ही ज्ञानीको देखकर लोगोंके मनमें जिज्ञासा होनी चाहिए कि यह मस्ती, यह निश्चिन्तता कैसे प्राप्त हो? यह ज्ञानकी पूरी शोभा है! श्रीउड़िया बाबाजी महाराज खुर्जा गये तो उनका दर्शन करके एक भक्त बोले--'यह तो फड़कता ब्रह्म है।'

ज्ञानी रोवे, लोगोंसे झगड़ा करे, राग-द्वेष करे और साथ-साथ कहता भी जाय--'यह सब मिथ्या है' तो लोग कहेंगे--'ऐसा ज्ञानी होनेसे तो ज्ञानी न होना ही उत्तम।' यह ठीक है कि ज्ञान अज्ञानको नष्ट कर देता है और यही उसकी शोभा है; किन्तु उसमें अच्युतभाव न हो तो जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख, विलक्षण आनन्द नहीं प्रकट होगा, ज्ञानकी पूरी शोभा नहीं होगी।

धर्म-कर्म भले निष्काम हों; किन्तु यदि वे ईश्वरार्पित न हों तो उनकी क्या शोभा हो सकती है? अतः भक्ति धर्म, ज्ञान तथा योगको शोभान्वित करती है। भक्तिके योगसे धर्म सरस हो जाता है। भक्तिके मिलनेसे योग मधुर हो जाता है। भक्तिके संयोगसे ज्ञान आकर्षक हो जाता है।

भक्ति केवल कर्म, ज्ञान, योगसे ही बड़ी नहीं है, भक्ति तो भगवान्से भी बड़ी है। भक्तिका एक-एक अंग भगवान्से बड़ा बताया गया है--**राम न सकहिं नाम गुन गाई।**

भगवद्दर्शनका भी फल सन्त-दर्शन-सत्सङ्ग होता है। महर्षि भरद्वाज श्रीभरतजीसे कहते हैं--

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन-राम-सिय दरसन पावा॥
तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग हमारा॥

जिनके नाम-स्मरण, कीर्तनसे भव-बन्धन कट जाता है, उन श्रीकृष्णको साक्षाद् भक्तिरूपिणी मैया यशोदाने ऊखलमें बाँध दिया। कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने। श्रीकृष्ण दूसरे किसीके बन्धनमें बँधते नहीं। वे तो अपनी कृपाके ही बन्धनमें बँधते हैं। मैयाका परिश्रम देखा, दया आयी और बँध गये।

जब श्रीकृष्ण पाण्डवोंके सन्धिदूत बनकर हस्तिनापुर आये थे तब दुर्योधनने भी उन्हें बाँधना चाहा था। इसमें धृतराष्ट्रकी भी सम्मति थी। धृतराष्ट्रने कहा था--कृष्ण बहुत सुकुमार है। उन्हें रेशमकी रस्सीसे बाँधना किन्तु जब दुर्योधन बाँधनेको उद्यत हुआ तो कृष्ण खड़े हो गये। उन्होंने अपना विराट् रूप दिखाकर ललकारा--'मेरे शरीरमें सम्पूर्ण विश्व है, मुझे बाँध सकोगे तुम !'

उनको तो उनकी भक्तिरूपा पत्नी ही बाँधती है--

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात्॥
नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥

(श्रीमद्भाग० १०.९.२०-२१)

'यह कृपा जो मोक्षदाता श्रीकृष्णसे गोपीने प्राप्त की--उन्हें बाँध दिया, वह उनके पुत्र ब्रह्माको भी नहीं मिली, आत्मस्वरूप शिवको भी नहीं और सदा वक्षःस्थलवासिनी लक्ष्मीको भी नहीं मिली। ब्रह्माजी पुत्र हैं—वे बाँध कैसे सकते हैं और शंकरजी तो आत्मस्वरूप हैं, अपनेको अपनेसे ही कैसे बाँधा जायगा। लक्ष्मी इतना साहस नहीं कर सकतीं। तपस्वियों, ज्ञानियोंमें भी इतनी सामर्थ्य सम्भव नहीं। वह सामर्थ्य तो भक्तिमें--प्रेमीमें ही है।'

प्रेमी शिष्य गुरुको कोपीन धारण कराता है, हाथ पकड़कर सुलाता है—'अब थोड़ी देर चुपचाप सो जाइये।' कहीं जाने, कुछ करनेसे रोक सकता है।

काशीमें एक करोड़पति थे, वे कभी-कभी पागल हो जाते थे। उन्होंने मुनीमको आज्ञा दे रखी थी कि जब मेरा मस्तिष्क ठीक न रहे तब मुझे कमरेमें बन्द कर दिया करो। मुनीम पागल होनेपर उन्हें बन्द कर देता था। यह शक्ति सेवकमें ही होती है, जाननेवाले–ज्ञानीमें नहीं। ज्ञान तो मुक्तिके लिए है। बद्ध करना ज्ञानका काम नहीं है।

भक्ति स्वयं फलरूपा है। फल वह कहलाता है जिसे जानकर हम छोड़ना न चाहें—**अवगतं तत् आत्मैवेष्यते**। आमका फल मीठा है, स्वादिष्ट है, यह जान लें तो उसे खाना चाहेंगे! किसको सुखरूप जानेंगे उसे अपने पास—अपने भीतर रखना चाहेंगे। भक्ति फलरूपा है।

घरमें कुछ वस्तुएँ प्रयोजनके कारण रखी जाती हैं। यह पता लग जाय कि घरमें सर्प है तो लाठी लाये। पता लगा कि सर्प घरसे निकल गया तो लाठी फेंक दी। इसी प्रकार आचरणकी शुद्धिके लिए धर्म तथा विक्षेपकी निवृत्तिके लिए योग आता है, ज्ञान अज्ञानकी निवृत्तिके लिए आता है। ये धर्म, योग, ज्ञान ऐसे हैं जैसे रोगीको निवृत्तिके लिए ओषधि होती है। रोग नहीं रहा तो ओषधि फेंक दी, किन्तु भक्ति तो तृप्तिरूपा है।

प्रीति शब्दका अर्थ ही है तृप्ति। **'प्रीञ् तर्पणे'** से ही प्रीति शब्द बना है। हम जीवनभर तृप्तिको धारण करना चाहते हैं। प्रीति + सेवा=भक्ति। सेवामें प्रीति हो तब वह भक्ति होती है। बिना प्रीतिकी सेवा भक्ति नहीं है। इसी प्रकार निष्क्रिय प्रीति भी भक्ति नहीं है।

सेवा करके कुछ और चाहना भक्ति नहीं होती। जैसे ईमानदार नौकर सेवा तो ईमानदारीसे करता है किन्तु वेतन चाहता है। वेतनसे अपने स्त्री-पुरुषका पालन करता है। उसकी प्रीति तो स्त्री-पुत्रमें है। इसी प्रकार जो भजन करके कुछ और चाहते हैं वे प्रीति तो चाही वस्तुसे करते हैं। वे भक्त नहीं हैं।

दर्शन देकर भगवान् सदा तो साथ रहेंगे नहीं। दर्शन एक कालमें होता है, एक कालमें नहीं होता, उसमें संयोग-वियोगका क्रम बना रहता है किन्तु प्रेम सदा रहता है। वह संयोगमें भी रहता है और वियोगमें भी।

श्रीचैतन्य-सम्प्रदायमें मानते हैं कि प्रेम रसका ही समुद्र है। उसमें श्रीराधा तथा श्रीकृष्णके जो आकार हैं, ये तरंगे हैं। ये स्थिररूप नहीं हैं। ये तरंगायित रूप हैं। एक तरंग श्रीकृष्णरूपमें और एक श्रीराधारूपमें उठती है। दोनों मिलती हैं और फिर लीन होती हैं। कभी श्रीकृष्ण राधा हो जाते हैं और कभी श्रीराधा कृष्ण हो जाती हैं।

श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदायमें कहते हैं—'हिततत्त्व' है। उसकी गोदमें श्रीराधा-कृष्ण युगल क्रीड़ा करते हैं। प्रत्येक क्षण वे परस्पर परिर्वातित होते रहते हैं, उनका मिलन नित्य-नूतन है। 'लाल प्रियासे भई न चिन्हारी।' अनन्त-अनन्त युगसे लीलाविहार कर रहे हैं किन्तु दोनोंमें परिचय ही नहीं हुआ। जब दोनों एक दूसरेके भावमें विस्मृत हो जाते हैं तब दोनोंका जो सुखात्मक बोध है वही 'हिततत्त्व' है।

यह भक्ति फलरूपा है, आनन्दरूपा है, स्वयं प्रकाश है। बहुत थोड़े लोग जानते हैं कि भक्ति साधन ही नहीं है, वही फल भी है। भक्ति साधन है, यह तो सब जानते हैं किन्तु गोस्वामी तुलसीदासजीने स्थान-स्थानपर भक्तिको फल बतलायाहै—

सब कर माँगहिं एक फल, राम चरन रति होउ।

× × ×

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रति राम पद, यह बरदान न आन॥

जीवके लिए परम रस, परम कल्याण भगवान्‌की भक्ति ही है। भक्तिमें ही जीवका परम स्वार्थ एवं परमार्थ है--

स्वारथ सकल जीव कहँ एहा। करिय रामपद पंकज नेहा॥

× × ×

सखा साँच परमारथ एहू। करिय रामपद पंकज नेहू॥

वृन्दावनमें तो सन्त लोग यह आशीर्वाद ही देते हैं--

'कृष्णे मतिरस्तु!'

भक्तिकी श्रेष्ठताके अन्य हेतु

• संगति

भक्ति साधन है, यह बात तो लोग जानते हैं; किन्तु भक्ति साधनका फल है, यह कैसे जाना जाय, इसे बताते हैं।

ईश्वरस्याभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च ॥ २७ ॥

ईश्वरके भी अभिमानसे द्वेष करने तथा दीनताप्रिय होनेके कारण (भक्ति श्रेष्ठ है) ॥ २७ ॥

भक्तिमें अभिमान नहीं है, दैन्य है। दूसरे साधनोंमें अभिमान आजाता है, दैन्य नहीं आता; इसलिए भी भक्ति ईश्वरको प्रिय है। ईश्वरकी प्रिया होनेसे भक्ति श्रेष्ठ है।

राम भगति चिन्तामनि सुन्दर। बसइ खगेस जासु उर अन्तर ॥
परम प्रकासरूप दिन राती। नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती ॥

× × ×

पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी ॥
ताते तेहि डरपति अति माया ॥

ज्ञान, योग, धर्म—ये तो पुरुषवर्गके साधन हैं। पुरुषके अपने प्रयत्नसे होते हैं। अतः ये मायापर मुग्ध हो जाते हैं। पर—

माया भगति सुनहु तुम दोऊ। नारिवर्ग जानत सब कोऊ ॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह नीति अनूपा ॥

भक्ति भगवान्‌की प्रिया है और उसपर भगवान् प्रसन्न रहते हैं।

किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने।

'श्रीपति भगवान् प्रसन्न हों तो दुर्लभ क्या?'

साधन-विचार करते हुए हमें जानना चाहिए कि जीवनमें चार बातोंके आनेसे हम ईश्वर-विमुख होते हैं।

१. पापमें रुचि—छल-कपट, चोरी-व्यभिचारमें रस आयेगा तो मनुष्य ईश्वर-विमुख हो जायगा; क्योंकि वह संसारके अभिमुख है।

२. मनकी चञ्चलता—लगाना चाहनेपर भी मन भगवान्‌में टिकता नहीं।

३. संसाराश्रयसे अभिमान—धन, परिवार, विद्या, बुद्धि, अधिकार, बलका अभिमान तो होता ही है, सम्बन्धका भी अभिमान होता है कि 'हम अमुकके पुत्र, अमुकके दामाद हैं।' शास्त्रकारोंने छब्बीस प्रकारके मद गिनाये हैं। उनमें एक मद सुन्दर स्त्री होनेका भी है।

४. ईश्वरके सम्बन्धमें जानकारी न होनेसे मनुष्य ईश्वरसे विमुख रहता है।

अब इन ईश्वर-विमुखताके चारों कारणोंके निवर्तक साधनोंपर क्रमशः विचार करें—

१. अधर्ममें रुचिको निवृत्त करनेके लिए धर्माचरण करना चाहिए। धर्मका आचरण करनेसे जितना-जितना पाप मिटेगा, भगवान्‌में उतनी-उतनी रुचि बढ़ेगी। यह पापी पुरुषका लक्षण है कि वह भगवान्‌से प्रेम नहीं करता।

२. मन भगवान्‌में टिकता नहीं। यह मनकी चञ्चलता दो प्रकारकी होती है। एक तो जहाँ हमारा राग या द्वेष होता है वहाँ मन बार-बार जाता है, दूसरे अकारण मन संसारमें भटकता है—

व्यर्थ बातें सोचता है। संसारमें जो राग-द्वेष है वह योग करनेसे नहीं मिटेगा। इसे दूर करनेके लिए भगवान्से राग करो अथवा गुरुसे, मन्दिरसे, भगवद्धामसे, सत्संगसे राग करो। मन अकारण संसारमें भटकता है—व्यर्थ चिन्तन करता है। यह बाधा योगसे दूर होती है। थोड़ी देर स्थिर आसनपर प्राणायाम करके बैठो, भगवान्के रूपकी धारणा–ध्यान करो।

३. संसारके धन, बल, रूप, कुटुम्ब, पद आदिसे जो अभिमान हो गया है वह कैसे मिटे? जो अपनेसे छोटेकी ओर देखता है उसका अभिमान बढ़ता है। अपनेसे बड़ेकी ओर देखनेसे अभिमान दूर होता है। तब दैन्यका अनुभव होता है। निखिलब्रह्माण्ड-नायक ईश्वरकी ओर देखो।

अपने देशके मानचित्रमें हमारा महानगर एक बिन्दुके समान है। पृथिवीके मानचित्रमें हमारा देश बहुत छोटा हैं। सूर्यमण्डलमें पृथिवी छोटा-सा ग्रह है। अपनी देवयानी—आकाशगंगा (जो रात्रिमें दीखती है उस) में लगभग तीन अरब सूर्य हैं और उनमें हमारा सूर्य सबसे छोटा है। आकाशगंगा भी सहस्रों–सहस्रों हैं। सूर्यमण्डलमें यह पृथिवी राई जितनी है और आकाशगंगामें सूर्य-मण्डल राई-जैसा है। जिस भगवान्में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं उनका चिन्तन करो तब तुम्हें अपनी क्षुद्रताका बोध होगा। तुम्हें प्रतीत होगा कि तुम्हारी सत्ता, जिसे तुम इतना महत्त्व देते हो, कितनी नगण्य है। इससे अभिमान दूर होगा। भगवान्के ऐश्वर्य-का चिन्तन करके उनकी शरण लेनेसे अभिमान मिटता है।

४. यदि ईश्वरके सम्बन्धमें ज्ञान–जानकारी न होनेसे विमु-खता है तो सत्संग करो। सत्संगमें भगवान्के अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य, असीम उदारता, परम दयालुताका परिचय मिलेगा। वहाँ तुमको सुननेको मिलेगा—

रघुबर रावरि यहै बड़ाई।
निदरि गनी आदर गरीबपर करत कृपा अधिकाई।।

× × ×

केवट मीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई।।
प्रेम कनौड़ो रामसों तिभुवन तिहुँ काल न भाई।।

(विनयपत्रिका)

इस ज्ञानसे भगवान्‌में तुम्हारी रुचि-प्रीति बढ़ेगी। विमुखताके इन कारणोंमें भी अभिमान ईश्वरसे विमुख करनेका सबसे प्रबल हेतु है। ईश्वरको अभिमान प्रिय नहीं है। ईश्वर अभिमानका द्वेषी है और उसे 'दैन्य प्रिय है—जेहि अति दीन पिआरे। इसलिए ईश्वरको भक्ति प्रिय है। श्रीकृष्णने कहा--

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।

(गीता १६.१९)

'संसारमें द्वेष करनेवाले उन क्रूर नराधमोंको मैं बार-बार अशुभ आसुरी योनियोंमें ही फेंकता हूँ।' यह ईश्वरका अभिमानी आसुरी सम्पत्तिवालोंके प्रति द्वेष ही तो है। बम्बईमें एक पण्डितजी आये। नव-नारायण-मन्दिरमें उन दिनों गीताकी कथा होती थी। वे बोले--'मैंने खोज की है कि गीतामें श्रीकृष्णने एक सौ आठ गालियाँ दी हैं।'

मैंने कहा--'शिशुपालने तो इन्हें सौ गालियाँ ही दी थीं। व्रजमें गाली देनेकी रीति ही है; प्रेममें भी 'सारे' कहते हैं। वहींसे ये सीख आये होंगे।'

यह 'क्रूर', 'नराधम' आदि गालियाँ ही तो हैं। पर सच पूछिये तो ये गालियाँ नहीं हैं। भगवान् इन शब्दोंके द्वारा अपनी

अरुचि–नापसन्दगीकी घोषणा करते हैं, क्योंकि अभिमान आने-पर भगवान् वहाँ नहीं रहते।

चाखा चाहै प्रेमरस, राखा चाहै मान।
एक म्यानमें दो खड्ग, देखे सुने न कान॥

एक हृदयमें प्रेम रस और अभिमान ये दोनों नहीं रह सकते।

जब युधिष्ठिर कौरवोंके कपट-जुए में हार गये और दुःशासन भरी सभामें द्रौपदीके केश पकड़कर घसीट लाया तथा दुर्योधनके आदेशसे उसे नंगी करने लगा तो वहाँ भगवान्का वस्त्रावतार हो गया। द्रौपदीकी साड़ी बढ़ गयी; किन्तु इसमें थोड़ी देर हुई थी। वनमें जब पाण्डवोंसे मिलने श्रीकृष्ण आये तो द्रौपदीने उलाहना देते हुए कहा--'तुमने कौरव-सभामें मेरी लज्जा तो बचा दी; किन्तु इतनी देरसे, इतना रुलाकर क्यों आये?'

श्रीकृष्णने कहा—'पाञ्चाली! जब तुमने मुझे 'गोविन्द!' कहकर पुकारा तब तुम्हारे मुखसे 'गो' निकलते ही मैं द्वारकासे चल पड़ा था और 'विन्द' तो मैंने हस्तिनापुरमें सुना। पर मैं करता भी क्या? तुमने साड़ी तो अपने हाथोंसे पकड़ रखी थी। जबतक तुम्हें अपने हाथोंके बलका आश्रय था, हाथोंकी शक्तिसे अपनी रक्षा कर लेनेका अभिमान था, मैं कैसे प्रकट कर सकता था। तुमने जिस क्षण हाथसे साड़ी छोड़ दी उसी क्षण मैं प्रकट हो गया।'

अभिमान भगवान्को इतना छोटा बना देता है कि वे काम नहीं कर पाते अथवा अभिमानका थैला स्वयं इतना छोटा है कि उसमें भगवान् समाते नहीं। रबड़के थैलेमें पर्वतको लेना चाहो तो कैसे आयेगा! फिर तो थैला फट जाय, यही उपाय है। भगवान् अभिमान मिटाकर ही मिलते हैं। यह प्रभुकी अतिशय करुणा है कि जिस अभिमानके कारण जीव संसारमें भटक रहा है, उसे वे फाड़ फेंकते हैं।

मैंने एक भक्तकी जीवनीमें पढ़ा--'एक गुरु, शिष्य थे। शिष्य श्रद्धालु था, भक्त था, अतः उसे भगवान्‌के दर्शन हो गये। गुरुजी उस समय शिष्यके समीप ही थे; किन्तु उन्हें भगवान्‌का दर्शन नहीं हो रहा था। शिष्यने जब गुरुजीको भी दर्शन देनेका आग्रह भगवान्‌से किया तो भगवान् बोले—'इन्हें तो सौ जन्मके बाद दर्शन होगा।'

गुरुजी बहुत दुःखी हुए। शिष्यने कहा--'आप दुःखी मत हों ! मैं एक युक्ति करता हूं।'

उसने गुरुजीको सौ बार जल्दी-जल्दी पानीमें डुबाया। एक बार डुबाया और शरीर छूट गया। भगवान्‌ने तत्काल दूसरा देह दिया। दूसरा जन्म हुआ तो फिर डुबा दिया। इस प्रकार गुरुजीने सौ जन्म लिये और प्रत्येक बार शिष्यने उन्हें जलमें डुबाया। जब सौ जन्म हो गये उनके, तब भगवान्‌से प्रार्थना की-- 'अब आप अपने वचनका पालन करें और इन्हें दर्शन दें !'

गुरुजीको भवबद्दर्शन हो गये। यह गुरुके प्रति शिष्यका द्वेष नहीं, सेवाभाव है। उसने अपने ऊपर सौ बार गुरु-हत्याका दोष लेकर भी गुरुको भगवत्प्राप्ति करा दी। भगवान् भी इसी प्रकार अपनी प्राप्तिकी बाधा दूर करते हैं। वे--'हतारिगतिदायक' हैं। जो असुर भगवान्‌से शत्रुता करते हैं, वे शत्रुभावसे—द्वेषसे चिन्तन तो भगवान्‌का ही करते हैं; किन्तु उनमें अपने शारीरिक बलका अभिमान होता है। भगवान् उन्हें मारकर उसका अभिमान नष्ट कर देते हैं और उन्हें मुक्ति देते हैं।

अभिमान सदा अन्य वस्तुका होता है। इसलिए सच्चे आत्म-दानीको त्याग-वैराग्य, बुद्धि-विवेक या समाधि किसीका अभिमान नहीं होता; क्योंकि सब तो उसका अपना ही स्वरूप है। इसलिए भगवान्‌ने कहा--

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।

(गीता ७.१७)

'मैं ज्ञानीको अत्यन्त प्रिय हूं और वह मुझे प्रिय है ।'

अभिमान मनुष्यके हृदयमें बड़े कौशलसे आता है। एक भक्तजी सभामें गये और सबसे नीचे बैठ गये। अब मनमें अभिमान आया--'ये सब अभिमानी हैं अतः ऊँचे आसनपर बैठे हैं। भक्तको मेरी भाँति नीचे बैठना चाहिए।

जहाँ यह लगे कि कोई किसी बातमें हमसे छोटा है, वहाँ समझ लो कि तुम्हारे हृदयमें अभिमान आगया है। अपनेसे औरोंको बड़ा देखनेमें जीवत्वका अभिमान है। यदि किसीको किसीमें कोई भी दोष दीखता है तो वह अपनेको निर्दोष मानता है। अभिमानसे ही दूसरोंमें दोष दीखते हैं। अपनेको निर्दोष माने बिना दूसरेमें दोष दीख नहीं सकता। अभिमान तब मिटता है जब सब कहीं, सब रूपमें ईश्वर दीखता है। निरभिमानिताका भी अभिमान होता है कि 'लोग तो अपनी प्रशंसा सुनते हैं; मैं नहीं सुनता।'

•

भक्तिके विभिन्न साधन

• **संगति**

तुमको अभी--इसी समय, यहीं--इसी स्थानपर ईश्वरका दर्शन नहीं हो रहा है तो कोई-न-कोई प्रतिबन्ध तो ईश्वरके दर्शनमें तुम्हारे लिए है ही। तुम्हारी भक्तिमें कुछ-न-कुछ त्रुटि अवश्य है। वह प्रतिबन्ध--वह त्रुटि है केवल अभिमान, दूसरा कोई प्रतिबन्ध--कोई त्रुटि नहीं है। यह अभिमान तब दूर होगा जब हृदयमें भक्ति आवेगी; भक्तिके साधनका वर्णन करते हैं। •

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥ २८ ॥

कोई आचार्य कहते हैं कि उस भक्तिका साधन ज्ञान ही है॥ २८ ॥

भक्तिका साधन ज्ञान ही है। बिना भगवान्‌के स्वरूपको जाने उनसे प्रेम नहीं हो सकता। वेदान्तके मतमें तो भक्ति ज्ञानका साधन है; अतएव यह मत वेदान्तका मत नहीं है।

भगवान् अखिल हेयप्रत्यनीक हैं। उनमें दोई दोष है ही नहीं, प्रत्युत व अचिन्त्य-अनन्त-कल्याण-गुणगणैकसिन्धु हैं। उनके एक-एक गुणको जानकर उनपर अपनेको न्यौछावर कर देनेको चित्त चाहता है। उसका एक-एक अंग अनन्त सौन्दर्यधाम है। भगवान्‌के ऐसे सौन्दर्य, माधुर्य, भक्त-वात्सल्य, करुणावरुणालय आदि स्वरूपको जाननेपर मनुष्यके मनमें सहज स्वाभाविक रूपसे भगवान्‌के प्रति भक्तिका उदय होता है।

भगवान् प्राप्त तो हुए नहीं हैं। उनका सौन्दर्य-माधुर्य देखा नहीं है। उनके वात्सल्यादिका कोई अनुभव नहीं है। अतः इन सबका जो ज्ञान होगा, वह केवल श्रवणमूलक, सुननेके आधारपर ही होगा। श्रद्धामूलक सुना हुआ ज्ञान दृढ़ होता नहीं। जब ज्ञान ही दृढ़ नहीं तो उस ज्ञानसे होनेवाली भक्ति कैसे दृढ़ होगी? इन बातोंको ध्यानमें रखकर दूसरा मत उद्धृत करते हैं। ●

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ २९ ॥

दूसरे आचार्यका मत है कि ज्ञान एवं भक्ति परस्पर आश्रित हैं। अर्थात् ज्ञानका साधन भक्ति है और भक्तिका साधन ज्ञान है ॥२९॥

दूसरे आचार्य कहते हैं कि भगवान्‌का ज्ञान प्राप्त करने कहाँ जाओगे? सेवा करो, भजन करो तो इससे स्वतः भगवान्‌के सम्बन्धमें ज्ञान–जानकारी प्राप्त होगी। उस ज्ञानसे प्रेम और बढ़ेगा।

एक वृद्धा एक महात्माके समीप गयी और बोली—'मैं ठाकुर-सेवा करना चाहती हूँ। कुछ भजन-पूजन बताइये।'

महात्माने एक गोल पत्थर उठाकर दे दिया और कहा—'इनको अपना नन्हा बच्चा मानना। बच्चेके समान इनका लालन करना।'

बुढ़िया उस पत्थरको ले आयी। उसे उठावे, उबटन-तेल मले, स्नान करावे, अञ्जन लगावे, दूध पिलावे, वस्त्र पहनावे और गोदमें लेकर सोवे। उसका दृढ़ भाव बन गया कि यह मेरा बेटा है।

गाँवके लोग उसे चिढ़ाने लगे। किसीने हँसीमें कह दिया—'आजकल गाँवमें भेड़िया आने लगा है। वह बच्चोंको उठा ले जाता है। अपने गोलमटोलको सम्हालना।'

बुढ़ियाको उसकी बातपर विश्वास हो गया। वह द्वारपर डण्डा लेकर बैठ गयी, भेड़ियेसे अपने गोलमटोलकी रक्षा करने। उसे तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वरका कोई ज्ञान नहीं था। तीन दिन बीत गये। बुढ़िया रात भर जागे और दिन भर गोलमटोल गोपालकी सेवा करे। चिन्ताके मारे उसे न भूख लगे, न नींद आवे। चौथी रातको स्वयं भगवान् पधारे। बुढ़ियाने देखा तो दूरसे ही ललकारा—'कौन आ रहा है? वहीं ठहर! मेरा लाला जाग जायगा।'

भगवान्ने कहा--'मैया, मैं ही तेरा लाला हूँ। तू जिसकी सेवा करती है वह मैं ही हूँ।'

बुढ़िया--'चल! बड़ा मेरा लाला बनने आया है। तेरे जैसे कितने चमकने अपने गोलमटोलपर न्यौछावर करके फेंक दूँ। तू मेरा लाला बनने योग्य है!'

भगवान्--'मैया! अब तू अपने गोलमटोलको लेकर गोलोक चल।'

वृद्धा--'वहाँ भेड़िया होता है या नहीं?'

भगवान्--'वहाँ भेड़िया-बाघ तो क्या मक्खी, मच्छर भी नहीं होता।'

वृद्धा--'तब चल! वहाँ मेरा लाला सुखसे रहेगा।'

वृद्धाको भगवान् गोलोक ले गये। अतः भगवान् तो केवल श्रद्धासे मिलते हैं। इसमें ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है।

●

भक्तिकी फलरूपता

• संगति

अब देवर्षि नारद भक्तिके सम्बन्धमें अपना मत बतलाते हैं। सनत्कुमारका मत नारदजीका ही मत है; क्योंकि नारदजी सनत्कुमारके शिष्य हैं। जब देवर्षि सब वेद-वेदाङ्ग, शास्त्र-पुराणादि पढ़ चुके तो सनत्कुमारके समीप जाकर उन्होंने प्रार्थना की—

सोऽहं मन्त्रविदेवास्मि तं मां शोकस्य पारं दर्शयतु भगवान्।

'भगवन्! मैं केवल शास्त्रोंका ज्ञाता हूं। परमार्थतत्त्वको नहीं जानता हूँ। अतः आप मुझे शोकके परम पार पहुँचावें!'

तब सनत्कुमारने नारदको उपदेश दिया। श्रीमद्भागवतकी सप्ताह-अनुष्ठानविधि भी सनत्कुमारने ही नारदजीको बतलायी। इस प्रकार सनत्कुमार तथा नारद एक ही परम्पराके हैं। अतः देवर्षि नारद अकेले अपना नाम न लेकर अपने गुरु तथा बड़े भाइयोंके साथ अपनेको मिलाकर यह मत उद्धृत कर रहे हैं। •

स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः ॥ ३० ॥

ब्रह्माजीके पुत्रों (सनक सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार तथा स्वयं नारद) के मनमें भक्ति स्वयं फलरूपा है ॥ ३० ॥

'स्वयं फलरूपा'का अर्थ समझ लेना चाहिए। कोई पूछे—'हम बहुत दिनोंसे जप, कीर्तन, पूजन करते आ रहे हैं किन्तु इनसे कोई लाभ नहीं दीखता। न मन एकाग्र हुआ, न कोई आनन्द आया, क्या करना चाहिए?'

यह प्रश्न क्यों उठा? जिसे पित्तविकार होता है उसे मिश्री मीठी नहीं लगती। उसके रोगकी औषधि भी मिश्री ही है। मिश्री

खाते रहो। पित्तविकार उससे मिटेगा तो मिश्री मीठी लगेगी ही। इसो प्रकार वासना भी रोग है, अतएव भगवन्नाम-जप, कीर्तन, पूजनमें आनन्द नहीं आता। इसकी ओषधि भी यही है कि नाममें लगे रहो। वासना मिटेगी तो उसमें आनन्द आने लगेगा। भगवन्नाम पहले वासना मिटाता है और तब उसमें रस आता है।

राम कहनेका मजा जिसकी जुबाँ पर आ गया।
मुक्त जीवन हो गया चारो पदारथ पा गया।।

पहले तो भगवन्नाम लेनेमें आलस्य आता था। जप करते समय नींद आने लगती थी। 'इसे करना चाहिए' यह कर्तव्य मानकर अथवा गुरुकी आज्ञासे विवश होकर करते थे। धीरे-धीरे वासना क्षीण हुई और नाममें रस आया तो ऐसा रस आया कि नाम छूटता नहीं। नामको छोड़कर मुक्ति भी नहीं चाहिए। इस प्रकार जो पहले साधन बनकर आया था वही फल बन गया। उसके सम्मुख अब न भोग अच्छा लगता है, न मोक्ष और न वैकुण्ठ ही।

मेरे पास एक सज्जन आकर रहने लगे। वे नाम-जपमें लग गये। प्रतिदिन दस घंटे जप करते थे। इस प्रकार अनुष्ठान करते हुए उन्हें वर्ष दो-वर्ष बीत गये। मुझसे वे बार-बार कहते थे--'इस जपसे मुझे तो कोई लाभ नहीं है।'

मैंने एक दिन कहा--'कोई लाभ नहीं है तो छोड़ दो।'

वे--'आपकी आज्ञा हो तो छोड़ दूँ।'

मैं—'मेरी आज्ञा है, छोड़ दो।'

वे घंटे भर पीछे आये और रोते हुए बोले कि 'यह तो छूटता नहीं है।' मैंने कहा--'नहीं! मैं अपना मन्त्र वापस लेता हूँ। तुम इसे छोड़ दो।'

वे बहुत दुखी हुए। अन्तमें उन्हें मैंने यह बात समझायी--'यह जो छूटता नहीं, यही तो प्रेम है। प्रेम है तभी तो इसे

छोड़नेमें दुःख हो रहा है। प्रेम न होता तो छोड़नेमें दुःख क्यों होता !

मैं पहले जप नहीं करता था। एक महात्माके समीप गया तो उन्होंने पूछा--'तुम जप क्यों नहीं करते ?'

मैंने कहा--'मुझे कुछ चाहिए नहीं। फिर मैं जप क्यों करूँ ?'

महात्मा--'मेरी प्रसन्नताके लिए जप करो। मेरे कहनेसे तुम जप करोगे तो मुझे बहुत प्रसन्नता होगी।'

उनकी आज्ञा मानकर मैंने नाम-जप प्रारम्भ किया। पीछे उसमें रस आने लगा। एक संतसे मैंने कहा--'सदा भगवन्नाम मुखसे नहीं निकलता।' उन्होने कृपा की--तीन दिन-रात नामका निर्झर समान प्रवाह चलता रहा। भक्तिका साधन पहले ही कटु लगता है, पीछे अत्यन्त मधुर है और यही सात्त्विक सुखका लक्षण है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

(गीता १८.३७)

'जो प्रारम्भमें विषके समान लगे और परिणाम जिसका अमृतके समान हो वह अपनी बुद्धिकी निर्मलतासे प्राप्त सुख सात्त्विक कहा गया है।'

हिरण्यकशिपु प्रह्लादसे भक्ति ही तो छुड़वाना चाहता था। इसके लिए उसने प्रह्लादको क्या-क्या कष्ट नहीं दिये ! शस्त्रसे मरवाया, सर्प-बिच्छुओंसे डँसवाया, हाथीके पैरके नीचे डाला, पर्वतसे गिराया, समुद्रमें डुबाया, भूखे रखा, अग्निमें डाला, कृत्यासे मरवा डालना चाहा; किन्तु भक्ति प्रह्लादसे छूटी नहीं।

भक्त्या सञ्जातया भक्त्या

भगवान्की भक्ति पहले साधनके रूपमें करो; तब उससे परा रागात्मिका भक्ति आती है। •

भगवान्‌की प्रसन्नता ज्ञानसे नहीं, भक्तिसे

• संगति

अब देवर्षि नारद दृष्टान्त देकर इस तथ्यको समझाते हैं। •

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥ ३१ ॥

राजभवनमें तथा भोजनादिमें ऐसा ही देखे जानेके कारण ॥ ३१ ॥

एक मनुष्य राजाके राजभवनमें अथवा राष्ट्रपति-भवनमें राष्ट्रपतिसे मिलने गया। द्वारपालने रोककर पूछा--'तुम कौन हो ? क्यों आये हो ?'

उसने परिचय दिया और कहा—'मैं राष्ट्रपतिसे मिलने आया हूँ।'

द्वारपाल--'राष्ट्रपतिसे तुम्हारा क्या परिचय है ?'

उसने कहा--'मैं उन्हें जानता हूँ।'

द्वारपाल--'उन्हें तो पूरा संसार जानता है। वे तुम्हें जानते हैं या नहीं ?'

'वे तो मुझे नहीं जानते।' उसे स्वीकार करना पड़ा और द्वारपालने उसे लौटा दिया--'जब वे तुम्हें नहीं जानते तो तुम उनसे नहीं मिल सकते।'

किसी भोजनके विषयमें हम यह जानते हैं कि 'वह किन-किन पदार्थोंसे बनता हैं, कैसे बनता है, उसके क्या गुण-दोष हैं।' पर उस भोजनको किये बिना क्या उसके सम्बन्धकी जानकारी मात्रसे तृप्ति हो जायगी ?

नियम यह है कि जहाँ-जहाँ सविशेषका ज्ञान है वहाँ-वहाँ जानने मात्रसे वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती। निर्विशेष तो अपना स्वरूप ही है। वह नित्य प्राप्त है। अज्ञानके कारण वह अप्राप्त प्रतीत होता है। अतः जानने मात्रसे अप्राप्तिका भ्रम दूर होनेसे वह प्राप्त हो जाता है। पर जो अपनेसे भिन्न है वह जानने मात्रसे कैसे मिलेगा ?'

तुम्हें राजाका--राष्ट्रपतिका पूरा चरित--पूरी जीवनी, उनके गुण-अवगुण आदिका ज्ञान हो या न हो, उनकी सेवा करो तो उनकी प्रसन्नता तुम्हें प्राप्त होगी। तुम भोजनके बनानेकी विधि, उसमें क्या-क्या पड़ा है--यह विवरण जानो या न जानो, भोजन करो तो तुम्हारी क्षुधा-निवृत्ति होगी और तुम्हें तृप्ति मिलेगी। जिसकी भक्ति करोगे उसका ज्ञान, और जिधरसे मन हटाओगे उधरसे वैराग्य स्वतः हो जायगा।

• **संगति**

पहले सूत्रको स्पष्ट करते हैं।

न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ॥ ३२ ॥

उस (ज्ञानमात्र) से न राजाकी प्रसन्नता होती है और न क्षुधाकी निवृत्ति ॥ ३२ ॥

राजा या राष्ट्रपतिके चरित, गुण, शिक्षादिका ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे वे तुमपर प्रसन्न नहीं हो जायँगे। इसके लिए उनके अनुकूल आचरण--उनकी सेवा अपेक्षित है। ऐसे ही भोजनके बनानेकी विधि या उसके गुण जाननेसे भूख नहीं मिटेगी। भूख मिटेगी भोजनका सेवन करनेसे।

•

मुमुक्षुके लिए भक्ति ही आश्रयणीय

● **संगति**

सगुण साकारके क्षेत्रमें केवल ज्ञानसे कोई लाभ नहीं है। भगवान्‌को भक्ति करना आवश्यक है।

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥ ३३ ॥

अतएव जो संसारके बन्धनोंसे छूटना चाहते हैं उन्हें उस (भक्ति) का ही आश्रय लेना चाहिए ॥ ३३ ॥

जो दुःखसे, जड़तासे, मृत्युसे छूटना चाहते हैं वे मुमुक्षु हैं। जीवको ये बाण लगे हुए हैं। दुःखका बाण लगनेसे उसका आनन्द मिट गया है। जड़ता—अज्ञानका बाण लगनेसे उसका ज्ञान मिटा है और मृत्युरूप बाण लगनेसे उसकी सत्ता मिटी है। निर्वाण वह स्थिति है जहाँ दुःख, मूर्च्छा–जड़ता एवं मृत्यु नहीं है। जो इस स्थितिको प्राप्त करना चाहते हैं वे मुमुक्षु हैं। उन्हें इसके लिए भक्तिका ही आश्रय लेना चाहिए।

● **संगति**

मुमुक्षुके लिए भक्ति ही ग्रहण करने योग्य है तो उसका ग्रहण कैसे किया जाय ?

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥ ३४ ॥

उस (भक्ति)के साधनोंका आचार्यगण गान करते हैं ॥ ३४ ॥

भक्तिके आचार्य कौन-कौन हैं, यह इस ग्रन्थके अन्तमें देवर्षिने बतलाया है। ज्ञानके प्रसंगमें उपदेश होता है। ज्ञानके आचार्य मुमुक्षुको उपदेश करते हैं। भक्तिके प्रसंगमें 'गान' शब्द आया है उपदेशके स्थानपर। हृदयमें जो सुख-दुःखादिकी संवेदना होती है उसके उद्‌गारका नाम गान है। प्रेमकी बोलनका नाम संगीत है और प्रेमकी चलन–गतिका नाम नृत्य है। आचार्य भक्तिके परम प्रेमी हैं अतएव वे भक्तिके विषयमें बोलते-बोलते गान करने लगते हैं।

भक्ति—विषय और आसक्तिके त्यागसे

● संगति

आचार्य क्या कहते हैं ? किन साधनोंका गान करते हैं ? उन आचार्योंके ग्रन्थोंमें ही उनका उपदेश देख लेना चाहिए, यह ठीक है; किन्तु सबके लिए यह सुगम नहीं है। दूसरे आचार्योंके बताये किन साधनोंकी ओर नारदजी ध्यान दिलाना चाहते हैं, यह बतलाना चाहिए। यही सूत्रमें बताया गया है।

तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च ॥ ३५ ॥

वह (भक्ति) तो विषयोंके त्यागसे और आसक्तिके त्यागसे प्राप्त होती है ॥ ३५ ॥

'तत्तु'--भक्तिः। भक्तिमें अपने इष्टदेवके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब विषय है। यहाँ सांख्यदर्शनका विषय-विषयी अभिप्रेत नहीं है।

वेदान्त, सांख्य और योग ये तीनों द्रष्टृ-दर्शन हैं। इनमें द्रष्टा आत्माका स्वरूप बतलाया गया है। भक्ति-दर्शन दृश्य-दर्शन है। दृश्य दो प्रकारका है—एक भगवान् तथा दूसरा अन्य सब वस्तुएँ। यह जो दूसरा दृश्य है वह विषय है। भगवान्के अतिरिक्त संसारमें जो कुछ है, और विषय है, और विषयमात्र बन्धनका हेतु है अतः उसका त्याग करो।

संग भी दो प्रकारका है--विषयी पुरुषोंका संग और भगवदीय पुरुषों--भगवद्भक्तोंका संग। इनमें भगवदीय पुरुषोंको छोड़कर अन्य सब संग त्याज्य हैं। संग करो तो केवल भगवद्भक्तोंका करो। ●

अव्यावृत भजनसे

• **संगति**

विषय-त्याग तथा संग-त्याग ये दोनों त्यागनेकी बातें हुईं। अब करणीय बतलाते हैं।

अव्यावृतभजनात् ॥ ३६ ॥

अनावृत भावके भजनसे (भक्ति प्राप्त होती है) ॥ ३६ ॥

इस सूत्रमें 'अव्यावृत' तथा 'अव्यावृत्त' ये दो पाठभेद प्राप्त होते हैं। 'अव्यावृत' भजन करो; उसमें कोई पर्दा न हो। अपनेको 'आवृत' मत रखो। भगवान्का पर्दा हटा दो--उनको अपनेसे दूर मत मानो। उनको अपना मानकर भजन करो। भगवान्के सामने अपने चित्तको पूर्ण रूपसे खोल दो--अनावृत कर दो, क्योंकि यह नियम ही है कि निरावरण हुए विना अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष किसीका भी सुख प्राप्त नहीं होता। आवरण-भंग सर्वत्र आवश्यक है।

माता-पिताके रज-वीर्यसे बना यह देह भोजनसे पुष्ट होता है। गुरुका दिया साधक-देह जो नित्य कुमार है भजनसे पुष्ट होता है।

संसारके विषयों एवं व्यक्तियोंमें जो आसक्ति है वह भगवान्के भजनमें एक बड़ी बाधा है। क्योंकि—

एक संग नहि होहि भुआलू। हँसब ठठाइ फुलाउब गालू॥

आसक्ति तो एक स्थानपर रहेगी। स्थान-स्थानपर आसक्ति विभक्त करनेसे वह कहीं नहीं रहेगी।

यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहु कौने सुख पायो।

हमारा संसारमें राग है। हम कहते हैं—'इसके विना हम नहीं रह सकते।' पर भगवान्के बिना हम रह रहे हैं। हम पुत्रके लिए, धनके लिए, स्त्रीके लिए तो रोते हैं; किन्तु उस सच्चिदानन्दघनके लिए हमारे चित्तमें तड़पन नहीं है। ऐसा क्यों है? संसारमें राग होनेसे।

मेरे बचपनकी बात है। मेरे परिवारके ही एक सज्जन श्रीजगन्नाथपुरी गये। वहाँ पंडेने कहा—'यहाँ आकर लोग कुछ छोड़नेका संकल्प करते हैं। तुम भी कुछ त्यागका संकल्प करो।'

असत्य, कटुभाषण आदि कोई दुर्गुण छोड़ना चाहिए, यह बात तो उनके मनमें नहीं आयी। दूध, दही, घी, फल छोड़ना भला कैसे बने? सोचा—'काशीफल (कुम्हड़ा-कद्दू) छोड़ दें, किन्तु कहीं किसीके यहाँ निमन्त्रण खाने जाना हो तो ग्रामोंमें प्रायः काशीफलका ही शाक मिला करता है। अतः उसको छोड़ना भी ठीक नहीं लगा। बहुत सोच-विचार करके उन्होंने क्या छोड़नेका संकल्प किया? (गूलर) उदुम्बरका फल। पहले भी वे गूलरका फल नहीं खाते थे। आगे भी खाना नहीं था। भगवान्के लिए भगवान्के धाममें छोड़नेको वह फल मिला उन्हें। ऐसा इसलिए हुआ कि संसारके पदार्थोंमें आसक्ति थी।

हम अपने हृदयमें रहनेके लिए भगवान्को पुकारें और हृदयमें कूड़ा-करकट भरे भी रहें तो भगवान् आकर कहाँ बैठें! अतएव विषयोंका तथा उनकी आसक्तिका त्याग करो। अपना हृदय-भवन भगवान्के बैठने लिए स्वच्छ करो।

'अव्यावृत्तभजनात्'—भजन छूटने न पावे। भजन छोड़ते ही हृदयमें असुरोंका निवास हो जाता है। खाली घरमें भूत बसते हैं। अतएव—

हरिसे लागा रहु रे भाई। तेरी बनत बनत बनि जाई॥

व्याहृतका अर्थ होता है लौट जाना। जैसे जाग्रत्-अवस्था तुम्हें स्वप्नतक पहुँचाकर लौट जाती है ऐसे भजन कभी लौट न जाय। सदा भगवान्‌से लौ लगी रहे। मन संसारके विषयोंका ध्यान न करे।

आत्मा अविनाशी है--अतः यहाँ विनाशका अभिप्राय है पतन।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १७.२०)

भगवान्‌की विस्मृति तथा कामादिका चित्तमें आना, यही आत्माका नाश है। तुम भगवान्‌के अङ्ग हो, काम-क्रोध-लोभ-मोहके चक्करमें पड़ गये तो तुम्हारे स्वरूपका यह नाश ही है।

• संगति

बात तो ठीक है कि संसारके विषयों एवं व्यक्तियोंमें आसक्ति न हो तो भजन होगा; किन्तु मनमें संसारसे ऐसा वैराग्य नहीं है। भगवान्‌के प्रति इतना राग—इतना प्रेम भी नहीं जागा कि मन चौबीस घण्टे उनमें ही लगा रहे। अतएव यह उपाय बने, ऐसा नहीं दीखता। ऐसी दशामें भगवान्‌की भक्ति कैसे हो, व्यवहारमें रहते हुए भक्ति कैसे की जाय, इसका उपाय बतलाते हैं।

लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात् ॥ ३७ ॥

व्यवहारमें—समाजमें भगवान्‌के गुणोंका श्रवण तथा उनका कीर्तन—वर्णन करनेसे भक्तिकी प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥

भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः।

मेरा मत है कि जो मेरी चर्चामें ही दिन व्यतीत करते हैं उनके लिए घरमें रहना बन्धनका कारण नहीं होता।

अनदेखेसे प्रीति करनी है तो उसके सम्बन्धमें श्रवण करना होगा। भगवान् कर्णके मार्गसे हृदयमें आवेंगे 'प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण'। जब कोई राजा कहीं आनेवाला होता है तो उसके आगे एक मार्ग-दर्शक चलता है—'इत इतो महाराजः'—'महाराज इधर-इधर होकर पधारें!' भगवान्‌के आगे-आगे उन्हें मार्ग दिखाती उनकी कथा चला करती है।

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोजे।
आस्ते श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ॥

(श्रीमद्भाग० ३.९.११)

'नाथ ! आप निश्चय ही भावयोग-भक्तिसे सुसंस्कृत पुरुषोंके हृदयकमलमें कथाके द्वारा कर्णके दिखाये हुए मार्गसे पधारते हैं ।'

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् ।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ॥

(श्रीमद्भाग० २.८.५)

'जैसे शरद् ऋतु जलके मलको नष्ट कर देती है, वैसे ही श्रीकृष्ण अपने भक्तोंके भावनामय हृदयकमलमें कर्णके मार्गसे प्रवेश करके उसके मलको नष्ट कर देते हैं ।'

निर्गुण ब्रह्मके साक्षात्कारका साधन तो केवल ज्ञान है। वह श्रवण या कीर्तनसे नहीं मिलता । पर क्या सगुण ईश्वर श्रवण एवं कीर्तनरूप ऐन्द्रिय कर्मोंसे प्राप्त होता है ? यह बात विचारणीय है ।

इन्द्रियोंके द्वारा अथवा ऐन्द्रिय कर्मके द्वारा परमात्मा प्रत्यक्ष नहीं होता । परमात्मा कर्म-प्राप्य नहीं है । श्रवण नामक ज्ञानेन्द्रियसे होनेवाले साधनका नाम श्रवण है और कर्मेन्द्रिय (जिह्वा) से होनेवाले कर्मका नाम कीर्तन है। श्रवण हो या कीर्तन, दोनों कर्म हैं और कर्म कर्ताके प्रयत्नसे होता है। यदि कर्ताके प्रयत्नसे होने-वाले किसी कर्म से परमात्माकी प्राप्ति हो तो वह भी कर्मफल हुआ। तब जैसे कर्मफल स्वर्ग नाशवान् है वैसे ही परमात्माकी प्राप्ति नाशशील तो नहीं ?

श्रवणसे शब्दका साक्षात्कार होता है। यदि श्रवणसे ईश्वर प्राप्त होता है तो वह भी विषयके समान प्रत्यक्ष है क्या ?

इन शंकाओंके सम्बन्धमें कहना यह है कि निर्गुण निर्विशेष ब्रह्मके सम्बन्धमें यहाँ कुछ नहीं कहा जा रहा है। निर्गुण ब्रह्मको पुकारो तो वह सुनता नहीं। यहाँ बात सगुण परमात्माकी कही जा रही है, यह ध्यान रखना चाहिए। परमात्मा जब सगुण सविशेष है तो हम उसके लिए तीर्थयात्रा कर रहे हैं, पूजन या कीर्तन कर रहे हैं, इसे वह जान सकता है या नहीं ? जब हम प्रेमसे

उसका नाम-गुण कीर्तन करते हैं तब वह उसे सुनता है। हम जब उसके गुणानुवादका श्रवण करते हैं, हमारे नेत्रोंसे अश्रु गिरते हैं, शरीरमें रोमाञ्च होता है, तब वह हमें देखता होता है। वह अपनी चर्चा सुननेका बड़ा कौतुकी है। श्रीकृष्णकर्णामृतमें बतलाया है—

स्तोक-स्तोकनिरुध्यमाननयनप्रस्यन्दि-मन्दस्मित
प्रेमोद्भेदनिरर्गलप्रसृमर - प्रव्यक्तरोमोद्गमम्।
श्रोतुं श्रोत्रमनोहरं व्रजवधूलीलामिथोजल्पितं
मिथ्यास्वापमुपास्महे भगवतः क्रीडानिमीलद्दृशः॥

"मैया यशोदाने कन्हाईको दूध पिलाकर पलनेपर सुला दिया था। ग्वालिनें आयीं और वहीं बैठ गयीं। श्रीकृष्णके मनमें आया कि सुनें ये गोपियाँ परस्पर क्या चर्चा करती हैं। पीताम्बर ओढ़कर नेत्र बंद करके झूठमूठ सो जानेका नाट्य कर लिया। गोपियोंको श्रीकृष्णकी चर्चा छोड़कर दूसरी बात सूझती कहाँ है! देखा कि नन्दनन्दन सो गये तो उन्हींकी चर्चा करने लगीं—'कैसा भुवनमोहन रूप है। कैसे देखते हैं, कैसे मुस्कराते हैं। यह चर्चा सुनकर ऐसा प्रेम उमड़ा श्रीकृष्णमें कि शरीरमें रोमाञ्च हो आया। तनिक-तनिक नेत्र खोलकर देख लेते थे—नेत्र स्वयं गोपियोंको देख लेना चाहते थे, उन्हें प्रयत्नपूर्वक बंद कर रखा था। मुखपर मन्द स्मित आ गया। ऐसे तो वे अपना वर्णन सुननेके कौतुकी हैं!'

मनुष्य जब भगवान्का गुणानुवाद सुनता है तब भगवान् स्वयं उसके हृदयमें आते हैं। श्रवणमें उन्हें प्रत्यक्ष करनेकी शक्ति नहीं है। कर्ममें भगवान्को पकड़कर लानेकी शक्ति नहीं है; किन्तु भगवान् इतने दयाधाम, अनन्त-करुणावणालय हैं कि जब देखते हैं कि उनका भक्त उनके लिए व्याकुल हो रहा है, छटपटा रहा है—

आओ प्राननाथ अब प्रान लागे सियरान!

'प्राणनाथ, पधारो! अब तुम्हारे बिना मेरे प्राण क्षीण हो चले हैं!'

अमून्यधन्यानि दिनान्तराणि हरे तवालोकनमन्तरेण।
अनाथबन्धो करुणैकसिन्धो हा हन्त हा हन्त कथं नयामि॥

'श्रीहरे! अनाथनाथ! करुणासिन्धो! आपके दर्शनके बिना इन अभागे दिनोंको हाय! हाय! मैं कैसे बिताऊँ?'
--इस प्रकार पुकारता, क्रन्दन करता व्याकुल हो उठा है, तब भगवान् उसके समक्ष आये बिना रह नहीं पाते।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा है--'जब नेत्रोंमें भगवान्के रूपका दर्शन करनेकी सामर्थ्य नहीं है तब जीभमें भगवन्नाम लेनेकी सामर्थ्य कहाँसे आयी? नाम और रूप दोनों ही तो समान हैं। अतः जिह्वामें भगवन्नामोच्चारणकी शक्ति नहीं है।

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वाऽऽदौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

अतः श्रीकृष्णका नाम-गुणादि इन्द्रियोंके द्वारा मनुष्य-प्रयत्नसे ग्राह्य नहीं है। जब मनुष्य भगवान्का नाम लेना चाहता है तब उसकी जिह्वापर नामावतार होता है।

नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

(पद्मपुराण)

श्रीकृष्ण नाम तो चिन्तामणि है। वह चिदानन्दघन श्रीकृष्णकी साक्षात् रसमूर्ति है। जैसे रूप श्रीकृष्ण है वैसे नाम भी श्रीकृष्ण है, क्योंकि नाम और नामीमें अभेद है। इसीलिए जिह्वा भगवन्नाम नहीं लेती, कृपा करके स्वयं भगवन्नाम जिह्वापर आता है। इसी प्रकार रूप भी कृपा करके आता है।

निर्गुणमार्ग 'त्वं'-प्रधान है, अतः वहाँ जिज्ञासुके प्रयत्नकी प्रधानता है। सगुणमार्गमें जीव जब भक्ति महारानीकी सेवाके लिए उद्यत होता है तब भगवान्का कृपा करके भक्ति महारानीको उसके

हृदयमें भेज देते हैं। अतः आप भगवान्‌के गुण, उनकी लीलाकथा श्रवण कीजिए, भगवन्नामका कीर्तन कीजिए। भगवान्‌की कृपा अवश्य आपपर उतरेगी।

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायाम्।

'हमारी वाणी भगवान्‌के नाम, गुण और लीलाके कीर्तनमें लगे तथा हमारे कर्ण उन लीलामयके दिव्य चरित एवं गुणगणोंका श्रवण करें।'

जो भगवान्‌की कथा नहीं सुनेगा वह संसारकी कथा सुनेगा। जो भगवान्‌के नाम-गुणका कीर्तन नहीं करेगा वह संसारका कीर्तन करेगा। तुम जो बोलोगे, जो सुनोगे, वही तुम्हारे हृदयमें रहेगा। श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा है—

चेतो दर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयः कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनं।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्॥

'चित्त एक दर्पणके समान है। उसपर वासनाका मैल चढ़ गया है। उस दर्पणको मलकर स्वच्छ करनेवाला है भगवन्नामका संकीर्तन। संसार महादावाग्नि है। इसमें पड़े प्राणी जन्म-मृत्यु तथा दैहिक, दैविक, भौतिक तापोंसे भस्म हुए जा रहे हैं। इस महादावाग्निको नामसंकीर्तन बुझा देता है। ये स्त्री-पुरुष जो संसारमें हैं, ये जंगलके वृक्ष हैं। इनकी परस्पर रगड़से उत्पन्न होनेवाली महादावाग्नि हृदयमें लगी है। उसे नाम-संकीर्तन ही बुझा सकता है। कल्याण कुमुदिनी है, भगवन्नाम-कीर्तनकी चन्द्रिका। उसे प्रफुल्लित कर देती है। विद्या वधू है और उसका जीवन है भगवन्नाम। ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति—ब्रह्मज्ञान हो जानेपर यदि जीवनमें भगवन्नाम है तो विद्या सधवा है, अन्यथा विधवा है। ब्रह्मविद्याका भगवन्नाम सौभाग्यचिह्न है। भगवन्नाम-संकीर्तन पद-पदपर आनन्द

समुद्रको तरङ्गायमान करता है और उसमें सम्पूर्ण रूपसे चित्त डूब जाता--निमग्न हो जाता है। ऐसा श्रीकृष्णका नाम-संकीर्तन जीवनमें विजयी--व्याप्त होवे।' महाप्रभु कहते थे—

नयनं गलदश्रुधारया वचनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

'प्रभो! ऐसा कब होगा कि आपका नाम लेते समय मेरे नेत्रोंसे प्रेमाश्रुकी धारा गिरने लगेगी, वाणी गद्गद हो जायगी, कण्ठ भर जायगा और शरीर रोमाञ्चपूर्ण हो जायगा।'

इस प्रकार संसारका व्यवहार करते हुए, घरमें-समाजमें रहते हुए भगवद्गुणानुवादका श्रद्धासे, प्रयत्नपूर्वक श्रवण-कीर्तन होता रहे तो भगवद्भक्तिकी प्राप्ति होती है।

भक्तिप्राप्तिके मुख्य साधन

• संगति

अब भक्तिकी प्राप्तिका मुख्य साधन बतलाते हैं, क्योंकि समाज-व्यवहारमें रहते हुए भगवद्गुणानुवादके श्रवण तथा कीर्तनमें श्रद्धा एवं रुचि भी स्वतः नहीं हुआ करती। वह भी सत्पुरुषोंके संग तथा उनकी कृपासे ही होती है।

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥ ३८ ॥

मुख्य रूपसे तो (भक्तिकी प्राप्ति) महापुरुषोंकी कृपासे ही होती है अथवा भगवान्‌की कृपाके लेशमात्रसे ॥ ३८ ॥

जीवनमें भक्ति आनेका मुख्य साधन महापुरुषकी कृपा ही है क्योंकि जिसके पास धन है वह धनी ही तो किसीको धन देगा। इसी प्रकार प्रेमी ही प्रेम दे सकता है। भक्तने भगवान्‌के समीप जाकर प्रार्थना की—'मुझे प्रेम प्रदान करें!'

भगवान् बोले—'भैया, मैं तो स्वयं प्रेमका भिखारी हूं। मैं प्रेम कहाँसे दूंगा! प्रेमके जो धनी हैं, तुम उनके समीप जाओ।'

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥

(श्रीमद्भाग० ५.१२.१२)

जड़भरतने राजा रहूगणको उपदेश देते हुए कहा—'रहूगण! यह न तपस्यासे प्राप्त होता, न यज्ञ करनेसे। घर-द्वारका त्याग करनेसे भी नहीं और वेदाध्ययनसे भी नहीं। जल, अग्नि, सूर्य आदि किसी देवताकी आराधनासे नहीं। महापुरुषोंकी चरणधूलिमें लोटपोट हुए बिना यह प्राप्त नहीं होता।'

धर्म, योग, ज्ञान आदि दूसरे साधनोंमें साधकका बल–साधकका प्रयत्न काम देता है किन्तु भक्तिमें जीवकी प्रधानता नहीं है। पुरुषसे जो भजन-कीर्तन होता है वह भी उसका प्रयत्न नहीं है। वह तो भगवान् करा लेते है। सेवा तब होती है जब सेवकमें सेवा करनेकी रुचि हो और जिसकी सेवा करनी है वह सेवा लेना स्वीकार करे। या तो स्वामी स्वयं सेबा लेना स्वीकार करे अथवा स्वामीकी सेवा करने वाला कोई सेवक तुमको अपने साथ रख ले। इसलिए —'लभ्यते तत्कृपयैव।'

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होंहि अनुकूला ।।

महापुरुष जब कहते हैं —'आओ ! तुम भगवान्‌की सेवा करो' तब भगवान्‌की सेवा करनेकी इच्छा चित्तमें होती है। सेवाके बिना चित्त बहुत व्याकुल होता है। सेवा न करनेमें पीड़ा होती है। तब तुम्हारे कष्ट, तुम्हारी व्याकुलताको देखकर भगवान् द्रवित होते हैं और तुम्हें अपनी सेवा देते हैं। महापुरुष प्रेरणा देकर भगवान्‌की सेवामें लगाते हैं। भगवान्‌को स्वय सेवाकी आवश्यकता नहीं है। उन्होंने तो अपने आपको अपने भक्तोंको दे दिया है। भक्त जैसे रखें वैसे वे रहें ! अतः उन भक्तोंकी-सेवकोंकी कृपा हो, वे सेवा-पद्धति बतलावें तो भगवत्सेवा मिल सकती है।

महापुरुषकी कृपा प्राप्ति सुलभ है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष हैं। उन महापुरुषोंमें-से किसीके चित्तमें करुणा आगयी कि यह जन्म-मरण तथा संसारके दुःखमें फँसा प्राणी है। इसका जीवन नष्ट हो रहा है—

उमरिया गँवाय दई रे प्रभु नहिं चीन्हा।

यह शरीर भगवत्प्राप्तिके लिए, परमानन्द-सुखको उपलब्ध करनेके लिए था, जो व्यर्थ नष्ट हुआ जा रहा है। यह देखकर महापुरुष दयालु हो जायँ, जैसे हम भूखे-नंगे या रोगीको देखकर दयालु हो उठते हैं, हमारे मनमें भूखेको देखकर भोजन देने, नंगेको

देखकर वस्त्र देने तथा रोगीको देखकर उसकी चिकित्सा करने-करानेकी इच्छा होती है, ऐसे ही हमारी अवस्था देखकर किसी संतके चित्तमें दया आ जाय और वे कृपा करके हमें भगवान्‌के सम्मुख कर दें तब भगवान्‌की भक्ति, उनकी सेवा प्राप्त हो।

इन्द्रपुत्र जयन्तकी कथा 'रामचरितमानसमें' आती है। वह श्रीरामके बलकी परीक्षा करने गया था। श्रीराम उस समय स्फटिक-शिलापर श्रीजानकीकी गोदमें सिर रखकर सो रहे थे। काकका रूप बनाकर जयन्त आया और उसने पंजे तथा चोंचसे श्रीसीताजी पर चोट की। श्रीजानकीके शरीरसे रक्तके बिन्दु गिरे तो श्रीराम जाग उठे। उन्होंने उस काकके ऊपर ब्रह्मास्त्रका मन्त्र पढ़कर एक तिनकेको बाणकी भाँति फेंक दिया। वह बाण कौवेके पीछे लग गया। जयन्त अपना रूप बनाकर अपने पिता इन्द्रके पास गया, ब्रह्माजीके पास गया, कैलासमें शंकरजीके पास गया, किन्तु किसीने उसे शरण नहीं दी।

व्याकुल जयन्त भागा जा रहा था। देवर्षि नारदकी उसपर दृष्टि पड़ गयी। उसकी अवस्था देखकर देवर्षिको दया आगयी। उन्होंने उसे श्रीरामकी ही शरणमें जानेका उपदेश दिया। भय-व्याकुल जयन्त श्रीरामके चरणोंके समीप आकर 'त्राहि! त्राहि!' करता जब गिरा, तब भी भयसे अपने पीछे आते ब्रह्मास्त्रको ही देख रहा था। इसलिए जब वह गिरकर मूर्च्छित हुआ तो उसका मुख पीछे और पैर श्रीरामकी ओर थे। वह विमुख था, अतः श्रीराम चुपचाप देखते रह गये। पर दयामयी श्रीजगन्माता जानकीकी दृष्टि पड़ गयी जयन्तपर। उन्होंने उठकर उसे उठाया और उसका सिर प्रभुके चरणोंपर रख दिया। तब प्रभुने उसपर कृपा की।

इसी प्रकार जब महापुरुष संसारी प्राणीको दुखी देखते हैं तब उन्हें दया आ जाती है। महात्माको किसीसे कुछ चाहिए

नहीं। पर पड़ोसीके घर आग लग जाय तो हम चुप नहीं बैठ पाते। इसी प्रकार किसी भी दुखीके सम्मुख आनेपर महापुरुष कृपा करते ही हैं।

प्रचार करना—सारे संसारको सुधारनेमें लगना महापुरुषका काम नहीं है। प्रचारककी कक्षा दूसरी है। महापुरुष वह है जो कहता-समझता है कि 'भगवान्‌को व्यवस्थामें हस्तक्षेप करना हमें अभीष्ट नहीं है।' सबके उद्धारका—सबको भक्त बनानेका उसने ठेका नहीं लिया है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु जब पुरीसे वृन्दावनकी यात्रापर निकले तब वे स्वभावसे प्रेम-विभोर होकर कीर्तन करते चलते थे। उनके संकीर्तनकी ध्वनि सुनकर पशु-पक्षी, हिरन-हाथी, शेर-चीते भी नाचने लगते और अपनी भाषामें कीर्तन करने लगते थे। उन पशु-पक्षियोंके भी शरीरमें रोमाञ्च होने लगता, उनके नेत्रोंसे भी अश्रु झरने लगते थे। महाप्रभु पशु-पक्षियोंमें कुछ कीर्तनका प्रचार नहीं कर रहे थे, वे तो प्रेम-विभोर होकर कीर्तन एवं नृत्य कर रहे थे।

भक्तके हृदयमें सदा भावचन्द्रका उदय रहता है। उसकी चन्द्रिका छिटकती रहती है। अतः उसके सामने आनेवालेका हृदय शुद्ध हो जाता है। उसके चित्तका मल दूर हो जाता है और चित्तमें स्थिरता आ जाती है। तब सामने विद्यमान भक्तके भावचन्द्रकी छाया उसके हृदयमें भी पड़ती है। उस समय उस व्यक्तिको लगता है कि—'मेरे हृदयमें भी प्रकाश है, भक्ति है, आनन्द है।' किन्तु भक्तके सामनेसे हटनेपर—भक्तसे विमुख होनेपर उस रसका अनुभव नहीं होता। अतः किसी महापुरुषका सान्निध्य प्राप्त हो जाय अथवा किसीपर उन्हें दया आजाय, तभी उसे भगवद्भक्ति प्राप्त होती है।

भगवत्कृपालेशाद्वा।

भगवान्‌की कृपा तो अनन्त, अपार है। भगवान्‌की समस्त शक्तियोंमें उनकी कृपाशक्ति सर्वोपरि है। जैसे सूर्य प्रकाश देनेके

लिए कोई प्रयास नहीं करता, प्रकाश करना उसका स्वभाव ही है, वैसे ही भगवान्‌का स्वरूप कृपा करना है।

वह सर्वज्ञ क्या जो भूले हुएको मार्ग न बतावे! उसके सर्व-शक्तिमान् होनेसे क्या लाभ, यदि वह दुखीका दुःख दूर न करता हो।

एतावान् हि प्रभोरर्थो यद्दीनपरिपालनम्।

प्रभुत्वका प्रयोजन ही दीनोंका पालन करना है और भगवान्‌का तो स्वरूप ही कृपामय है। प्रभु-मूरति कृपामयी है।

जैसे मेघका काम वर्षा करना है, सूर्यका स्वभाव प्रकाश देना है, चन्द्रमाका स्वरूप ज्योत्स्ना देना है, वैसे ही ईश्वरका स्वभाव कृपा करना है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब ईश्वरका स्वभाव कृपा करना है और वह सर्वज्ञ है--हमारी स्थितिको जानता है तथा सर्व-शक्तिमान् है, सब कुछ कर सकता है, तब हमपर विपत्ति-कष्ट क्यों आते हैं?

माता बच्चेको स्नान कराती है, उसे साबुन लगाती है। यद्यपि बच्चा उस समय बहुत रोता है, बहुत कष्ट अनुभव करता है; किन्तु माताकी कृपा ही है स्नान करानेमें। डाक्टर रोगीके फोड़ेको चीरता है। उस रोगीको बड़ा कष्ट होता है। पर फोड़ेको चीरनेमें डाक्टरकी कृपा ही है। इसी प्रकार ईश्वरकी भी कृपा है। जीवको शुद्ध करनेके लिए, उसके मलको दूर करनेके लिए, उसके विषैले फोड़ेको निकाल देनेके लिए ईश्वर कभी-कभी कष्ट-विपत्तिके रूपमें कृपा करता है। संसारके लोग बच्चे हैं--अज्ञानी हैं, अतः वे ईश्वरकी कृपाको पहचानते नहीं। जिनकी दृष्टि शुद्ध है वे ईश्वरकी कृपाको पहचानते हैं।

एक महात्मा दृष्टान्त दिया करते थे इस सम्बन्धमें--'एक सज्जन हीरेकी खदानसे एक हीरा ले आये। उस समय वह हीरा मैला था और बेडौल था। उन्होंने उसकी घिसायी करवायी, उसमें छिद्र करवाया। हीरा बहुत दुखी हुआ, बहुत रोया--'यह मनुष्य

बड़ा क्रूर है। मैं इसका क्या बिगाड़ रहा था। चुपचाप शान्तिसे मिट्टीमें दबा सो रहा था। यह अन्यायी मुझे सताने-पीड़ा देनेके लिए वहाँसे उठा लाया। अब मेरे अंग-अंग काटता है, घिसवाता है। मेरा हृदय विद्ध कर दिया इसने।'

इस प्रकार हीरा रोता रहा, कोसता रहा। उसपर चमक लायी गयी और स्वर्णसूत्रमें पिरोकर उसे भगवान्‌की मूर्तिके कण्ठमें पहनाया गया। अब हीरा चौंका--'अरे! मैं भी कितना मूर्ख था। मैं जिन्हें क्रूर, अन्यायी कहता था वे तो महापुरुष हैं। उन्होंने मुझपर अहैतुकी कृपा की। वे तो मुझे उज्वल करके भगवान्‌का कण्ठाभरण बनानेका यत्न कर रहे थे और मैं उन्हें कोस रहा था। मेरा यह सौभाग्य, यह अभ्युदय कि मैं भगवान्‌के कण्ठका भूषण हूँ, सब लोग मेरी प्रशंसा करते हैं, यह तो उन महापुरुषकी कृपाका ही फल है।'

एक बार संतोंकी एक सभा बैठी। एक घड़ेमें गंगाजल लाकर संतोंको पीनेके लिए रखा गया। किसीने कहा--'यह घड़ा कितना सौभाग्यशाली है कि इसमें रखा जल संतोंकी प्यास दूर करेगा। यह संत-महापुरुषोंकी सेवामें लगकर धन्य हो जायगा।'

घड़ेने यह सुना तो मनमें बोला--'मेरा जीवन धन्य है, मैं सौभाग्यशाली हूँ, इस बातका तो मुझे आज पता लगा। इस सौभाग्यका मुझे पहले कहाँ पता था? जब कुम्हारने पृथ्वीमें से काट-काटकर मिट्टीके टुकड़े किये मुझे कितनी पीड़ा हुई, मैं कितना रोया, कितना निर्दय लगा था मुझे वह कुम्हार! फिर उसने मिट्टीको जलमें भिगोया और पैरोंसे रौंदा। उस समय भी मुझे वह बड़ा क्रूर लगा। मैं रोता रहा। मैं रोता ही रहा और कोसता रहा उसे, जब उसने मुझे चाकपर चढ़ाकर चक्कर खिलाये, धागेसे मुझे काटा, थापियोंसे मेरा अंग-अंग पीट डाला और मुझे धूपमें सुखाता रहा। उस समय तो मुझे वह साक्षात् यमराज

लगा जब उसने मुझे आवेंमें डालकर फूंक दिया। मेरी पीड़ा-मेरे कष्टका कुछ अन्त था ? आवेंसे निकलने पर भी छुट्टी नहीं मिली। बाजारमें घुमाया गया और जो आता वही मुझे ठोंक-ठोंककर देखता। वे सब मुझे उस कुम्हार जैसे ही क्रूर लगते थे। वह कुम्हार महापुरुष था, उसने मुझपर अपार कृपा की और उसकी कृपासे मैं सौभाग्यशाली हो गया हूँ, यह पता तो मुझे आज लगा है।'

इसी प्रकार ज्वरमें, रोगमें, अपमानमें धननाशमें, स्वजन-वियोगमें, मृत्युमें ईश्वरकी कृपा-वर्षा हो रही है। सबपर, सब समय ईश्वरकी कृपा अनन्त अजस्र धाराके रूपमें उतर रही है। वह ही सूर्यकी किरणोंकी भाँति तुमपर वर्तमान है, तुमने उसे देखनेका प्रयास ही नहीं किया।

एक बार एक सज्जन सिरमें पट्टी बाँधे एक संतके पास गये। संतने पूछा—'यह पट्टी क्यों बाँधी है ?'

वे बोले—'सिरमें दर्द है।'

संत—'तीस वर्ष ईश्वरने तुम्हें स्वस्थ-प्रसन्न रखा तब तो उसके प्रति तुमने कृतज्ञता नहीं प्रकट की और आज उसने कुछ देरके लिए दर्द भेज दिया तो यह झंडा लगाये घूमते हो कि ईश्वरने तुम्हारे सिरमें दर्द भेजा। ईश्वरको लाञ्छन लगाते हो !'

ईश्वरका स्वरूप ही कृपा है! वह 'अपरित्यागलक्षण' है। हमने ईश्वरको चाहे जितनी गालियाँ दीं किन्तु उसने इसका बुरा नहीं माना, उसने हमें अपनी गोदमें-से नहीं उतारा, उलटे हमें भोजन, जल, वायु, प्रकाश तथा जीवन दिये। तब ईश्वरकी कृपाके लेशसे भक्ति प्राप्त होती है, यह क्या बात है ? क्योंकि जब उसकी कृपा सबपर, सब समय भरपूर है ही, तब 'कृपालेश' क्या ? और कृपा हमपर है, यह हमें पता क्यों नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि यदि हम ईश्वरकी कृपाका अनुभव नहीं करते तो इसमें ईश्वरका क्या दोष है ?

नोलूको व्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ?
पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किम् ?

'यदि उल्लूको दिनमें दिखलायी नहीं पड़ता तो इसमें सूर्यका क्या दोष है ? सूर्यने अपना प्रकाश तो सबके लिए उन्मुक्त कर रखा है। यदि वसन्त ऋतु आने पर भी करीरकी झाड़ीमें पत्ते नहीं आते तो इसमें वसन्त ऋतुका दोष कहाँ है ? यहाँ तो करीरकी त्रुटि है कि उसमें पत्ते देनेकी योग्यता ही नहीं है।'

ईश्वरकी कृपा तो तुमपर सदा सर्वदा है किन्तु तुम उस पर ध्यान नहीं देते हो। ईश्वरने तो गेहूँ बनाया, चावल बनाया, अनेक प्रकारके भोजन बनाये तुम्हारे लिए और उन भोजनोंको पचानेकी तुममें शक्ति दी। तुमने कभी ईश्वरकी इस कृपाको देखा ही नहीं तो ईश्वरका क्या दोष ? अतएव जब महापुरुष कृपा करते हैं तब ईश्वरकी कृपा देखनेकी शक्ति हममें आती है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्भाग्यमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥

'भगवन् ! आपने अपने नामोंमें अपनी समस्त शक्तियाँ रख दी हैं और उसमें भी नाम-स्मरणका कोई समय नहीं निश्चित किया है। सब समय, सब अवस्थामें आपका नाम लिया जा सकता है। हम मनुष्योंपर आपकी तो ऐसी असीम कृपा है किन्तु हमारे दुर्भाग्यको क्या कहा जाय कि इतनेपर भी हमसे आपका नाम नहीं लिया जाता, आपके नाममें हमारा अनुराग नहीं होता !'

भगवान्‌की कृपा हमारे समीप भगवन्नाम बनकर, भगवान्‌की मूर्ति बनकर, भगवत्कथा बनकर और महापुरुषका संग बनकर आती है। इनमें भी महापुरुषका संग सर्वोपरि है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥
(श्रीमद्भाग० ११.१२.१-२)

'मुझे योग, ज्ञान अथवा धर्म अपनेमें रोक नहीं पाता। न जप, न तपस्या या त्याग, न इष्ट और न पूर्त मुझे रोक पाते हैं। व्रत, यज्ञ, वेदाध्ययन, तीर्थाटन और यम-नियमके पालनसे मैं उतना वशमें नहीं होता जैसा कि सब आसक्तियोंको दूर करनेवाले सत्संगसे मैं वशमें हो जाता हूँ।'

भगवान् सत्संगसे मिलते हैं। सत्संग मिलता है तो दूसरे संग छूट जाते हैं। भोगियोंका संग करोगे तो भोग प्राप्त करनेकी इच्छा होगी। धनार्थियोंका संग करोगे तो तुम्हारे मनमें भी धनकी कामना होगी। किन्तु महापुरुषोंके संगसे भगवत्प्राप्ति होती है।

सबसे महान् भगवान् हैं। उन भगवान्से जिसने अपने मनको एक कर दिया वह महान् हो गया, वह महापुरुष है। जिसकी क्रिया, संकल्प और ज्ञान भगवान्से पृथक् हैं वह महान् नहीं है। वह तो सीमित है, क्षुद्र है। जिसने अपना सर्वस्व भगवान्में मिला दिया वह महान् है। करोड़पतिके व्यापारमें अपनी थोड़ी-सी पूंजी मिला दो तो तुम भी उसके हिस्सेदार हो जाओगे। जो ईश्वरसे पृथक् है वह तो परिच्छिन्न है, अल्प है, मर्त्य है। बूंद समुद्रमें मिलकर समुद्र हो जाती है।

अतएव महापुरुषका संग प्राप्त हो तो भक्ति प्राप्त हो अथवा भगवान्की अहैतुकी कृपा जो समस्त प्राणियोंपर निरन्तर वर्षाके समान झर रही है, उसके लेशमात्रपर, एक अंशपर भी हमारा ध्यान जाय तो हमारे हृदयमें भक्ति आ सकती है। •

महापुरुषोंके संगकी दुर्लभता एवं अमोघता

• संगति

भगवान्‌की कृपाके 'लेशमात्र' अंशपर भी ध्यान महापुरुषोंका सत्संग प्राप्त होनेसे ही जाता है। इसलिए महापुरुषोंके सत्संगकी प्राप्तिका माहात्म्य बतलाते हैं।

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥ ३९ ॥

महापुरुषोंका सत्संग प्राप्त होना तो दुर्लभ है और (प्राप्त होनेपर भी) जान लेना कठिन है कि ये महापुरुष हैं और जान लेने पर अमोघ--व्यर्थ न जानेवाला है ॥ ३९ ॥

'महत्सङ्गस्तु दुर्लभः'--महापुरुषोंका मिलना कठिन है। यह इसलिए कठिन नहीं है कि महापुरुष संसारमें हैं ही नहीं। उनको ढूंढ़ने कहीं हिमालयके अगम्य स्थानोंमें अथवा दुर्गम पर्वतोंमें जाना भी आवश्यक नहीं है। महापुरुष तो समाजमें और हमारे-आपके आसपास ही हैं। फिर भी उनका मिलना कठिन इसलिए है कि--

पापी सर्वत्र पापमाशङ्कते।

'पापी पुरुषका स्वभाव है कि वह सर्वत्र सबमें पापकी ही शंका करता है।' एक संतके समीप हम लोग दर्शन करने गये। साधक भी साथमें थे। संतके समीपसे लौटते समय मैंने उस साधकसे पूछा--'वहाँ तम्हारे मनमें क्या भाव आ रहे थे ?'

वे बोले--'मेरे मनमें आ रहा था कि इन महात्माका सिर तो अच्छा घुटा है। इनकी इस चमकती चाँदपर धूलि डालें तो कैसा लगेगा !'

सत्संगमें जानेपर भी उनके मनमें सन्तके सिरपर धूलि डालनेकी बात ही आयी। अपने मनमें पाप भरा हो तो पापको छोड़कर दूसरा कुछ दीखता ही नहीं। सर्वत्र पाप ही दीख पड़ता है। ऐसे व्यक्तिको लगता है—कोई हमारा धन, मकान न छीन ले; हमें ठग न ले; हमारी बहू या बेटेको बहका न ले।

दूसरेके दोष देखना, इससे बड़ा पाप कोई नहीं है। क्योंकि जिस दोषको तुम दूसरेमें भी नहीं देखना चाहते उसे दूसरेमें चिन्तन करके अपने चित्तको उस दोषके संस्कारसे युक्त बना लेते हो।

दो व्यक्ति बैठे हैं। उनके समीप एक तीसरा अपरिचित व्यक्ति आकर बैठ गया। अब पहले दोमें-से एक उस नये व्यक्तिके विषयमें सोचता है—'पता नहीं यह कौन है? चोर, जुआरी, ठग, अनाचारी—पता नहीं क्या-क्या हो!'

दूसरा सोचता है—'यह सदाचारी, भगवान्‌का भक्त लगता है।'

चिन्तनके साथ दोनोंके हृदयका निर्माण हो रहा है। वह तीसरा व्यक्ति चाहे जैसा हो, किन्तु एकके मनमें चोरी, जुआ आदिकी कल्पना और दूसरेके मनमें सदाचार, भक्तिकी भावना आयी।

स महात्मा सुदुर्लभः।

संसारमें सब महात्मा नहीं होते। महात्मा थोड़े होते हैं। अधिक लोग सांसारिक विषयोंमें आसक्त ही हैं, अतः महात्माका मिलना कठिन है। कहीं मिलते भी हैं तो 'अगम्यः'—उनको पहचानना कठिन होता है। वे ऐसे-ऐसे ढंगसे रहते हैं कि मनुष्य भ्रममें पड़ जाता है।

क्वचिच्छिष्टाः क्वचिद् भ्रष्टाः क्वचिद् भूतपिशाचवत्।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले॥

कहीं सभ्य-शिष्ट रूपमें, कहीं अपनेको आचार-भ्रष्ट दिखलाते हुए, कहीं भूत-प्रेतके समान उन्मत्त बने, इस प्रकार नाना रूप बनाकर महापुरुष पृथ्वीपर घूमते हैं।

बीस-पच्चीस वर्ष पूर्वकी बात है। अमृतसरके गुरुद्वारे स्वर्ण-मन्दिरके बाहर एक पण्डितजी दरी बिछाकर बैठ जाते थे और शास्त्रीय ग्रन्थ पढ़ाते थे। वहीं एक पागल आठ-दस वर्षसे रहता था। मैले वस्त्र, बिखरे बाल और रंग-ढंग सब पागल जैसे। माँगकर खा लेता था। एक दिन पण्डितजी 'अद्वैतसिद्धि' पढ़ा रहे थे। श्रोताओंमें वह पागल भी बैठा था। पण्डितजीको ग्रन्थकी एक पंक्तिका अर्थ सूझ नहीं पड़ रहा था। सहसा पागल संस्कृत बोल पड़ा। उसने उस पंक्तिका अर्थ बता दिया। लोग चौंके कि--'यह तो बड़ा विद्वान् है।' लोगोंके श्रद्धा-सम्मानको देखकर वह पागल बोला--'आज मेरा प्रारब्ध बिगड़ गया था जो मैं बोल पड़ा।' वह नगर छोड़कर ही कहीं चला गया।

अमोघश्च--संत कहाँ, किस रूपमें, कैसे रहते हैं--यह ज्ञान लेना बहुत कठिन है; किन्तु वे पहचान लिये जायँ तो उनका संग व्यर्थ नहीं जाता। शास्त्र कहता है...

यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रवर्तते।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः॥
खेचरा भूचराः सर्वे ब्रह्मविद्दृष्टिगोचराः।
सद्य एव विमुच्यन्ते कोटिजन्मार्जितैरघैः॥

(वराहोपनिषत्)

'जिसकी अनुभवपर्यन्त बुद्धि तत्त्वमें ही स्थिर है उस संतकी जिस-जिसपर दृष्टि पड़ जाती है वे सब समस्त पातकोंसे मुक्त हो जाते हैं। ब्रह्मवेत्ता संतकी दृष्टि पड़नेपर तो सभी खेचर-भूचर-स्थावर वृक्षादि भी कोटिजन्मार्जित अघराशिसे मुक्त हो जाते हैं; फिर जिन्होंने उस संतकी शरण ली है उनके मुक्त होनेमें क्या सन्देह है।'

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥
(श्रीमद्भाग० ११.२६.३४)

भगवान् कहते हैं--'संत नेत्र देनेवाले हैं। जैसे सूर्यके उगनेपर संसारकी वस्तुएँ दीखती हैं वैसे ही संत मुझे (भगवान्‌को) दिखलाते हैं। अतः संत ही सच्चे देवता, सच्चे स्वजन, अपनी आत्मा और मेरे (भगवान्‌के) स्वरूप हैं।'

संतकी प्राप्ति—संतकी कृपासे

• संगति

ऐसी अवस्थामें, जब कि सत्संग अमोघ है; किन्तु सन्तकी प्राप्ति दुर्लभ तथा अगम्य है, क्या किया जाय ? सन्त कैसे मिलें ?

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥ ४० ॥

(वह सन्त) उसकी (अपनी) कृपासे ही प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

महापुरुष किसीसे मिलना चाहता हो तभी उसे मिलेगा। किसीको अपनी पहचान कराना चाहता हो, तभी पहचानमें आवेगा। अन्यथा कोई बात, कोई संयोग, कोई बाधा ऐसी आ जायगी कि तुम्हारी श्रद्धा सन्तमें नहीं रहेगी। जबतक संतकी स्वयंकी कृपा न हो तबतक संत नहीं मिलेंगे।

•

भक्त और भगवान्में भेद नहीं

• संगति

सन्त इतने दुर्लभ क्यों हैं ? यह प्रश्न स्वभावतः उठता है; क्योंकि महापुरुषोंका संग प्राप्त होना दुर्लभ तथा अगम्य बतलाया गया है। अतः अब सन्तकी दुर्लभताका कारण बतलाते हैं।

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥ ४१ ॥

क्योंकि भगवान्में और उनके भक्तोंमें कोई भेद नहीं है ॥४१॥

भक्तकी प्राप्ति होना भगवान्की ही प्राप्ति होना है और भगवान्की प्राप्ति दुर्लभ तथा अगम्य है, यह बात सीधी समझमें आती है। अतः सन्तकी प्राप्ति भी दुर्लभ तथा अगम्य है।

मूल प्रश्न यह है कि भक्तिका साधन क्या है ? देवर्षिने पहले कहा--'संसारी लोगोंका साथ और विषयोंकी आसक्तिका त्याग करो।' यह तो निषेधात्मक साधन हुआ। केवल आज्ञा देनेसे तो मनके दोष तथा आसक्ति चली नहीं जाती। अतः विधानात्मक साधन बतलाया--'अखण्ड भजन करो।' पर यह लोकव्यवहारमें कैसे चले ? इसके लिए कहा--'भगवान्की कथा सुनो ! उनका गुण-कीर्तन करो !' इससे निरन्तर भगवान्का भजन—स्मरण होगा।

मैंने एक बार एक मुसलमान सन्तका प्रवचन सुना। वे कह रहे थे—'आकाशमें बादल उठे, वर्षा हुई। इस घटनाके लिए वैज्ञानिक कहेगा कि सूर्यकी गर्मीसे भाप बनी, वह ऊपर जाकर

मेघके रूपमें एकत्र हुई और वायु उसे इधर ले आयी, इसलिए वर्षा हुई। हिन्दू कहेंगे कि इन्द्र देवताने मेघोंको भेजकर वर्षा करायी है; किन्तु मुसलमान कहेगा--यह खुदाकी कुदरत है।'

इस प्रकार प्रत्येक घटनामें, प्रत्येक वस्तुमें ईश्वरका स्मरण कैसे हो? यह तब हो जब तुम्हारा संग उत्तम हो। जब तुमको सत्संग मिले तब भगवान्‌की कथा सुननेको मिले और गुणानुवादमें रुचि हो तथा सर्वत्र, सबमें भगवान्‌का स्मरण हो।

सत्संग भगवान्‌की कृपासे अथवा कोई सन्त स्वयं कृपा करें तब प्राप्त होता है, क्योंकि सन्त-भगवन्त दो नहीं हैं। भक्त और भगवान्‌में भेदका अभाव है! भक्तको सर्वत्र भगवान् ही दीखते हैं और भगवान् भक्तको छोड़कर दूसरेको देखते ही नहीं। अतः भक्त-भगवान्‌में द्वैत नहीं है।

एक सज्जन मेरे पास आये और पूछा--'भगवान् किसका ध्यान करते हैं?'

मैंने कहा—'अपने भक्तका।'

परोक्ष वस्तुको मनसे देखनेका नाम ध्यान है। प्रत्यक्षका ध्यान नहीं किया जाता। भगवान्‌को ब्रह्म तो नित्य अपरोक्ष है अतः ब्रह्मका ध्यान वे क्यों करेंगे?

महाभारतमें कथा आती है कि एक दिन धर्मराज युधिष्ठिर रात्रिमें श्रीकृष्णके शिविरमें गये तो उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण आसन लगाये शय्यापर ही स्थिर बैठे ध्यानस्थ हो रहे हैं। कुछ देर युधिष्ठिर चुपचाप खड़े रहे। श्रीकृष्णके ध्यान समाप्त करनेपर उन्होंने पूछा--'आप इतनी तन्मयतापूर्वक किसका ध्यान कर रहे थे? आप तो साक्षात् परब्रह्म हैं। आपके लिए ध्येय वस्तु क्या है?'

श्रीकृष्णने कहा--'शरशय्यापर पड़े पितामह भीष्म मेरा ध्यान कर रहे हैं। इसलिए मैं उन गंगानन्दनका ध्यान कर रहा था।'

भगवान्‌ने कहा है—

हम भगतनके भगत हमारे।
सुन अरजुन परतिग्या मेरी यह व्रत टरत न टारे॥

× ×

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भाग० ९.४.६८)

'साधु मेरे हृदय हैं और मैं साधुओंका हृदय हूं। वे मुझको छोड़कर और कुछ नहीं जानते और मैं भी उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता।'

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि हम जब 'साधु-सन्त' अथवा 'महात्मा' शब्दका उपयोग करते हैं तब किसी विशेष वेशको धारण करनेवालेके लिए इन शब्दोंका प्रयोग नहीं करते हैं। हम महान् परमात्मामें अपने सर्वस्वको समर्पित करनेवाले, भगवत्परायणको साधु-सन्त या महात्मा कहते हैं। वह देशी-विदेशी, किसी देशका, किसी सम्प्रदायका, किसी भी प्रकारका वेश रखनेवाला गृहस्थ या विरक्त कोई भी हो सकता है। हम किसी पन्थाईको साधु नहीं कहते।

भक्तिकी प्राप्ति के लिए सत्संग करो

● संगति

अब इस बातपर बल देनेके लिए यह कहते हैं कि सत्संग ही भगवद्भक्ति प्राप्त करनेका साधन है। ●

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥ ४२ ॥

(अतः) उस (महत्पुरुषके संग) की ही साधना करो। उसीका सेवन करो ॥ ४२ ॥

अतएव यही प्रयत्न करो कि तुम्हें सत्संग प्राप्त हो। महापुरुष मिल जायँ तो उनमें श्रद्धा करो और उनके उपदेश-आदेशका पालन करो। भगवान्‌की भक्ति उनकी कृपासे ही प्राप्त होती है।

●

दुःसंग छोड़ो

• संगति

> यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
> न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
>
> (गीता १६.२३)

भगवान्‌ने कहा--'जो शास्त्रीय विधिका त्याग करके कामनाके अनुसार आचरण करता है वह न सफलता पाता है, न सुख पाता है और न उत्तम गति ही पाता है।'

हमारे भीतर बैठा काम हमें वाह्य वस्तुओंमें लगाता है। इसलिए हमारा जीवन शास्त्रीय जीवन—बौद्धिक जीवन—विवेकी जीवन नहीं रहा है। हमारा जीवन ऐन्द्रिय जीवन बन गया है। ऐन्द्रिय जीवनमें 'जैसा संग, वैसा रंग।' जैसे लोगोंका साथ करोगे, तुम्हारे जीवनपर भी वैसा ही रंग चढ़ेगा। अतः यदि जीवनको सुधारना चाहते हो तो संगको सुधारो। जो लोग तुम्हें भोगकी ओर ले जायँ उनका संग मत करो। •

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥ ४३ ॥

दुःसंग सर्वथा ही त्याग देने योग्य है ॥ ४३ ॥

दुःसंग भलीभाँति छोड़ दो। जो वस्तु भगवान्‌को भोग न लग सके उसे मत खाओ। जो वस्त्र भगवान्‌को न चढ़ाये जा सकें उन्हें मत पहनो। जो कार्य भगवान्‌को प्रिय न हों--उन्हें अर्पित न किये जा सकते हों, उन्हें मत करो। जो चर्चा भगवान्‌से

सम्बन्ध न रखती हो उसमें मत सम्मिलित होओ। जो लोग भगवान्‌को न मानते हों उनसे सम्पर्क मत करो। ऐसा कोई कर्म मत करो जो भगवान्‌को प्रिय न हो। ऐसा कोई भोग मत भोगो जो भगवान्‌को अर्पित होकर उनका प्रसाद न बना हो। ऐसा कोई योग, तप, साधन मत करो जो भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए न हो। उपासना भी वही करो जो तुम्हारे इष्टको प्रसन्न करनेवाली हो।

मन्त्र मिलै अरु मन मिलै, मिलै भजन रस रीति।

तब उसका संग करना। जहाँ अपनी उपासना-पद्धतिका, अपने इष्टका विरोध होता हो, वह तुम्हारे लिये दुःसंग है।

कोई बहुत पक्के सदाचारी, उच्च समाधिसिद्ध योगी श्रेष्ठ उपदेशक, तत्त्वज्ञानी हैं; किन्तु वे तुम्हारे साधन-भजनका खण्डन करते हैं तो उनका संग तुम्हारे लिए दुःसंग है। उसे सत्संग मानकर उनके पास मत जाना। जो उपदेश या उपदेशक, साधु, योगी भक्तिका खण्डन करते हैं उनके समीप मत जाओ।

सर्वथैव त्याज्यः---किसी देशमें, किसी कालमें, किसी भी रूपमें दुःसंग मिलता हो तो उसका त्याग ही करना। तीर्थमें गये, कुम्भ या अन्य कोई महान् पुण्यपर्व है, वहाँ आचार्य, साधु, संन्यासी बहुत आये हैं। उन सबके दर्शन करना या नहीं। उनमें जो भी तुम्हारे इष्टका, तुम्हारे साधनका, तुम्हारी भक्तिका खण्डन करनेवाले हों, उसका उपहास करते हों, उनका संग तुम्हारे लिए दुःसंग है। अतः उनके समीप ही तुम्हें नहीं जाना चाहिए।

कुसंग कामादि एवं सर्वनाशका कारण

• संगति

ऐसा क्यों ? इतना कठोर प्रतिबन्ध क्यों ?

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ॥४४॥

(उस दुःसंगके) काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश एवं सर्वनाशका कारण होनेसे ॥ ४४ ॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

(गीता : ६२-६३)

'विषयोंका ध्यान करनेसे उनमें आसक्ति हो जाती है। आसक्ति होनेसे उनको प्राप्त करनेकी कामना होती है। कामनाकी पूर्तिमें बाधा पड़नेपर क्रोध आता है। क्रोध होनेपर चित्त मोह-जड़ताकी अवस्थामें पड़ जाता है। चित्तमें मोह होनेपर स्मृति नहीं रह जाती कि शास्त्र तथा सत्पुरुषोंने इस अवस्थामें क्या ठीक बताया है ? स्मृति न रहनेपर सद्-असत्का विवेक करनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धिनाश होनेपर तो पुरुषका विनाश-पतन निश्चित है।'

जैसेका संग करोगे वैसे ही विषयका चिन्तन होगा। अतएव दुःसंगसे अपने साधनके विपरीत चिन्तन होगा और यह चिन्तन उसमें आसक्ति उत्पन्न करके क्रमशः बुद्धिनाश-सर्वनाशतक ले जायगा।

किसीकी निन्दा करनी होती है तो हम उसे हस्तहीन, पादहीन, कर्णहीन या मनोहीन नहीं कहते। हम उसे बुद्धिहीन कहते हैं। जिसे बुद्धि नहीं हैं उसके साथ तो सर्वनाश बंधा है। अतः भगवान्से विमुख होनेवालेका अन्तिम परिणाम सर्वनाश ही है। •

कुसंगसे कामादि दोषोंकी अपार वृद्धि

• संगति

संसारके व्यवहारमें थोड़ा तो कामादिका प्रसंग आता ही है। अतएव थोड़ा-सा विषय-चिन्तन, काम या क्रोध आ जावे तो क्या हानि ! उसे सह लेना चाहिए। व्यवहारमें सब-प्रकारके लोगोंसे मिलना पड़ता है, अतः थोड़ा दुःसंग भी सहन करना चाहिए। दुःसंगका सर्वथा त्याग करनेका आग्रह क्यों ? इसपर कहते हैं-- साधकको इन कामादिसे बहुत सावधान रहना चाहिए। इनको सर्वथा ही त्यागना चाहिए। क्योंकि-- •

तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात् समुद्रायन्ति ॥ ४५ ॥

ये (काम-क्रोधादि) तरंगोंके समान क्षीण हो जानेपर भी दुःसंग पाकर समुद्रके समान (विशाल) हो जाते हैं ॥ ४५ ॥

ये काम-क्रोधादि दुर्गुण पहले तरंगके समान चित्तमें आते हैं और फिर दुःसंग अथवा विषयका संग पाकर समुद्र बन जाते हैं।

मनुष्य पहले कहता है--'किसीकी ओर देख लेनेमें क्या पाप है ? क्या नेत्रोंपर पट्टी बाँधकर चलें ?'

देखने लग गया तो मनमें आया-'किसीसे दो बात कर लेनेमें क्या दोष है ? यह तो शिष्टताकी माँग है कि कोई मिला तो दो बातें उससे करो।'

इसके पश्चात् मन सिखलाता है 'तनिक छू लेनेसे तुम्हारा कहाँ कुछ बिगड़ा जाता है।' बस, अनर्थ फूलता-फलता चला गया।

अतएव मनको ऐसा रखो कि उसमें पापकी तरंग ही न उठे। तरंग नहीं उठेगी तो समुद्र नहीं बनेगा। अपनेको सदा सावधान रखना !

दद्यान्नावसरं किञ्चित् कामादीनां मनागपि।

'काम-क्रोधादिको कभी अपने मनमें आनेका तनिक भी अवसर नहीं देना चाहिए।' •

मायाके पार कौन जाता है ?

● **संगति**

जीव और ईश्वर परस्पर सखा हैं। इनकी परस्पर क्रीडा चल रही है। ईश्वरने कहा...'मैं छिपता हूँ। मुझे ढूंढ़ो और मेरे समीप आओ।'

ईश्वरने माया फैलायी....जादूका खेल बनाया और उसमें वह छिप गया है। जीवको इस मायासे पार होकर ईश्वरके समीप जाना था किन्तु वह इस मायामें फँस गया है। इस मायासे जीव किस प्रकार पार हो सकता है, यह बतलाते हैं। ●

कस्तरति कस्तरति मायां ? यः सङ्गांस्त्यजति, यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति ॥ ४६ ॥

मायाके पार कौन जाता है ? कौन मायाका पार कर पाता है ? जो (सम्पूर्ण) आसक्तियोंका त्याग कर देता है, महापुरुषोंको सेवा करता है और ममतारहित होता है ॥ ४६ ॥

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।—श्रुति

'परमात्मा ही अपनी मायासे अनेक रूप बनता है।' ये जो संसारके दृश्य रूप हैं, ये मायाके जाल हैं। इनमें जो नहीं फँसेगा—इनमें आसक्त नहीं होगा, वह परमात्माके समीप पहुँचेगा। जो इनमें फँस गया, वह ईश्वरके पास नहीं पहुंच सकता।

'यः सङ्गांस्त्यजति'—जो आसक्तियोंको त्याग देता है वही पहुंच सकता है, अतः संसारके विषयों और व्यक्तियोंकी आसक्ति छोड़ दो।

रहना नहिं देस बिराना है।

सरायको— धर्मशालाको ही घर मान लेना, प्याऊपर अकस्मात् मिले व्यक्तिको मित्र मान लेना बुद्धिमानी नहीं है। यह संसार तो धर्मशाला है। इसके सब पदार्थ धर्मशालाकी वस्तुएँ हैं। इनका उपयोग भले कर लो, इनको अपनी मानकर इनमें आसक्त मत होओ। संसारके प्राणी प्याऊपर मिले-जैसे हैं। जन्म-मरणके चक्रमें अकस्मात् यह मिलन हुआ है। अतः इनमें आसक्ति—ममता मत करो।

'यो महानुभावं सेवते'—जिन्होंने महान् परमात्माका अनुभव किया है वे महानुभाव हैं, क्योंकि उनका अनुभव बड़ा है। परमात्म-तत्त्वका उन्हें अनुभव है। परमात्माका अनुभव करानेमें वे ही समर्थ हैं। अतः उनकी सेवा करो।

'निर्ममो भवति'—संसारमें मोह-ममता मत करो। किसी वस्तु या व्यक्तिको अपना मत मानो।

जो ऐसा करता है वह मायासे पार हो जाता है और परमात्माके समीप पहुँच पाता है।

● संगति

मायाको पार करनेके तीन उपाय पहिले सूत्रमें कहे गये— संसारकी आसक्तिको छोड़ना, महापुरुषकी सेवा करना तथा ममता-को त्याग देना। अब इन तीनोंके फलस्वरूप जीवनमें जो चार साधन पुष्ट होते हैं, उनका वर्णन करते हैं।

यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति,
निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति ॥ ४७ ॥

जो एकान्त स्थानका सेवन करता है, लौकिक बन्धनोंको जो निर्मूल कर डालता है, जो तीनों गुणोंसे पार हो जाता है और

जो योग तथा क्षेमको भी छोड़ देता है। (वह मायासे पार होता है)॥ ४७॥

'यो विविक्तस्थानं सेवते'—पहिले सूत्रमें कहा है कि 'यः सङ्गांस्त्यजति।' सबका संग कैसे छोड़ा जाय? समाजमें रहोगे तो कोई न कोई मिलेगा ही। स्वयं किसीके यहाँ मिलने न भले जायँ किन्तु कोई स्वयं आवे तो भगाया तो जा नहीं सकता और वह क्या चर्चा करेगा, इसका भी ठिकाना नहीं है। ऐसी अवस्थामें दुःसंगका सर्वथा त्याग कैसे हो? इसका उत्तर है कि एकान्तमें रहो। एकान्तका सेवन करो तो दुःसंगका सर्वथा त्याग हो जायगा।

'यो लोकबन्धमुन्मूलयति'—सर्वथा एकान्तमें रहना कैसे बने? परिवारमें, मित्रोंमें कोई उत्सव होता है, कभी बेटे या बेटीका विवाह होता है, कभी किसीके यहाँ सन्तान उत्पन्न होती है या कोई मरता है, दूसरे भी अनेक कारण होते हैं कि एक दूसरेके यहाँ जाना सामाजिक मर्यादाकी दृष्टिसे आवश्यक हो जाता है। ऐसी अवस्थामें क्या किया जाय? इन लौकिक बन्धनोंको त्याग दो। इनका उन्मूलन कर दो—मनसे ही इनके संस्कार निकाल दो। साधकके लिए, भक्तके लिए तो—

नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।

दूसरे संसारके जितने सम्बन्ध, जितने बन्धन हैं, उनका उन्मूलन—सर्वथा त्याग करना चाहिए।

ऐसा कैसे हो? केवल कह देनेसे तो मनमें जो स्नेह-सम्बन्ध हैं वे मिट नहीं जाया करते। इसके लिए पहले सूत्रमें 'महानुभावं सेवते' कहा जा चुका है। जो महापुरुषकी सेवा करेगा वह लोकबन्धका उन्मूलन करके निस्त्रैगुण्य हो जायगा। 'निर्ममो भवति'.... उसकी ममता नष्ट हो जायगी और तब त्रिगुण-मूलक सम्बन्ध एवं क्रियाएँ उसे बाँध नहीं सकेंगी।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। (गीता २.४५)

भगवान्‌ने गीतामें कहा 'अर्जुन ! वेद त्रिगुणविषयक प्रतिपादन करते हैं। तुम इनसे ऊपर उठो, निस्त्रैगुण्य हो जाओ।'

'योगक्षेमं त्यजति' हमारे समीप जो कुछ नहीं है वह हमें प्राप्त हो यह योग है, और जो हमारे पास है, वह रक्षित रहे—यह क्षेम है। संसारमें यदि हम किसीसे भी सम्बन्ध नहीं रक्खेंगे, किसीके सुख-दुःखमें सम्मिलित नहीं होंगे तो हमारे सुख-दुःखमें कौन सम्मिलित होगा? संसारमें सबका काम एक दूसरेकी सहायता-सहयोगसे ही चलता है। हम किसीसे सम्बन्ध न रखें और सर्वथा एकान्तमें बैठ जायँ तो हमारे योग-क्षेमका निर्वाह कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि भक्त वह है जो योगक्षेमकी चिन्ता भी छोड़ देता है। उसके लिए भगवान्‌ने प्रतिज्ञा कर रखी है—

> **अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।**
> **तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥**
>
> (गीता ९.२२)

'जो लोग मेरा अनन्य चिन्तन करते हुए चारों ओर मेरी ही उपासना करते हैं, अपनेमें सदा युक्त उनके योगक्षेमका वहन मैं करता हूँ।'

● **संगति**

अतएव भक्त अपने योगक्षेमकी चिन्ता नहीं किया करता।

तब क्या भक्त कर्म करता ही नहीं? भगवान्‌ने तो कहा है—

> **न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।**
> **कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वैः प्रकृतिजैर्गुणैः॥**
>
> (गीता ३.५)

कोई भी एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रहता है। प्रकृतिके गुणोंके द्वारा विवश हुए सबसे कर्म करवाये ही जाते हैं।

ऐसी अवस्थामें भक्तसे भी कर्म तो होंगे ही। उसने लोक-बन्धनका उन्मूलन कर दिया है, अतः औरोंके लिए कर्म करनेका

प्रश्न ही उसके लिए नहीं और अपने लिए भी कर्म करनेकी उसे आवश्यकता नहीं; क्योंकि योगक्षेमकी चिन्ता वह छोड़ चुका है। कर्म होता है कुछ प्राप्त करनेकी, रक्षा करनेकी इच्छासे। यह उसको करना नहीं है, तब वह कर्म कैसे करता है ? इसका उत्तर दे रहे हैं। •

यः कर्मफलं त्यजति, कर्माण्यपि संन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥ ४८ ॥

जो कर्मोंके फलको त्याग देता है, कर्मोंका भी (भगवान्‌को) समर्पण कर देता है और (कर्मफल तथा कर्मसमर्पण करके) तब निर्द्वन्द्व (सुख-दु:ख, हर्ष-शोक, शीत-उष्णादि द्वन्द्वोंसे परे) हो जाता है (वह मायाको पार करता है) ॥ ४८ ॥

वह कर्मफलका त्याग कर देता है अर्थात् निष्काम कर्म करता है। किसी कर्मका कोई फल नहीं पाना चाहता। 'कर्माण्यपि संन्यस्यति' इसमें 'संन्यस्यति'का अर्थ समर्पण कर देता है। क्योंकि यदि 'संन्यस्यति'का अर्थ 'त्याग देना' करें तो 'कर्मफलं त्यजति' कहना असंगत हो जायगा। जो कर्म ही त्याग देगा उसके लिए कर्मफल त्यागनेका प्रश्न ही नहीं उठता। अत: 'कर्मफलं त्यजति' कहनेके पश्चात् 'कर्माण्यपि संन्यस्यति' कहनेका अर्थ है कर्मोंको भगवान्‌को अर्पित कर देता है।

केवल निष्काम कर्म ही करना पर्याप्त नहीं है। उसमें भी कर्मके कर्तापन तथा फलत्यागका अभिमान रहता है। अतएव कर्मोंका ही भगवान्‌को समर्पण करना चाहिए।

यत्कृतं यत्करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम्।
त्वया कृतं तत्फलभुक् त्वमेव मधुसूदन ॥

'मैंने जो कुछ किया अथवा जो कुछ करूँगा वह मैंने नहीं किया और न मैं करूँगा। वह सब तुम्हींने करवाया, वह तुम्हारा किया है, अत: मधुसूदन ! तुम्हीं उसका फल प्राप्त करो।'

जो इस प्रकार कर्मफल तथा कर्म भगवान्‌को अर्पित कर देता है वह निर्द्वन्द्व हो जाता है। जब हमें कोई फल चाहिए नहीं और कर्म हमने भगवान्‌को अर्पित कर दिये तब सुख-दुःख, हर्ष-शोक, जन्म-मृत्यु, शीत-उष्ण, संयोग-वियोगकी हमें क्या चिन्ता? तब तो—

राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है!

• संगति

मनुष्य संसारमें किसी औरके लिए तथा अपने लिए भी भले कुछ न चाहे, भले वह दूसरोंके लिए तथा अपने लिए कुछ भी कर्म न करे; किन्तु वैदिक कर्मशास्त्रकी आज्ञाका पालन तो सत्पुरुषको करना ही चाहिए। सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य-नैमित्तिक कर्म तो भक्त भी करता ही है। ये कर्म जो शास्त्रकी आज्ञा मानकर वह करता है, इनको भगवान्‌को अर्पित करनेका क्या अर्थ? नित्य कर्मोंका कोई फल तो होता नहीं। अतः उनके कर्मफलका त्याग भी नहीं बनता। इसके उत्तरमें बतलाते हैं कि भक्त शास्त्रकी आज्ञाको भगवान्‌की आज्ञा मानकर उसका पालन तो करता है; किन्तु 'नित्यकर्म न करनेसे दोष लगेगा' इस भयसे नहीं, वह केवल अपने प्रभुके लिए ही कर्म करता है।

वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ॥४९॥

(जो) वेदोंका भी त्याग कर देता है, केवल अखण्ड भगवत्-प्रेमको प्राप्त करता है (वह मायासे पार होता है) ॥ ४९ ॥

पहले भी 'लोकवेदव्यापारन्यासः' कह चुके हैं। भक्त वैदिक-शास्त्रीय कर्म कुछ पानेको अथवा किसी अशुभसे, दोषसे बचनेको नहीं करता। वह यदि शास्त्रीय कर्म करता है तो अपने प्रियतम प्रभुको प्रसन्न करनेके लिए ही करता है। वह तो केवल अखण्ड भगवत्प्रेम ही प्राप्त करता है।

यदा यमनुगृह्णाति भगवान् पुरुषः परः।
स त्यजेत मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥

(श्रीमद्भाग० ४.२९.४६)

'जब भगवान्‌का चिन्तन-ध्यान करते-करते परमपुरुष भगवान्‌का अनुग्रह हृदयमें प्रकट होता है तब पुरुष लोकाचार एवं वैदिकाचारमें अत्यन्त निष्ठा रखनेवाली बुद्धिका त्याग कर देता है।'

भक्त स्वयं तरता है
और
लोगोंको भी तारता है

● **संगति**

पिछले तीन सूत्रोंमें भक्तकी अवस्था बतलाकर अब उसकी परिणति बतलाते हैं। ●

स तरति, स तरति, स लोकांस्तारयति ॥ ५० ॥

वह पार होता है। वह मायासे पार होता है। वह लोकोंको भी (मायासे) पार कर देता ॥ ५० ॥

वह भक्त स्वयं तो मायासे पार होता ही है, उसके द्वारा दूसरे भी मायासे पार हो जाते हैं।

यह संसार मायाका खेल है। यदि कोई जादूके रुपये एकत्र कर ले तो क्या वे स्थायी रहेंगे ? जादूके खेलमें जो स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध दीखा वह क्या सच्चा है ? यह जो कुछ दीख रहा है, सब जादूका खेल–माया है। जीव इसमें उलझ गया, इसे सच्चा मान बैठा। इससे पार कैसे होगा ? इसके लिए साधन बतलाया। जो व्याकुल होता है पार जानेके लिए, जो मायाके पदार्थोंसे धन, स्त्री-पुत्र, पद, आदिसे प्रेम नहीं करता, जो इनको 'मेरा' मानकर बँधता नहीं, जिसे यह ज्ञान है कि हमें प्रभुके समीप जाना है और जो उस प्रभुको ही चाहता है, उसीको प्राप्त करनेके लिए रोता है, उसे प्रभु स्वयं मिल जाते हैं।

कोई राजा विदेश गये। उनके कई रानियाँ थीं। उन्होंने वहाँसे रानियोंको पत्र लिखकर पूछा कि लौटते समय किसके लिए क्या लेते आवें। जिस रानीको जो चाहिए था उसने वह लिख दिया। राजाने वह सब सामान बाजारसे मँगा लिया। छोटी रानीका पत्र खोला गया तो उसमें केवल 'एक' लिखा था। राजाने अपने सचिवसे पूछा--इस 'एकका क्या अर्थ है ?'

सचिवने बताया--'छोटी महारानीका तात्पर्य है कि उन्हें कोई सामग्री नहीं चाहिए। उन्हें तो एक आपको पानेकी इच्छा है।'

राजा स्वदेश लौटे। जिस रानीने जो सामग्री मँगायी थी वह उसके भवनमें भेज दी। जिस छोटी रानीने 'एक' माँगा था उसके राजभवनमें वे स्वयं गये।

इस मायाके खेलमें जो खिलौने नहीं चाहता, उस मायावीको चाहता है, उसे वह प्राप्त होता है। सच्चे प्रेमके सामने पर्दे नहीं टिकते। जैसे ज्ञान आवरण भंग कर देता है वैसे ही प्रेम भी आवरण भंग करता है।

जो इस मार्गपर चलता है उसे अटूट–अखण्ड प्रेम प्राप्त होता है। वह स्वयं तो मायासे पार हो ही जाता है, दूसरोंको भी मायासे पार कर देता है, क्योंकि जो उस मायावीको जान चुका— पा चुका, उसके सामने माया टिकती नहीं है।

●

प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय

• **संगति**

'केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते' यह बात अभी कह आये हैं, अतः उस अनुरागका स्वरूप बतलाना आवश्यक है।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देनी है कि हम जो बात कहने जा रहे हैं वह पूरी नहीं, वह अधूरी है। क्योंकि ज्ञानका काम अविद्याके आवरणको भंग कर देना है। जहाँ तोड़ना है वहाँ प्रयास पूर्ण होता है। अविद्याकी पूर्ण निवृत्ति ज्ञानके द्वारा हो जाती है। पर जहाँ ईश्वरको हृदयमें ले आना है वहाँ ईश्वर पूरेऽका-पूरा तो हृदयमें आता नहीं।

ज्ञान विध्वंसात्मक है। ब्रह्मको प्रकाशित करना ज्ञानका काम नहीं है। ज्ञानका काम अज्ञानको नष्ट कर देना है। ब्रह्म तो स्वयंप्रकाश है अतः अविद्याकी निवृत्ति ही मोक्ष है। किन्तु प्रेम समग्र ईश्वरको गोदमें लेनेवाला है। प्रेम रचनात्मक है। प्रेम जब ईश्वरको हृदयमें लेने लगता है तब न तो पूरा ईश्वर हृदयमें आता, न ईश्वरको अपनेमें ले-लेनेकी पिपासा ही पूर्ण होती।

मर्ज बढ़ता गया, ज्यों ज्यों दवा की।

न प्रेमास्पदका अन्त मिलता, न प्यासकी तृप्ति होती।

प्यास ही कौ रूप मानौ प्यारी जू कौ रूप है।

श्रीराधाका स्वरूप क्या है? अनन्त प्यास। जिसमें तृप्ति आ गयी, जिसने 'बस' मान लिया, उसने तो अभी प्रेमकी गलीमें पैर ही नहीं रखा।

आली रसकी रीति निराली, प्याली भरै न खाली होय।

प्रेम इतना ही है--यह बात प्रेममें कभी नहीं आती। इसीलिए प्रेमका निरूपण करने चलनेपर निरूपकको ही हार जाना पड़ता है। इसी बातको समझानेके लिए प्रारम्भमें ही कह रहे हैं। •

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥ ५१ ॥

प्रेमका स्वरूप अवर्णनीय है ॥ ५१ ॥

इसी सूत्रके कारण लोग इस 'भक्ति-दर्शन'को 'प्रेम-दर्शन कहते हैं।

वेदान्त-ग्रन्थोंमें 'अनिर्वचनीय' शब्द बहुत आया है। वेदान्तके 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक ग्रन्थका दूसरा नाम ही है—'अनिर्वचनीयसर्वस्व'। जिस बातका आप निरूपण करने चलेंगे उसीको वह काट देगा। जैसे पूछा—'नाक क्या है?' उत्तर दिया—'गन्ध ग्रहण करनेवाली इन्द्रियविशेष।'

फिर पूछा—'गन्ध क्या है?'

इसका उत्तर है—'जो नाकसे ग्रहण की जाय।'

अब नाकको जाने बिना गन्धका पता नही लगेगा और गन्धको जाने बिना नाक नही जानी जायगी। अतः दोनोंके परस्पराश्रित होनेसे वे अनिर्वचनीय हो गये।

जगत् 'सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयं' है। पक्की बात नहीं कही जा सकती कि प्रपञ्च सत् है या असत्। विचार करनेपर जगत्‌की सत्ता सिद्ध नहीं होती इसलिए उसे 'सत्' नहीं कह सकते और प्रत्यक्ष अनुभूत है अतः 'असत्' भी नहीं कह सकते। इसलिए सत्-असत्‌से विलक्षण होनेके कारण वह अनिर्वचनीय है।

ब्रह्म 'अवाङ्मनसगोचरत्वेन' अनिर्वचनीय है। किसी इन्द्रियसे ब्रह्मका प्रत्यक्ष नहीं होता, मन उसका चिन्तन नहीं कर पाता, इसलिए ब्रह्मका निर्वचन सम्भव नहीं है।

प्रेम भी अनिर्वचनीय है। तब वह प्रपञ्चके समान 'सत्त्वासत्त्वाभ्याम् अनिर्वचनीयम्' है अथवा ब्रह्मके समान 'अवाङ्मनसगोचरत्वेन' अनिर्वचनीय है? प्रेमकी अनिर्वचनीयता इन दोनोंसे भिन्न है।

प्रेम 'असत्' कभी नहीं होता! सब अवस्थाओंमें प्रेम 'सत् स्वरूप ही रहता है। इसलिए प्रेम जगत्‌के समान 'सत्त्वासत्त्वाभ्याम्

अनिर्वचनीय' नहीं है। जगत्को तो 'सत्' भी नहीं कह सकते और असत् भी नहीं कह सकते; किन्तु प्रेम 'सत्' है।

'अवाङ्मनसगोचरत्वेन' ब्रह्मको अनिर्वचनीय कहनेका तात्पर्य यह है कि उसमें न तो इन्द्रियोंकी गति है, न मनकी। किन्तु प्रेममें मनकी गति न हो तो प्रेम कैसा? इसलिए ब्रह्मके समान अनिर्वचनीयपना प्रेममें नहीं है। प्रेमकी अनिर्वचनीयता भिन्न ही है।

प्रशंसा प्रेम है या गाली देना? प्रशंसा भी प्रेम है और गाली देनेमें भी प्रेम होता है। विवाहमें जो गाली दी जाती है वह प्रेमकी ही है। पैर दबाना भी प्रेम है और कोई रोग हो तो बलपूर्वक भूखे रखना भी प्रेम है। अपने नेत्रोंके सम्मुख रखना तथा एकान्तमें स्वच्छन्द छोड़ देना, दोनों प्रेम हैं। देना भी प्रेम है और लेना भी प्रेम है। यदि प्रेमको किसी क्रियामें बाँधा जाय कि ऐसा करना ही प्रेम है तो प्रेममें जड़ता आजायगी।

'हम उनकी वस्तु न लेंगे तो उन्हें दुःख होगा' इस भावसे वस्तु ले लेना प्रेम है या नहीं! माँगना भी प्रेम है। 'मेरे माँग लेनेसे उन्हें प्रसन्नता होगी' यह स्थिति भी तो आती है। अतः प्रेमको किसी क्रियामें, वस्तुमें या भाषामें बाँधना शक्य नहीं है।

प्रेम न केवल प्यास है, न केवल तृप्ति। प्रेममें अनन्त प्यास भी है और अनन्त तृप्ति भी।

भाषा—'ऐसा कहना ही प्रेम है,' यह क्या कोई कह सकता है? बड़े आदरसे सम्बोधन भी प्रेम है और 'तू' कहना भी प्रेम है। हमारा कृष्ण है तो हम उसे भगवान् वासुदेव कहें या श्याम, कन्हाई, कन्हड़ कहें।

प्रेम किसी देश, काल, वस्तु, क्रिया या किसी भाषामें आबद्ध होता तो उसका निर्वचन होता। वह तो सबमें है और किसीमें बँधा नहीं है। तब उसका निर्वचन कैसे हो सकता है? •

गूँगेके स्वाद-सा

● संगति

तब प्रेमका अनिर्वचनीयत्व कैसा है ?

मूकास्वादनवत् ॥ ५२ ॥

गूँगेके स्वाद लेनेके समान ॥ ५२ ॥

जैसे गूँगे व्यक्तिने रसगुल्ला खाया। उससे पूछो—'कैसा लगा ?' तो वह उसका स्वाद बतला नहीं सकता, केवल संकेतसे समझा सकता है कि उसे बहुत अच्छा लगा।

प्रेममें आस्वादन है किन्तु उसे बताया नहीं जा सकता। बोलनेवाला व्यक्ति भी पेड़े, बर्फी, रसगुल्लाकी मिठास तथा आम, नीबू, इमली आदिके खट्टेपनका अन्तर ठीक-ठीक नहीं बतला सकता। कोई रूपका—रंगोंका अन्तर भी ठीक-ठीक नहीं बतला सकता। यह सृष्टि ऐसी है ही कि इसमें सब करते हुए, सब भोगते हुए भी सुख-दुःखका ठीक-ठीक निरूपण नहीं हो पाता।

प्रेम कोई लड्डू-खीर तो है नहीं कि वैसा आनन्द आवेगा और उपमानसे समझा देंगे। किसी वस्तुका नाम प्रेम नहीं है। किसीको रुपया दिया या लड्डू खिलाया तो क्या यह प्रेम हो गया ? तुमने रुपया दिया या प्रेम दिया ? रुपया तो तुम घूसके रूपमें, दण्डके रूपमें भी देते हो। किसीने तुम्हें बड़े प्रेमसे लड्डू दिया; किन्तु दूसरेने छीन लिया—'तुम लड्डू खाओगे ! बीमार हो तुम। तुम्हें यह हानि करेगा। तुम्हें लड्डू नहीं खाने देंगे।' इस लड्डू छीननेमें क्या लड्डू देनेसे कम प्रेम है ? प्रेम तो देनेमें भी है, छीननेमें भी है। दोनों तुम्हारा हित चाहते हैं।

माताने अपने एक बीमार बच्चेके लिए परवल उबालकर उसका पानी बनाया और दूसरे बच्चेके लिए हलवा-पूड़ी बनायी। बीमार बच्चा माताको पक्षपाती कहता है। माता समझाती है– 'बेटे! तुम बीमार हो। तुम हलवा-पूड़ी खाओगे तो तुम्हारा रोग बढ़ जायगा। अच्छे हो जाओ तो तुम्हें भी हलवा-पूड़ी खिलाऊँगी।'

एक हनुमानजीकी मूर्ति खुले स्थानमें थी। एक साधु उधर आये तो उन्हें लगा ..'हनुमानजीको धपमें, वर्षामें कष्ट होता होगा।' उन्होंने गाँवके लोगोंको बुलाया और उनसे फूसका एक छप्पर मूर्तिके ऊपर बनवा दिया।

वे साधु तो छप्पर बनवाकर चले गये किन्तु कुछ दिन पीछे दूसरे साधु उधरसे निकले। उन्होंने मूर्तिके ऊपर फूसका छप्पर देखा तो सोचा....'कहीं इसमें आग लग गयी तो हनुमानजीको बड़ा कष्ट होगा।' उन्होंने गाँवके लोगोंको बुलाकर वह छप्पर हटवा दिया।

इन दोनों ही साधुओंका हनुमानजीसे प्रेम था। न वस्तुका नाम प्रेम है, न क्रियाका नाम। हाथ जोड़ना क्या प्रेम है? 'हम' आपको हाथ जोड़ते हैं, हमसे दूर हो रहिये।' क्या इसे प्रेम कहेंगे?

एक बार मैं मध्यप्रदेशमें एक सज्जनके यहाँ एक महीने रहा। जब चलनेका विचार हुआ तो उन लोगोंने मेरे साथियोंसे पूछा... 'महाराजको यहाँ रोकनेका कोई उपाय है?'

साथीने कह दिया...'महाराज तो प्रेमके वशमें हैं। उनसे प्रेम करो तो रुक जायँगे।'

उन्होंने पूछा ...'प्रेम कैसे होता है?'

साथोने कहा....'अपने हाथसे खिलाओ। पैर दबाओ!'

अब वे लोग मेरे मुखमें गुलाबजामुन ठूँसें और पैरोंपर भी कोई न कोई लगा रहे। इसमें मुझे कितनी असुविधा हुई इसकी किसी को चिन्ता ही नहीं।

अतः किसी क्रियाका नाम प्रेम नहीं है। क्रियाविशेषको प्रेम माननेपर क्रिया यान्त्रिक हो जायगी। पंखा चलानेका नाम प्रेम हो तो बिजलीका बटन दबा दो—पंखा चलता रहेगा।

मनकी एक-सी दशाका नाम भी प्रेम नहीं है। प्रेममें प्रशंसा भी की जाती है और निन्दा भी। रूठना-मान करना भी प्रेम है। किसी एक ढंगमें—यान्त्रिक सेवामें प्रेम नहीं है।

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा-परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥

जो अपने अभिमानको त्यागकर आवेगा वह प्रेम ले जायगा। निरन्तर एक ही स्मृतिका नाम भी प्रेम नहीं है। मैया यशोदा जब अपने लालके लिए रोटी बनाती है तो उसका पूरा मन रोटी बनानेमें लगा होता है। मोहनको माखन देनेके लिए दही मथती है तो उसमें पूरा मन लगाती है। यदि निरन्तर स्मृतिका नाम प्रेम हो तो शत्रुकी स्मृति तो निरन्तर रहती है, क्या उसे भी प्रेम कहेंगे?

प्रेमकी शिक्षा देनेके लिए कोई पाठशाला-महाविद्यालय नहीं खोले जाते। प्रेममें तो प्रेमास्पदकी बात, उसीका 'अहं' रहेगा। अपनेको भगवान्‌की मुट्ठीमें कर देना तथा उन्हें अपनी मुट्ठीमें कर लेनेका नाम भक्ति है। अपनेको उनका बना देना और उन्हें अपना बना लेना प्रेम है।

लोकमान्य तिलकके 'गीता-रहस्य'की हिन्दी टीकामें श्रीतुकारामजीके एक अभंग (छन्द) का अनुवाद दिया है—

गूंगेका गुड़ है भगवान्, बाहर भीतर एक समान।
किसका ध्यान करूँ सविवेक, जल-तरंग सम हैं हम एक॥

जो भगवान् है वह प्रेम है और जो प्रेम है वह भगवान्। जैसे—जो ब्रह्म है वह ज्ञान और जो ज्ञान है वह ब्रह्म। उस ज्ञानमें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद नहीं है। द्रष्टा-दृश्यके भेदका लोप होकर जो अखण्ड दृङ्मात्र सत्ता है उसमें द्रष्टा कहाँ? इसी प्रकार

जो प्रेम है—रस है, उसमें रसिक-रस्य, आस्वाद्य-आस्वादक, भोक्ता-भोग्यका भेद नहीं है। ज्ञान वह अखण्ड, जिसमें ज्ञाता-ज्ञेयका भेद नहीं होता। आनन्द वह अखण्ड, जिसमें भोक्ता-भोग्यका भेद नहीं होता। सत्ता वह अखण्ड, जिसमें कर्ता-कार्यका भेद नहीं होता। इसलिए प्रेम वह तत्त्व है जिसमें प्रेमी एवं प्रियतम एक हो जाते हैं, दोनोंमें भेद नहीं रह जाता। आस्वादन त्यागकर जो आनन्द है, वह भोक्ताका स्वरूप है।

भोगका सुख भोक्ताको होता है, भोग्यको नहीं। किन्तु प्रेम भोक्ता-भोग्यका सुख नहीं है। अतः द्रष्टा-दृश्य, भोक्ता-भोग्य, खाद्य-खादकसे तटस्थ अखण्ड आनन्द ही प्रेम है। इसीलिए उसमें सुख लेने अथवा देनेवाला 'मैं' नहीं रहता। यही कारण है कि वह गूंगेके आस्वादनके समान अनिर्वचनीय है।

प्रेम स्वारसिक है। उसका स्वाद बाहरसे नहीं, भीतरसे आया है। राह चलते जो आसक्ति–राग-मोह हो जाता है, उसमें स्थायित्व नहीं होता, वह छूट जाता है। वह प्रेम नहीं है। प्रेमका मूल्य तो सिर काटकर देना भी पर्याप्त नहीं होता।

जौं सिर काटे हरि मिलैं, तौ सिर दीजे दौरि।

सत्की प्रधानतासे ब्रह्मका विवेक करते हैं तब कार्य-कारण ब्रह्मके विवर्त कहे जाते हैं। चित्की प्रधानतासे ब्रह्मका विवेक करनेपर द्रष्टा-दृश्यको ब्रह्मका विवर्त कहते हैं। आनन्दकी प्रधानतासे ब्रह्मका विवेक करनेपर भोक्ता-भोग्यको ब्रह्मका विवर्त कहते हैं। जो सत् है, वही चित् है और वही आनन्द है। जो चिन्मात्र वस्तु है वही रसमात्र वस्तु है। तब उसमें कौन भोक्ता और कौन भोग्य? प्रेममें भोक्ता-भोग्यका विवेक सम्भव नहीं। श्रीराधाकृष्णमें कौन विषय, कौन विषयी? यह भेद वहाँ नहीं है। दोनों एक हैं—आनन्दस्वरूप हैं। अतएव प्रेम 'मूकास्वादनवत्' केवल आस्वादन–रसमात्र है। उसका निर्वचन–वर्णन नहीं किया जा सकता।

प्रेमका प्रकाश
किसी अनिर्वचनीय पात्रमें हो

● संगति

ऐसा प्रेम सबके जीवनमें क्यों नहीं आता ? इसलिए नहीं आता कि लोगोंने वासनाको ही प्रेम मान रखा है। वास्तवमें प्रेम तो होता ही तब है जब चित्त भगवान्‌से जुड़े। भगवान्‌से लगे बिना जो राग होता है वह मोह होता है। देहधारीका देहधारीके प्रति केवल मोह होता है। क्योंकि प्रेम शुद्ध है अतः वह शुद्ध वस्तुसे ही जुड़ता है। अशुद्ध वस्तुसे जो जुड़ता है वह मायिक-प्राकृत काम है। कोई स्त्रीसे प्रेम करे और कहे--'हमारा प्रेम शुद्ध है' तो यह उसका भ्रम है। तुम्हारे प्रेमका विषय ही अशुद्ध है। कुत्तेका मांससे क्या प्रेम नहीं होता ? जो लोथड़ा ही अशुद्ध है—हड्डी-मांस, चमड़ा-रक्त-मल-मूत्र-कफके उस पुतलेसे प्रेम ! प्रेमका विषय ही अशुद्ध है तब वहाँ शुद्ध प्रेम कैसे होगा ? अप्राकृत, चिन्मय, दिव्य भगवान्‌में जो प्रेम होता है, वही शुद्ध प्रेम है। विषय-शुद्धिके बिना प्रेम शुद्ध नहीं होता।

अब कहो कि--'प्रेमके आदर्शके रूपमें तो इस सूत्रग्रन्थमें ही गोपियोंका उल्लेख है। तब क्या गोपियोंके मनमें काम नहीं था ?'

श्रीधरस्वामीने कहा है--'काम अशुद्ध या दोष तो तब होता है जब वह संसारके विषयमें—हड्डी-मांस-चर्ममें हो। श्रीकृष्ण 'चिन्मयवपु', 'आनन्दमात्र-करपादादि' हैं। उनसे जुड़ा प्रेम विषय-'महिम्ना' पवित्र है।

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम् ।

गोपियोंका प्रेम ही 'काम' नामसे प्रख्यात हुआ। सीधी बात है कि संसारमें लगा राग काम है, अशुद्ध है, क्योंकि संसार ही अशुद्ध-अपवित्र है और भगवान्में लगा राग प्रेम है, पवित्र है। ●

प्रकाशते[1] क्वापि पात्रे ॥ ५३ ॥

किसी अधिकारीमें ही (वह प्रेम) प्रकाशित होता है ॥ ५३ ॥

प्रेम स्वयंप्रकाश है। वह देखता रहता है कि मेरे प्रकट होने योग्य कोई हृदय मिले तो उसमें मैं प्रकाशित होऊँ। पात्र देखकर प्रेम प्रकट हो जाता है। शुद्ध वस्तु हो तो उसे शुद्ध पात्रमें रखा जाता है। जैसे गोपियाँ शुद्ध पात्र--उचित अधिकारी थीं। उनके मनमें श्रीकृष्णके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं था। शुद्ध प्रेम संसारमें किसी-किसीके हृदयमें प्रकट होता है। सांसारिक व्यक्तिके हृदयमें आकर तो वह मोह काम-बन्धनका हेतु बन जाता है।

प्रकाशते क्वापि पात्रे इस सूत्र द्वारा प्रेमको चित्स्वरूप कहा गया है। श्रीहनुमानजीने अशोक-वाटिकामें श्रीजानकीजीको मर्यादा-पुरुषोत्तमका सन्देश उनके ही शब्दोंमें सुनाया—

तत्त्व प्रेमकर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा ॥

'मेरे और तुम्हारे प्रेमका तत्त्व एकमात्र मेरा मोड़ा हुआ 'मोरा' मन जानता है।' प्रेमका तत्त्व अन्तर्मुख मन ही जानता है। उसे बहिर्मुख, रंगीन-जिसपर संसारका कोई भी रंग चढ़ चुका हो, वह मन नहीं जानता।

सो मन रहत सदा तोहि पाहीं। जानु प्रीतिरस एतनइ माहीं ॥

जो मन प्रियतमसे एक हो वही मन प्रेमके तत्त्वको जानता है और यह एकत्व होता है मन मोड़ा-अन्तर्मुख होनेसे। मनकी

---

१. पाठभेद--'प्रकाश्यते'।

एकता एवं अन्तर्मुखतामें जब दोनों संसारकी कोई वस्तु न जानते होंगे, केवल अपने प्रियको चाहते होंगे।

गाजीपुरमें पहले दो ऑनरेरी मजिस्ट्रेट थे। दोनों अपठित थे। कोई मुकदमा सुन लेते तो एक पूछता—'तुम्हारी क्या राय है ?'

दूसरा कह देता—'जो थारी राय, सो म्हारी राय।'

दोनोंमें मतभेद कभी नहीं होता था। जो एककी सम्मति, वही दूसरेकी भी; किन्तु यह क्या प्रेम हो गया ? नहीं, प्रेम वह है जहाँ द्वैत नहीं रह जाता। प्रेमकी प्रकृति है द्वैतका निवारण करना। प्रेममें पर्दा-आवरण नहीं रह सकता। प्रेममें देरी-दूरी सह्य नहीं है। श्रीरामने कहा—'सो मन रहत सदा तोहि पाहीं'—वह मन तो तुम्हारे समीप ही रहता है। दो मन एक होकर एक ही स्थान-पर रहने लगते हैं।

सत्यपि ध्वंसकारणे सर्वथा ध्वंसरहितम्।
यद्भावबन्धनं यूनोः न प्रेमा परिकीर्तितः॥

टूट जाने—झगड़ा हो जानेका कारण होनेपर भी जो परस्परका भाव-बन्धन सर्वथा अटूट बना रहता है उसे प्रेम कहा जाता है।

ऐसा प्रेम उचित-शुद्ध पात्रमें ही प्रकाशित होता है। सिंहिनीका दूध स्वर्णपात्रमें ही टिकता है, दूसरे पात्रमें रखनेपर वह पात्र फूट जायगा। इसी प्रकार यह अनन्त रसरूप प्रेम किसी पात्रमें ही प्रकाशित होता है। इसे प्रकट होनेको ऐसा हृदय चाहिए जो टूटे-फूटे नहीं।

क्वापि पात्रे - कस्मिंश्चिदनिर्वचनीये पात्रे—किसी अनिर्वचनीय पात्रमें प्रेम प्रकट होता है। एक सज्जन संकीर्तनमें तो उछल-उछलकर नाचते-रोते थे किन्तु घर जाकर नौकरोंको बहुत गालियाँ बकते थे। शुद्ध प्रेम ऐसे पात्रमें प्रकट नहीं होता। प्रेममें प्रियतमके अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं रहता। ज्ञानमें आत्मा ब्रह्मसे

भिन्न नहीं रह जाता। अतएव पहले हृदयको स्वच्छ करो। यह वही बात हुई--

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

(गीता)

'श्रद्धावान्, तत्पर, संयतेन्द्रिय पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है।' शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा और समाधानरूपी षट्सम्पत्तिसे हृदय शुद्ध हो तब ज्ञान प्राप्त हो। चित्तकी शुद्धि क्या? शुद्धका चिन्तन हो तो हृदय शुद्ध और अशुद्धका चिन्तन हो तो अशुद्ध। प्रेममें प्रियतमका चिन्तन हो तब अन्तःकरण शुद्ध माना जाता है।

हृदयमें स्वच्छता, सुगन्ध, सरसता, प्रकाश ले तो आओ, तब हृदयका द्वार खोलकर प्रतीक्षा करो– 'अब प्रेम आवे! अब आवे!'

जैसे प्रभु देखते हैं कि यह मेरी प्राप्तिके लिए व्याकुल है, तब आते हैं, कोई अन्यको चाहता हो तब नहीं आते, वैसे ही प्रेम भी भगवान्‌का स्वरूप ही है--**प्रेम हरीका रूप है त्यों हरि प्रेमस्वरूप।**

अतः वह भी सच्ची व्याकुलता होनेपर ही प्रकट होता है। जहाँ प्रेमका प्रादुर्भाव सहन करने योग्य हृदय नहीं है वहाँ प्रेम प्रकट नहीं होता। अतएव--**आशाप्रतीक्षे संगच्छेथाः**--आशाका प्रकाश--'मिलेंगे राम! मिलेंगे राम!' ऐसी आशा हो, प्रतीक्षा हो, तब प्रेम प्रकाशित होता है।

प्रेमकी छः विशेषताएँ

● संगति

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्--कह तो दिया; किन्तु इतना कहकर छोड़ देना उचित नहीं है। कुछ तो प्रेमके स्वरूपके विषयमें कहना ही चाहिए। श्रीमंडनमिश्र (सुरेश्वराचार्य) जीने अपने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' ग्रन्थके आरम्भमें लिखा है--'मैं जानता हूँ कि ब्रह्म वाणीका विषय नहीं है। फिर मैंने यह ग्रन्थ क्यों लिखा? ...... बोधपरीक्षार्थं तत्त्वज्ञनिकषाश्मसु--'संसारमें जो तत्त्वज्ञ पुरुष हैं वे मेरे लिए कसौटी हैं। उनके सम्मुख मैं यह ग्रन्थ रखता हूँ। इसमें जिस 'बोध'का प्रतिपादन है उसकी वे परीक्षा करें।' इसी प्रकार प्रेम अनिर्वचनीय तो है; किन्तु--

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥

महात्माओंके सत्संगमें एक बार प्रश्न उठा--'ब्रह्म तो ज्ञानका अविषय है और ब्रह्मज्ञान हुए बिना अविद्या मिटती नहीं। इसका क्या समाधान है?'

इसका समाधान यह है कि 'अविषयत्वेन' ब्रह्मज्ञान होगा। 'ब्रह्मज्ञानका विषय नहीं है' यह ज्ञानका रूप होगा। वह ब्रह्म ज्ञानवृत्तिका भी प्रकाशक है, यह जाना जायगा। इसी प्रकार अनिर्वचनीय होनेपर भी प्रेमका कुछ रूप बतलाते हैं।

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणं वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ ५४॥

(प्रेम) गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़नेवाला, कभी न टूटनेवाला, अत्यन्त सूक्ष्म तथा अनुभवस्वरूप है॥ ५४॥

भिन्न नहीं रह जाता। अतएव पहले हृदयको स्वच्छ करो। यह वही बात हुई--

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

(गीता)

'श्रद्धावान्, तत्पर, संयतेन्द्रिय पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है।' शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा और समाधानरूपी षट्सम्पत्तिसे हृदय शुद्ध हो तब ज्ञान प्राप्त हो। चित्तकी शुद्धि क्या? शुद्धका चिन्तन हो तो हृदय शुद्ध और अशुद्धका चिन्तन हो तो अशुद्ध। प्रेममें प्रियतमका चिन्तन हो तब अन्तःकरण शुद्ध माना जाता है।

हृदयमें स्वच्छता, सुगन्ध, सरसता, प्रकाश ले तो आओ, तब हृदयका द्वार खोलकर प्रतीक्षा करो– 'अब प्रेम आवे! अब आवे!'

जैसे प्रभु देखते हैं कि यह मेरी प्राप्तिके लिए व्याकुल है, तब आते हैं, कोई अन्यको चाहता हो तब नहीं आते, वैसे ही प्रेम भी भगवान्‌का स्वरूप ही है--**प्रेम हरीका रूप है त्यों हरि प्रेमस्वरूप।**

अतः वह भी सच्ची व्याकुलता होनेपर ही प्रकट होता है। जहाँ प्रेमका प्रादुर्भाव सहन करने योग्य हृदय नहीं है वहाँ प्रेम प्रकट नहीं होता। अतएव--**आशाप्रतीक्षे संगच्छेथाः**--आशाका प्रकाश--'मिलेंगे राम! मिलेंगे राम!' ऐसी आशा हो, प्रतीक्षा हो, तब प्रेम प्रकाशित होता है।

●

प्रेमकी छः विशेषताएँ

• संगति

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्--कह तो दिया; किन्तु इतना कहकर छोड़ देना उचित नहीं है। कुछ तो प्रेमके स्वरूपके विषयमें कहना ही चाहिए। श्रीमंडनमिश्र (सुरेश्वराचार्य) जीने अपने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' ग्रन्थके आरम्भमें लिखा है--'मैं जानता हूँ कि ब्रह्म वाणीका विषय नहीं है। फिर मैंने यह ग्रन्थ क्यों लिखा? ...... बोधपरीक्षार्थं तत्त्वज्ञनिकषाश्मसु--'संसारमें जो तत्त्वज्ञ पुरुष हैं वे मेरे लिए कसौटी हैं। उनके सम्मुख मैं यह ग्रन्थ रखता हूँ। इसमें जिस 'बोध'का प्रतिपादन है उसकी वे परीक्षा करें।' इसी प्रकार प्रेम अनिर्वचनीय तो है; किन्तु--

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥

महात्माओंके सत्संगमें एक बार प्रश्न उठा--'ब्रह्म तो ज्ञानका अविषय है और ब्रह्मज्ञान हुए बिना अविद्या मिटती नहीं। इसका क्या समाधान है?'

इसका समाधान यह है कि 'अविषयत्वेन' ब्रह्मज्ञान होगा। 'ब्रह्मज्ञानका विषय नहीं है' यह ज्ञानका रूप होगा। वह ब्रह्म ज्ञानवृत्तिका भी प्रकाशक है, यह जाना जायगा। इसी प्रकार अनिर्वचनीय होनेपर भी प्रेमका कुछ रूप बतलाते हैं।

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणं वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ ५४ ॥

(प्रेम) गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़नेवाला, कभी न टूटनेवाला, अत्यन्त सूक्ष्म तथा अनुभवस्वरूप है ॥ ५४ ॥

इस सूत्रमें प्रेमकी विशेषताएँ बतायी गयी हैं। जैसे भगवान्में छः विशेषताएँ होती हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

'सम्पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण धर्म, समग्र यश, सम्पूर्ण लक्ष्मी, पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण वैराग्य, इन छः को 'भग' कहा जाता है। जिनमें ये छः विशेषताएँ हों, उन्हें भगवान् कहते हैं।

प्रेम भगवान्का ही स्वरूप है, अतः उसमें भी छः विशेषताएँ बतायी गयी हैं। अब उनमें-से प्रत्येकपर पृथक्-पृथक् विचार करें।

'गुणरहितं'—प्रेम गुण देखकर नहीं होता। गुण देखकर तो सांसारिक लोग प्रेम करते हैं। मैं बम्बईमें एक सेठके घर गया। उस घरके लोग दुखी थे। उनके पुत्रने पहले स्वयं देखकर विवाह किया था। पीछे उस लड़कीको चेचक निकल आयी। उस भले घरकी लड़कीको उसने छोड़ रखा था और एक ऐंग्लोइण्डियन लड़कीसे दूसरा विवाह कर लिया था। सौन्दर्य देखकर होनेवाला ऐसा प्रेम व्यक्तिसे नहीं, चमड़ेके रंगसे होता है।

मैंने एक समाचार-पत्रमें एक घटना पढ़ी थी। योरोपके एक देशमें एक सज्जन एक सुन्दर स्त्रीपर मोहित होकर उसके पीछे लग गये। उन्होंने उसे किसी क्लबमें देखा था और उससे प्रयत्न-पूर्वक परिचय किया था। अब जब मिलते, उसके एक-एक अंगकी, विशेषतः केशोंकी और दाँतोंकी प्रशंसा करते थे। एक दिन वह सुन्दरी उन्हें अपने साथ अपने घर ले गयी। अपने कमरेमें बैठाकर उसने उनसे कहा—'आपको मेरे ये केश और दाँत क्या बहुत अच्छे लगते हैं?'

वे बोले—'बहुत! बड़े सुन्दर हैं आपके केश और दाँत!'

सुन्दरीने कहा—'तब आप इन्हें ले जाइये।'

उसने सिरपरसे वे नकली केश उतारकर मेजपर रख दिये और मुखमें-से नकली दाँत भी निकाल दिये। वे सज्जन चुपचाप खिसक गये।

आजकल केश तो पन्द्रह-सोलह वर्षके बच्चोंके भी श्वेत होने लगते हैं। दाँत पच्चीस वर्षकी अवस्थामें ही झड़ते देखे जाते हैं। चमड़ा चेचकसे, रोगसे कुरूप हो जाता है। इन बाहरी वस्तुओंको देखकर प्रेम नहीं होता।

आज किसीको दानी देखकर प्रेम किया। फिर जब वह कञ्जूसी करते दीखा तो घृणा करने लगे। इसी प्रकार विद्या, बुद्धि, दयालुता आदि गुण देखकर भी प्रेम नहीं किया जाता। संसारमें इन्द्रियोंके काममें आनेवाले गुणोंको देखकर जो राग होता है वह प्रेम नहीं है। गुण अपने स्वार्थमें उपयोगी हैं। अतः गुण देखकर जो प्रेम करता है वह प्रेमी नहीं, स्वार्थी है। गुणोंमें व्याप्त अर्थात् जिसके प्रकाशसे गुणोंमें चमक आती है, उस अधिष्ठानको जो देखता है, उससे प्रेम करता है वह प्रेमी है।

'गुणरहितं' आजकल प्रेम बाजारू हो गया है इसलिए ऐसे लक्षण बतला रहे हैं जिससे प्रेमकी ठीक-ठीक पहचान हो जाय। धन देखकर तुमने किसीसे प्रेम किया, कल उसका दिवाला निकला तो तुम्हारे प्रेमका भी दिवाला निकल गया। विद्या देखकर या बुद्धि देखकर प्रेम किया, किसी दुर्घटनामें उसके सिरमें चोट लगी, स्मृति नष्ट हो गयी तो तुम्हारा प्रेम भी नष्ट हो गया। सद्गुण देखकर प्रेम होगा तो दुर्गुण देखकर हट जायगा।

गुण देखकर जहाँ प्रेम होता है वहाँ अपने भीतर कामना होती है। हम उससे कुछ लेने, कुछ पानेकी आशा करते हैं। यह प्रेम नहीं है। ईश्वरसे प्रेम क्या देखकर करना! प्रियतममें प्रेमकी सिद्धि है—'गुणरहितं' और प्रेमीमें प्रेमकी सिद्धि है—'कामनारहितम्।'

गुणका निवास तो प्रेममें है। जिससे प्रेम होगा उसमें गुण ही गुण दिखायी देंगे। **बसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि**--गुण प्रेममें बसते हैं, वस्तुमें नहीं। वस्तु तो निर्गुण है। सम्पूर्ण वस्तु-व्यक्तिके रूपमें वह निर्गुण परमात्मा ही सर्वत्र है। अच्छा, तुम अपने आपसे तो प्रेम करते ही हो। भला अपनेमें कौन-सा गुण देखकर प्रेम करते हो? अपनेमें बिना किसी गुणकी अपेक्षा किये जैसा प्रेम तुम्हारा अपने आपसे है वैसा ही भगवान्‌से हो जाय तो वह शुद्ध प्रेम है। भले ही भगवान् काले-गोरे, सुन्दर-असुन्दर कछुआ-मछली, सूअर-सिंह, चाहे जैसे, चाहे जिस रूपमें हों; क्योंकि तुम्हारा प्रेम रूपसे नहीं, ईश्वरसे है।

यदि तुम सृष्टिको हरी देखना चाहते हो तो अपने नेत्रोंपर हरा चश्मा लगा लो। सर्वत्र प्रेम देखना है तो हृदयमें प्रेम बसाओ। जो किसी परिच्छिन्नसे प्रेम करेगा वह दूसरेसे द्वेष करेगा। उसके लिए दूसरेकी उपेक्षा, दूसरेसे घृणा स्वाभाविक है। एक ओर राग होगा तो अन्यत्र वैराग्य होगा ही। अतः अपरिच्छिन्नसे प्रेम ही शुद्ध प्रेम है। प्रीति स्वरूप देखकर होती है, गुण देखकर नहीं।

यदि तुम गुण देखकर प्रीति करते हो तो वृत्ति उन गुणोंके आकारकी बनती है। वृत्ति गुणाकार होती है तो निर्गुण परमात्माके साक्षात्कारमें बाधा पड़ती है। यह तो 'मूले कुठाराघातः' हो गया। गुण देखकर प्रेम होगा तो गुणमें कमी देखकर छूट जायगा। स्वरूप-दृष्टिसे जो प्रेम होता है, उसकी नींव सुदृढ़ होती है।

'कामनारहितं'--'तत्' पदार्थमें तो गुण नहीं देखना और 'त्वं' पदार्थमें कामना नहीं करनी चाहिए। कामना ही आत्माकी अशुद्धि है। कामी अपनी ओर न देखकर अन्यकी ओर देखता है, जिसकी चाह है वहीं दृष्टि है। परमात्माकी चाह है तो दृष्टि परमात्मा-पर है।

जो वस्तु अपनेमें–अपने पास नहीं है, उसीकी कामना होती है। जहाँ कामना है वहाँ अपूर्णता है। 'कामनारहितं' प्रेमके मार्गमें चले तो अन्तःकरणसे कामनाकी निवृत्ति होगी। कामना गन्दी नाली है, प्रेम गंगाजल है। प्रेम मनको अन्तर्मुख करता है। वह 'त्वं' पदार्थका शोधक है, अतएव शुद्ध है। देखना यह है कि हमारे मनमें भोगवासना है या नहीं ?

बिनु गुन जोबन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जान।
सुद्ध कामना ते रहित, प्रेम कहिय रसखान॥

प्रेम निर्मल हृदयका विलास है, भोगवासनाकी पूर्ति नहीं। प्रेमकी लीला विलक्षण है। प्रेमी कहता है--

जहाँ सत्य ही सार हो जीवनका,
रिझवार सिंगार हो प्यार जहाँ।
जहाँ प्रेम ही प्रेमकी सृष्टि मिले,
चलो नावको ले चलें खेके वहाँ॥

धनमें जो प्रेम है वह एकांगी प्रेम है। धन तो किसीसे प्रेम करता नहीं। अतः लोभमें बन्धन कम है। लोभी कष्ट पानेपर धनको छोड़ देता है। क्रोध स्पष्ट दुःखद है। वह दाहक क्रिया करके समाप्त होता है। लोभ क्रोधसे बुरा है क्योंकि क्रोध क्रिया प्रकट करके समाप्त हो जाता है किन्तु जिसके लिए लोभ हुआ उसे पाकर लोभ समाप्त नहीं होता। इसमें बन्धन एक ओरसे होता है। काम तथा मोहमें दोनों ओरका बन्धन है। काम एक प्राणीका प्राणीके प्रति होता है। दोनोंके मनमें वासना होती है। कच्चा सूत भी दुहरा होकर कड़ा हो जाता है। जब दो प्राणियोंकी वासनाएँ मिल जाती हैं तब उनका त्याग कठिन हो जाता है। अतः काम प्रबल बन्धन है।

प्रेम कामसे विलक्षण है। श्रीवल्लभाचार्यजीने अपनी 'सुबोधिनी' टीकामें रासके प्रसंगमें लिखा है--

क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते ।

'रासमें क्रिया तो सब वही है जो काममें रहती है किन्तु यहाँ काम सर्वथा नहीं है ।'

प्रेम तथा कामका अन्तर जानना बहुत कठिन है। इनकी पहचान क्रियासे नहीं, भावनासे होती है। गोपियोंके मनमें स्वसुखेच्छा नहीं है। वे श्रीकृष्णको सुख देने गयी हैं। श्रीकृष्ण 'आत्माराम:'--सुखस्वरूप-सुख लेनेवाले नहीं, देनेवाले हैं। अतः वहाँ गोपी या कृष्ण, किसीमें काम नहीं है।

सकामके द्वारा कामनाकी पूर्ति कामनाको बढ़ाती है। निष्कामसे निष्कामका मिलन शुद्ध प्रेमको जन्म देनेवाला है। गोपी तथा कृष्ण दोनों निष्काम हैं।

'गुणरहितं'का अर्थ है विषय-भोगमें प्रेम न होना। गुण तो इन्द्रियाँ और उनके विषय हैं। प्रेममें इन्द्रिय-प्रयोग आवश्यक नहीं है। नेत्रसे देखे बिना, कर्णसे सुने बिना, त्वचासे स्पर्श किये बिना भी हृदयमें प्रेम छलकता है। प्रेम जिसके हृदयमें रहता है उसको देखकर लोग तृप्त हो जाते हैं। प्रेम तो रस है-- आसव है; अमृत है, रसायन है, मधु है। उसमें संसारका विस्मरण हो जाता है। प्रेमका अमृत जीवनको अमर कर देता है।

जब हमें कुछ लेना ही नहीं है तो महाराजाधिराज, त्रिलोकीनाथकी हमें क्या आवश्यकता? हमारे लिए तो बनवासी या ग्वारिया पर्याप्त है। जिसे कुछ लेना हो वह श्रीपति, परमसुन्दर, परमदयालु, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, उदारचक्रचूड़ामणिको देखे। यह देखना उसके लिए आवश्यक है। प्रेमीको तो प्रियके दोष भी गुण दिखायी पड़ेंगे।

श्रीराधासे किसीने पूछा--'नन्दका लड़का तो चोर है। तुम उससे प्रेम क्यों करती हो?'

श्रीराधाने कहा--'मैं उनके हृदयको समझती हूं। हमारे प्रेमपर किसीकी दृष्टि न जाय, मुझे अयश न मिले, लोग उन्हें भोला बच्चा समझें, इसलिए वे माखनचोरी करते हैं।'

प्रेमी अपने प्रियतमके दोषका भी सुन्दर व्याख्या कर लेता है। एकने भक्तसे कहा--'कृष्ण भला क्या ईश्वर होंगे, मैया यशोदाके डरसे वे बार-बार झूठ बोलते थे।'

भक्तके नेत्रोंसे झर-झर अश्रु गिरने लगे। वे प्रेममें मग्न हो गये....'कितने उदार, कितने भक्तपरवश हैं मेरे श्यामसुन्दर! अपने भक्तके प्रेमसे विवश बने उससे डरकर-झूठ बोलते हैं। यह तो उनकी भक्त-परवशता है।'

प्रीतिकी रीति निराली !

× ×

गोकुल गाँवको पैंड़ोइ न्यारो !

कँ जानति वृषभानु-नन्दिनी, कँ जानत वह कान्हर कारो।

'कामनारहितम्'--यह प्रेम कामनासे सर्वथा अस्पृश्य है। काम अग्नि है, प्रेम रस है। कामाग्नि लगती है तो हृदय जलने लगता है। वहाँ भला प्रेम कैसा! मनमें कामना आते ही प्रेमका रस सूख जाता है। प्रेममें प्यास है किन्तु कामना नहीं है। प्रेममें श्रृंगार है किन्तु उसका भोग अपने लिए नहीं है। काम (प्रद्युम्न) श्रीकृष्णका पुत्र है। पिताके सम्मुख जाते उसे संकोच होता है। अतः काम भगवान्के सम्मुख नहीं जाता। काममें सुख अपनी ओर लाया जाता है। प्रेममें सुख प्रियतमकी ओर ले जाया जाता है। काममें अभाव है। प्रेममें तृप्ति है। जहाँ कामना है वहाँ हम भोगसे घिरे आवद्ध रहते हैं।

'न सा कामयमाना'—भक्ति कामिनी नहीं है, यह बात पहले भी कह आये हैं। दो व्यक्ति भोजन बनाते हैं। दोनों ठाकुरजीको भोग लगाते हैं। उनमें एक अपने लिए; अपनी रुचि, अपने स्वादका

ध्यान रखकर बनाता है, दूसरा ठाकुरजीकी रुचि सोचकर बनाता है। जिसमें स्वयं स्वाद लेनेकी इच्छा नहीं है, उसमें प्रेम है।

'हम ईश्वरके प्रति सर्वथा निष्काम हैं। अपनी कामना तो हम अन्यत्रसे पूरी कर लेते हैं।' यह परमार्थ-मार्गका सबसे बड़ा दम्भ है। इसमें न प्रेम है, न हृदयकी शुद्धि है।

'कामनारहितम्'....इसमें यह नहीं कहा जा रहा है कि कामना किसके प्रति हो, कामना-रहित हृदय होना चाहिए। गोपीके मनमें संकल्प था कि...'हमें श्रीकृष्ण प्राप्त हों।' श्रीकृष्णने कहा है.... 'संकल्पो विदितः साध्व्यः!' तब क्या गोपीको कामसे भगवत्प्राप्ति हुई? गोपीके शुद्ध प्रेममें तो कामकी गन्ध भी नहीं है। श्रीकृष्णने वहीं बताया है....

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥

(श्रीमद्भा० १०.२२.२६)

'जो मुझमें बुद्धि लगाये हैं उनकी कामना काम नहीं है क्योंकि भुने हुए अथवा उबाले हुए अन्नके बीज अंकुर नहीं दे सकते।' श्रीवल्लभाचार्यजीने कहा है....

कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत्स्फुटम्।

'सकाम पुरुषके द्वारा कामनाकी पूर्ति होनेपर....कामसे कामके मिलनेपर संसारका बन्धन होता है।' श्रीकृष्णके प्रति कामना भोगपर्यन्तगामिनी नहीं होती।

संसारके प्रति जो प्रेम होता है वह कामके वशमें है। श्रीकृष्ण कामके पिता हैं। उनके प्रति काम हुआ तो अन्यके प्रति छूट गया। तुम कृष्णको अपना भोग्य बनाने जाते हो या स्वयं श्रीकृष्णका भोग्य बनने जाते हो? संसारमें तो स्त्री-पुरुष परस्पर भोक्ता-भोग्य हैं। पुरुषका यह मिथ्याभिमान ही है कि वही भोक्ता है। स्त्री भोग्य बनकर आती है...यह छल है, माया है, किन्तु

जानती है कि पुरुषसे मुझे सुख प्राप्त होगा। पर श्रीकृष्ण तो भोग्य बनते नहीं। प्रेममें अपनेको इतना मधुर, इतना सुन्दर, इतना स्वच्छ बनाना है कि हमें देखकर श्रीकृष्ण मुग्ध हों, प्रसन्न हों।

'प्रतिक्षणं वर्धमानम्'— जैसे गंगा गोमुखसे निकलती है तो उसकी धारा छोटी रहती है, गंगोत्तरीमें कुछ बड़ी हो जाती है, हरद्वार तक इतनी बड़ी हो जाती है कि उससे नहर निकलती है। गंगाकी धारा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है किन्तु नहर उत्तरोत्तर घटती जाती है। इसी प्रकार जो आँधी-सा आया और चला गया वह प्रेम नहीं है। प्रेम 'दिन-दूना रात-चौगुना' बढ़ता है। प्रेममें प्रतिपदा तो होती है किन्तु पूर्णिमा नहीं होती। प्रेमका प्रारम्भ तो होता है किन्तु इति-मिति-परिमिति इसमें नहीं हैं।

प्रेम घटे, इसका कोई कारण ही नहीं है। जब कोई माँग हो तो माँग पूरी न होनेसे--निराशा होनेपर, अथवा माँग पूरी होनेसे--स्वार्थ सध जाने पर प्रेम घटे; किन्तु प्रेममें तो कोई माँग ही नहीं। दोष देखकर प्रेम घटे, यह सम्भावना भी नहीं; क्योंकि प्रेम गुण देखकर तो होता नहीं और प्रमके नेत्रसे दोष दीखते नहीं। अपना काला, काना पुत्र भी माताको सुन्दर लगता है क्योंकि स्नेहपूर्ण नेत्रसे देखा जाता है। प्रेमकी दृष्टिमें, रस, स्नेह, माधुर्य होता है।

स्तोत्रं यत्र तटस्थतां प्रकटयच्चित्तस्य धत्ते व्यथां
निन्दा तु प्रमदं प्रयच्छति परीहासश्रियं बिभ्रती।
दोषेण क्षयितां गुणेन गुरुतां चाप्यस्य नातन्वती
प्रेम्णः स्वारसिकस्य कस्यचिदियं विक्रीडति प्रक्रिया॥

'स्वारसिक प्रेमका अपना पृथक् ढंग--पृथक् शैली है। प्रियतमकी प्रशंसा सुनकर चित्तमें प्रसन्नता नहीं, प्रत्युत उदासीनता, व्यथा होती है कि ये लोग उसे जाने बिना ऐसी बातें कहते हैं।

उसकी निन्दा सुनकर प्रसन्नता होती है कि उसके प्रेमको, सद्गुणको दूसरे क्या जानें ! उसके हृदयको जाननेवाला तो मैं हूँ। दोष देखकर प्रेम घटता नहीं, गुण देखकर बढ़ता नहीं।'

जैसे गुलाबमें नैसर्गिक सुगन्ध है वैसे ही प्रेमका यह नैसर्गिक गुण है। चन्द्रमामें स्वाभाविक ज्योत्स्ना है अर्जुनने श्रीकृष्णसे पूछा—'तुम्हारे हृदयकी बात कोई जानता है ? तुम तो सर्वत्र असंग रहते हो।' श्रीकृष्णने कहा—

जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः।

'अर्जुन ! मेरे हृदयकी बात तत्त्वतः केवल गोपियाँ जानती हैं। दूसरा कोई नहीं जानता।'

यदि तुमने अपने प्रिय प्रभुके विषयमें दूसरेसे कुछ स्तुति या निन्दा सुनी तो क्या समझते हो कि तुम प्रभुके अधिक निकट हो या वह अधिक निकट है ! प्रेमीका तो अपने प्रियतमसे प्राण मिला है। प्रभुके विषयमें वह ठीक-ठीक न जानेगा तो क्या गाँवके लोग जानेंगे ? दूसरे तो अनजान हैं। उनकी बातोंका भला क्या महत्त्व है !

प्रेम नैसर्गिक रूपमें होता है। प्रेमका स्वभाव बन जाता है प्रेम करना। वियोगसे प्रेम घटता नहीं। जो प्रेम देरी और दूरीसे घटे, काल (देरी) और देश (दूरी) की उपाधि जिसे प्रभावित करे वह प्रेम नहीं है।

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा।
इदानीमन्तरे प्राप्ताः पर्वताः सरितो द्रुमाः॥

'वियोग न हो इस भयसे मैंने मिलन-कालमें कंठमें हार तक नहीं पहना; किन्तु आज उसके और मेरे बीच वृक्षों, सरिताओं, पर्वतोंका अन्तर पड़ गया है !' यह दूरी प्रेमसूत्रको तोड़ नहीं सकती क्योंकि वह कच्चा सूत नहीं है। वह तो सच्चिदानन्दका बना है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुने कहा—

सङ्गमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्य ।
सङ्गे भवति स एकस्त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ॥

'यदि उस प्रियतमके मिलन और वियोगमें-से कोई एक लेना हो तो मुझे मिलनकी अपेक्षा उसका वियोग श्रेष्ठ जान पड़ता है; क्योंकि मिलनके समय तो वह अकेला होता है किन्तु उसके वियोगमें तो तीनों लोक उसके स्वरूप बन जाते हैं, सर्वत्र वही वह दीखता है ।' जित देखौं तित स्याममयी है ।

संसारमें ह्रासवाद चलता है । स्थूलतामें विकासवादकी कल्पना कोरा भ्रम है । ईश्वरसे प्रेम नहीं हुआ, किसी मनुष्यसे हो गया । मनुष्यमें गुण देखकर-रूप देखकर प्रेम करते हो तो रूप-गुण घटेंगे ।

प्रातर्यत्संस्कृतं चान्नं सायं तच्च विनश्यति ।
तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता ॥

'सबेरे जो भोजन बनाया, शामतक वह बासी होकर बिगड़ने लगा । ऐसे अन्नके रससे पलनेवाले देहमें स्थिरता, नित्यता कैसी !'

गुण देखकर प्रीति हुई है तो एक-न-एक दिन अवगुण देखकर टूटेगी । यद्यपि ईश्वरमें गुण नित्य हैं, वहाँ वे कभी घटते नहीं । पर ईश्वरसे भी यदि किसी कामनासे प्रेम किया है तो कामना पूर्ण न होनेसे ईश्वरमें अरुचि हो जायगी ।

एक महात्मासे किसीने पूछा—'मैं दस-बारह वर्षोंसे निराकारोपासना करता आ रहा हूँ किन्तु मुझे उससे पूरा सन्तोष नहीं हुआ; अतः अब साकारोपासना करना चाहता हूँ । कोई भूल तो नहीं हो रही मुझसे ?'

उन्होंने उत्तर दिया—'यह निराकारसे तुमको असन्तोष क्यों है ? अवश्य तुम कुछ चाहते होगे । मनमें कोई ऐसी वासना-इच्छा होगी जिसे निराकार दे नहीं पाता । वैसे निराकार-साकार दोनों ईश्वरके रूप हैं, दोनों उत्तम हैं; किन्तु तुम बदलना क्यों चाहते

हो ? अपने चित्तकी उस वासनाको ही छोड़ दो, निराकारको क्यों छोड़ते हो ?'

ईश्वर या सन्तके पास मनुष्य किसी-न-किसी कामनासे ही आता है किन्तु सन्त अथवा ईश्वरके पास आनेका फल यह होना चाहिए कि कामना छूट जाय। बच्चा पहले कुछ जानता नहीं, पढ़ने जाता है। पढ़नेसे उसका ज्ञान बढ़ता है या नहीं ? यदि बढ़ा तो सफल है। ऐसी ही बात प्रेमके विषयमें है। देखो कि तुम पग, दो पग आगे बढ़े या नहीं। संसार तुमसे कितना छूटा। जैसे काल आगे बढ़ता रहता है, रुकता नहीं, वैसे ही हमारा प्रेम भी क्षण-क्षण बढ़ता है या नहीं। प्रेमके बढ़नेका अर्थ है प्रेमास्पदके सुखमें सपना सुख, उसकी इच्छामें अपनी इच्छा, उसकी समझमें अपनी समझ मिल जाना। जिससे प्रेम होता है उसके दोषका भी लोग समर्थन करते हैं, कोई उसमें दोष निकाले तो कहते हैं--'यह उसका दोष नहीं है। यह तो तुम्हारी समझ–तुम्हारी दृष्टिका दोष है।'

'प्रतिक्षणं वर्धमानम्'--इससे प्रेमको अपरिच्छिन्न बतलाया। गोपियोंको श्रीकृष्ण **प्रतिसवाभिनव**--दिन-दिन नये-नये ही प्रतीत होते थे।

'अविच्छिन्नम्'—प्रेम बीचमें टूटता नहीं, अखण्ड रहता है। ऐसी कोई क्रिया नहीं जिससे प्रेम टूट जाय। कोई काम लेनेके लिए तो प्रेम किया नहीं। प्रेम तो आत्माका स्वरूप है। दिव्य सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्यस्वरूप आत्मा ही प्रेम है।

छिनहिं बढ़ै छिन ऊतरै, सो तौ प्रेम न होय।
अघट प्रेम पंजर बसै, प्रेम कहावै सोय॥

नींद आनेपर प्रेम घट या टूट नहीं जाता। जागनेपर पहले ही जैसा प्रेम रहता है। समाधिमें प्रेम टूटता है या नहीं ? नहीं टूटता। एक नटको घोड़ेसे प्रेम था। उसने राजाके सामने इसलिए समाधि लगायी कि उसे समाधिसे उठनेपर घोड़ा पुरस्कारमें

मिलेगा। नटने समाधि लगायी तो राजाने उसे भूमिमें गड़वा दिया। नटकी गहन समाधि लग गयी। राजा मर गया और उसकी कई पीढ़ियाँ बीत गयीं तब नटकी समाधि टूटी; किन्तु समाधिसे उठते ही वह बोला—'अन्नदाता ! मेरा घोड़ा कहाँ है ?'

मनोरथाः प्रयत्नाश्च कर्तुरायान्ति तत्क्षणम्।
समाध्यादीनि कर्माणि जहाति मनुजो यदि॥

'मनुष्य समाधिसे पूर्व जो कामनाएँ, जो प्रयत्न कर रहा था, समाधि टूटते ही वे कामनाएँ, वे प्रयत्न तत्काल मनमें आ जाते हैं। शम-दमादिसे अन्तःकरणकी शुद्धि हुए विना अथवा भगवत्कृपाके बिना प्राणायाम करने, समाधि लगानेसे कामना नहीं मिटेगी। कामनाका जबतक रूपान्तर नहीं हो जाता, वृत्यन्तर नहीं होता, जबतक वह भगवत्कामनामें बदल नहीं जाती, तबतक कामना मिटती नहीं। प्रेम लोकान्तरमें जानेसे भी नहीं मिटता क्योंकि वह आत्माका स्वरूप है।

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परत गाँठ दुरजन हिये, दयी नयी यह रीति॥

(बिहारी-सतसई)

प्रेमकी रीति ही अद्भुत है। इसमें परस्पर आँखें उलझती तो हैं; किन्तु जो उलझे सो टूटे, यह लौकिक नियम नहीं है। टूटता कुटुम्ब है, संसारका सम्बन्ध टूटता है। 'जो टूटा वह जोड़ा जाय' का नियम प्रेममें नहीं है। टूटा कुटुम्ब, और प्रीति जुड़ी चतुर चित्तमें। गाँठ वहीं पड़ती है जहाँ जोड़ होता है किन्तु प्रेमके मार्गमें भला गाँठका क्या काम ! वहां तो गाँठ पड़ती है दुर्जनोंके चित्तमें। वे प्रेमीको देखकर कुढ़ते हैं।

'अविच्छिन्नम्'—प्रेम किसी भी कारणसे टूटता नहीं। सम्बन्धमें, भोगोंमें, धनमें, यशमें—कहीं भी बाधा पड़े, बड़ीसे बड़ी हानि हो; किन्तु कोई बाधा प्रेमको तोड़नेमें समर्थ नहीं।

स्वयं प्रियतम भी प्रेम छुड़ाना चाहे तो नहीं छूटता। श्रीकृष्णने अपने समीप आयी गोपियोंको घर लौट जानेको कहा; पर वे लौटनेके लिए थोड़े ही आयी थीं। जुड़ने और टूटनेवाले सम्बन्ध संसारके होते हैं, ईश्वरका सम्बन्ध टूटनेवाला नहीं होता।

ऐसे वरको के वरौं, जो जनमै औ मर जाय।
वर वरिये गोपाल जू, म्हारो चुडलो अमर ह्वै जाय॥

(मीरा)

इस स्थूल शरीरको स्थूल जगत्में फेंक दो। इसके जो माता-पिता-पति बनें उन्हें बनने दो। तुम अपने सूक्ष्म शरीरको सजा-सवाँरकर भगवान्को अर्पित कर दो। इस प्रेममें मोक्षेच्छा भी बाधा नहीं डाल पाती। भक्ति करो और मुक्ति न मिले, मुक्ति की तुममें चाह हो तो प्रेममें बाधा पड़ सकती है। किन्तु—

भगति करत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवत बरियाईं॥

जन्मके स्वरूपको समझो। जीवको चौरासी लाख योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है। भक्तकी दृष्टि यह है कि मुक्ति मिले या न मिले, प्रभुका स्मरण—उनका प्रेम न छूटे। जो बड़े आदमीका पुत्र होता है उसे पिता नये-नये वस्त्र पहनाता रहता है। शरीर जीवके वस्त्र ही हैं--

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(गीता २.२२)

'जैसे मनुष्य अपने पुराने वस्त्र त्यागकर नवीन वस्त्र पहन लेता है ऐसे ही जीवात्मा पुराने शरीर त्यागकर नये शरीर ग्रहण कर लेता है।'

भगवान्ने अपने बच्चेके लिए चौरासी लाख वस्त्र बनवा रखे हैं! भक्त कहता है--'आप जो वस्त्र पहनाएँ, हम उसीको पहननेमें प्रसन्न हैं।'

जेहि जेहि जोनि करमबस भ्रमहीं।
तहँ तहँ नाथ देहु यह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू।
होउ नाथ यहि भाँति निबाहू॥

इसलिए मोक्षेच्छा भी भक्तके प्रेमको तोड़नेमें समर्थ नहीं है।

'सूक्ष्मतरम्'--प्रेमका स्वरूप अतिशय सूक्ष्म है। व्रजकी ग्वालिनें ब्रह्माजीसे प्रार्थना करती हैं--'हमें मिट्टी बना दो! मिट्टी बनेंगी तो कभी कुम्हार खोदकर प्याला बनावेगा। उसमें जल या शर्बत भरा जायगा और वह कन्हाईके हाथमें जाकर उनके अधरतक पहुँचेगा। इस शरीरसे तो उनतक अब पहुँच होनी नहीं है।'

देह, जाति धर्म, भाषा, सद्गति--किसीका कोई मोह स्पर्श तक नहीं करता। शरीर छूट जाता है, उसके साथ जाति, धर्म, भाषा, नाम--सब छूट जाते हैं; किंतु प्रेम नहीं छूटता। भक्ति-रसामृतसिन्धुमें आया है--

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

यह शरीर तो नश्वर है अतः मृत्युको प्राप्त होगा ही। मृत्यु होनेपर शरीरके पञ्चतत्त्व अपने-अपने महाभूतोंमें मिल जायँगे। वे मिल जायँ, किन्तु सिरसे प्रणाम करके इस सम्बन्धमें हम ब्रह्मासे यह वरदान माँगते हैं कि हमारे शरीरका जलांश प्रेमास्पदको उस बावलीमें मिले जिसके जलका वे उपयोग करते हैं, हमारे देहकी ज्योति उनके दर्पणमें समा जाय, हमारा देहाकाश उनके आँगनके आकाशमें मिल जाय, हमारे शरीरकी मिट्टी उस मार्गपर पड़े जिसपर वे चलते हों और हमारा श्वास, हमारे प्राण उनके पंखेकी वायुमें मिल जायँ।'

प्रेमकुटीमें एक दिन एक कव्वाल आया। उसने गाया—

उसने कहा—'हाय, तुमने मुझे मार डाला।'
मैंने कहा—'यह मैं नहीं, मेरी अदा है॥'

यह मरना-मारना ब्रह्मका स्वरूप नहीं, यह तो उसकी 'अदा' है। इस प्रेममें लोग जी-जीकर मरते और मर-मरकर जीते हैं। प्रेम हृदयके सूक्ष्मतम प्रदेशमें रहता है। बाह्य निमित्त तो केवल उसे उद्दीप्त करने आते हैं।

श्रीराधाने एक दिन श्रीकृष्णका नाम सुना। नाम सुनते ही चित्त व्याकुल हो गया। सखीसे कहने लगीं—

कृष्ण नाम जबतें स्रवन सुन्यो री आली।
भूली री, भवन, हौं तौ बावरी भई री॥

इसके बाद वंशी-ध्वनि कानमें पड़ी। वंशीकी ध्वनि सुनकर तो त्रिलोकीमें कोई सावधान नहीं रह पाता था। जब व्याकुलता बहुत बढ़ गयी तो चित्रा सखीने एक चित्र दिखलाते हुए कहा—'**शिशिरय दृशौ दृष्ट्वा दिव्यं किशोरमिमं पुरः!**—इस दिव्य किशोरको देखकर अपने नेत्र शीतल कर लो।'

चित्र देखकर व्याकुलता चरम सीमापर पहुँच गयी तो ललिताजीने कहा—'अपनी व्याकुलताका कारण बतलाओ तो उसे दूर करनेका उपाय किया जाय। **न मङ्गला परिजने सङ्गोपनाङ्गीकृतिः** अपने परिजनोंसे दुराव रखना मङ्गलकारी नहीं होता। छिपाओगी तो उपाय कैसे होगा?'

श्रीराधा बोलीं—

इयं सखि सुदुस्साध्या राधाहृदयवेदना।
कृता यत्र चिकित्सापि कुत्सायां पर्यवस्यति॥

'सखी! राधाकी यह हृदय-वेदना दुःसाध्य है; जिसके निवारणार्थ की हुई चिकित्सा भी कुत्सा (निन्दा) में परिणत हो जाती है।'

ललिताने पूछा--'अनन्तः रोग क्या है ?'

श्रीराधा--'कहते लज्जा आती है। मेरा हृदय एक साथ तीन-तीन पुरुषोंमें अनुरक्त हो गया है। अब तो मृत्यु ही मुझे इस जुगुप्सासे छुड़ा सकती है।'

ललिता--'वे तीनों भाग्यवान् हैं कौन ?'

श्रीराधा--'मैं उन तीनोंमें-से किसीसे मिली नहीं, किसीको देखा नहीं। एकका 'कृष्ण' नाम श्रवणमें पड़ा और मैं व्याकुल हो गयी। दूसरे किसीने वंशी बजायी, उसे सुनकर मेरा चित्त अपने वशमें नहीं रहा और अब यह चित्रा सखी किसीका चित्र बना लायी है, इसपर भी मैं मोहित हो गयी हूँ।'

ललिता...'तब यह कहो कि हमारे नन्दनन्दन श्यामसुन्दर, वंशीवादक श्रीकृष्णसे तुम्हें प्रीति हो गयी है। तुम बहुत भोली हो। ये तीनो तीन नहीं हैं। यह जिसका चित्र है वही वंशी बजाता है और उसीका नाम कृष्ण है।'

जिसका अन्तःकरण पवित्र होता है उसकी रुचि पवित्रताकी ओर ही होती है। कालिदासने 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में वर्णन किया है कि महर्षि कण्वके आश्रममें शकुन्तलाको देखकर राजा दुष्यन्त सोचता है—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

(अङ्क १ श्लोक १९)

'निश्चय ही यह मुझ क्षत्रियके साथ विवाह करने योग्य होगी क्योंकि मेरा सुसंस्कृत चित्त इसकी अभिलाषा करता है। सज्जनोंके लिए सन्दिग्ध वस्तुके सम्बन्धमें अपने अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है।'

जनकपुरकी पुष्पवाटिकामें श्रीजानकीको देखकर श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा था—

रघुबंसिन कर सहज सुभाऊ।
मन कुपंथ पग देइ न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति जिय केरी।
जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥

अपनी परम व्याकुलता सखीकी व्यथा मिटानेके लिए ललिता श्रीकृष्णके समीप गयीं। उनकी बात सुनकर श्रीकृष्णने झिड़क दिया...'मैं व्रजराय नन्दका पुत्र, संयमी, ब्रह्मचारी; तू मुझे किसी स्त्रीके समीप ले जाने आयी है?'

ललिता रोती हुई लौटीं तो देखते ही श्रीराधाने समझ लिया कि श्यामसुन्दरने मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। बोली....'सखी! रो मत....

न चायातः कृष्णो यदि सखि तवागः कथमिदं
मुधा मा रोदीर्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम्।
तमालस्य स्कन्धे विनिहितभुजावल्लरिरियं
यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठति तनुः॥

(विदग्धमाधव)

'यदि श्रीकृष्णने यहाँ आना अस्वीकार कर दिया तो इसमें तेरा क्या अपराध है! व्यर्थ रो मत; किंतु अब यह शरीर रहेगा नहीं। इसलिए मेरे मर जानेपर तुम इतना करना कि मेरी भुजाओंको तमाल वृक्षसे लपेटकर मेरे शरीरको ऐसे लगा देना कि बहुत समयतक वह वृन्दावनमें इसी रूपमें स्थित रहे। कृष्ण नहीं मिले तो न सही, उनके वर्णवाले श्याम तमालसे ही यह शरीर लिपटा रहे!'

ननु तव मुखमिन्दुं द्रष्टुमेते त्वरन्ति।

(सूक्ति सु० ५.५)

'प्यारे! अब ये प्राण तुम्हारे मुखचन्द्रको देखनेकी शीघ्रता कर रहे हैं!' इस प्रकार श्रीराधाकी व्याकुलता बढ़ी तो श्रीकृष्ण वेश बदलकर आये और मिल गये।

प्रेम इस प्रकार अन्तर्देशमें प्रवेश करके प्रेमीके एक-एक रोमको परिप्लुत कर देता है। प्रेमी नहाना-खाना, सोना-जागना सब प्रेमास्पदके लिए ही करता है। प्रेम + क्रिया = सेवा। प्रेम पचकर रसायन बन जाता है।

'सूक्ष्मतरम्'--श्रीराधाकी एक सखी श्रीकृष्णके समीप आयी। श्रीकृष्णने पूछा--'तेरी सखीका क्या हाल है?'

सखी—'जीवति–जी रही है।'

कृष्ण--'मैं कुशल पूछता हूँ।'

सखी--'कह तो दिया कि जी रही है।'

कृष्ण--'उसका कुशल समाचार कहो।'

सखी—'जबतक उसकी साँस चल रही है तबतक मैं कैसे कह दूँ कि 'वह मर गयी!' यह उसकी कुशल है कि अभी जीवित है।'[१]

यह सूक्ष्मतर –गम्भीर स्वरूप है प्रेमका।

'अनुभवरूपम्'—भवका अर्थ है बदलनेवाला। जो बार-बार बदले वह भव—'भवतीति भवः', और प्रेमका स्वरूप है अनुभव। जितने वेश, जितने जन्म बदलें, उन-उन जन्मोंमें—प्रत्येक भवमें वह अनुगत रहता है। घर, जाति, आभा, देह, आकार, धर्म, माता-पिता, सब छूट जायँगे किंतु प्रेम बना रहेगा।

प्रेमका स्वभाव है दूरको निकट लाना, देरको तत्काल करना, परायेको अपना बनाना। ज्ञानमें वस्तुको परिवर्तित करनेकी सामर्थ्य नहीं है। वह वस्तुको ज्यों-की-त्यों प्रकाशित करता है। किंतु प्रेम पीतलको स्वर्ण, दुःखको अमृत, मृतको जीवित, अशक्तको सशक्त बना देता है।

ललिताने श्रीराधासे पूछा—'स्वामिनी! श्यामसे आपका क्या सम्बन्ध है?'

---

१ कुशलं तस्या जीवति कुशलं पृच्छामि जीवतीत्युक्तम्।
कुशलं ब्रूहि कथं तां मृतेति कथयामि या श्वसिति॥

श्रीराधा--'जो तुम्हें अच्छा लगे वह मान लो।'

प्रेममें सम्बन्धकी रूपरेखा कैसी! सम्बन्ध प्रेमका साधन है, साध्य नहीं।

तात-मात, गुरु सखा तुम सब बिधि हित मेरे।
मोहि-तोहि नाते अनेक, मानिये जो भावैं॥

ललिता--'आप प्रियतमा हैं और वे प्रियतम हैं।'

श्रीराधा--'सखी! तुम कुछ नहीं जानती। तुम तो केवल ऊपर-ऊपरकी बात जानती हो। तथ्य यह है--

सखि न स रमणो नाहं रमणीति भिदावयोरास्ते।
प्रेमरसेनोभयमन इह मदनो निष्पिपेष बलात्॥

'सखी! न वे प्रियतम हैं, न मैं प्रियतमा हूं। हम दोनोंमें यह प्रियतम-प्रियतमाका भेद नहीं है। मिलनकी तीव्राकांक्षा जागी और उसने दोनोंको बलपूर्वक पीसकर एक कर दिया। अब मन ही दो नहीं रहा। पार्थक्य तो मनके कारण होता है।'

यदि संसारमें भी दो मन एक हो जायँ तो प्रबल हो जाते हैं। तब १+१=२ नहीं होता, १+१=११ हो जाता है। गुरु तथा शिष्यका मन एक होकर ईश्वरको खींच लेता है। प्रेमके रससे मिलकर दोनों मन नरम हो जाते--पिघल जाते हैं और मिलकर एक हो जाते हैं। मनके कारण ही तो जीव 'खुदासे जुदा' है। मन एक हो गये तो आत्मा तो एक है ही। श्रीराधा-कृष्ण परस्पर भिन्न नहीं हैं। वे एक हो गये हैं।

परसपर दोउ चकोर दोउ चन्दा।

एक दिन श्रीराधा-कृष्ण एक स्थानपर बैठे थे। दोनोंके मनमें अपने प्रेष्ठको छोड़कर दूसरे किसीकी स्फुरणा नहीं थी। श्रीकृष्णने देखा कि प्रियाजी उदास हैं। उन्होंने उदास होनेका कारण पूछा--'मैं तुम्हारे पास हूं फिर तुम उदास क्यों?' उत्तर मिला--

अहं कान्ता कान्तस्त्वमिति न तदानीं मतिरभून्
मनोवृत्तिर्लुप्ता त्वमहमिति नौ धीरपि हता।
भवान् भर्ता भार्याऽहमिति यदिदानीं व्यवसिति-
स्तथापि प्राणानां स्थितिरिति विचित्रं किमपरम् ॥

'अभी कुछ देर पूर्व मैं प्रियतमा हूँ और तुम प्रियतम हो, ऐसी बुद्धि नहीं थी। मनोवृत्तियाँ लुप्त हो गयी थीं। यह 'तुम' और यह 'मैं' ऐसी बुद्धि-वृत्ति दोनोंमें नहीं रह गयी थी। अब इस समय यह प्रतीत होने लगा है कि तुम भर्ता हो और मैं भार्या हूँ। इतना भेद—इतनी दूरी प्रतीत होनपर भी प्राण बने हैं, मैं जीवित हूँ, इससे अधिक आश्चर्य और क्या होगा !'

प्रेम अनुभवस्वरूप है। रसात्मक ज्ञानका ही नाम प्रेम है। बौद्ध लोग ज्ञानको क्षणिक मानते हैं। उनका मत है कि जैसे एक तरङ्गसे दूसरी उठती है वसे ही विज्ञान-सन्तान-परम्परा चलती है। संस्कारके कारण ज्ञानमें भेद प्रतीत होता है। वेदान्तका मत है—'ज्ञान सत्स्वरूप एवं अविनाशी है। अज्ञान एवं जड़ता न हो, यह मनुष्यकी श्रेष्ठतम स्थिति है।'

भक्त कहता है—'इस ज्ञानमें आनन्दको और जोड़ो।' यह आनन्दात्मक अविनाशी ज्ञान, निर्गुण निर्विशेषका ज्ञान नहीं है। रसात्मक ज्ञान—यही सविशेष ज्ञान श्रीकृष्ण हैं। यही प्रेम है। यह आनन्दाकार चेतन एवं चेतनाकार-आनन्द ही श्रीकृष्ण है। यह राधाके बिना नहीं मिलता। आराधना ही राधा हैं।

राधादास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसङ्गाशयः।
सोऽयं पूर्णसुधानिधेः परिचयं राकां विनाऽऽकाङ्क्षति ॥

'आराधनारूपी श्रीराधाकी दासताका त्याग करके जो श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए प्रयास करता है वह तो पूर्णिमाके बिना पूर्णचन्द्रका परिचय चाहता है।'

'अनुभवरूप' प्रेम अनुभवस्वरूप है। इसका यह अर्थ है

कि प्रेमका रसास्वाद उन्हें ही प्राप्त होता है जिनके हृदयमें भक्ति आती है, जिनका अविनाशी रसात्मक चेतनमें अनुराग है।

मैं घड़ी देखता हूँ। इसमें 'मैं' अनुभविता हूँ और 'घड़ी' अनुभाव्य है। इन दोनोंको जोड़नेवाली कड़ी अनुभव है। हम घड़ीका अनुभव करते हैं तो घड़ी जड़ है। यदि हम प्रेमका अनुभव करते हैं तो प्रेम भी जड़ हुआ। अच्छा, मनुष्य जब मनुष्यका अनुभव करता है तो क्या दूसरा मनुष्य, जिसका अनुभव किया गया, वह जड़ होता है? मनुष्य तो जड़ नहीं होता; किन्तु अनुभव केवल उसके जड़ शरीरका होता है। प्रेम देहका अनुभव नहीं कराता। वह इस देह तथा उस देहके चेतनको मिला देनेवाला है।

स्वर्ण चेतन नहीं है, जड़ है। इसलिए स्वर्णसे जो प्रेम होगा वह प्रेम नहीं, मोह कहलावेगा। इसी प्रकार शरीर चेतन नहीं, जड़ है। अतः शरीरसे होनेवाला प्रेम मोह है। संसारके लोग स्वार्थी होते हैं। उनमें प्रेम तो होता नहीं, मोह होता है। जहाँ उनके स्वार्थमें बाधा पड़ी, मोह नष्ट हो जाता है।

प्रेम तो हिततत्त्व है। उसकी गोदमें श्रीराधा-कृष्ण युगल क्रीडा करते हैं। यह प्रेम सदा अनुभवरूप ही होता है।

हेरी मैं तो प्रेम दिवानी मेरो दरद न जानै कोय।
सूली ऊपर सेज पियाकी किस विध मिलनो होय॥
घायलकी गति घायल जानै, की जिन घायल होय।
जौहरकी गति जौहरि जानै, की जिन जौहर होय॥
दरदकी मारी वन बन डोलूं वैद मिला नहिं कोय।
मीराकी तब पीर मिटै जब वैद सँवरिया होय॥

श्रीभगवतरसिकजी कहते हैं—

मिलेइ रहत जनु कबहुं मिले ना।
भगवतरसिक रसिककी बातैं
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥

यही अनुभव मीराका भी है--

माई री, मैं तो गोविंदसों अटकी।
चकित भए ये दृग दोउ मेरे, लखि सोभा नटकी॥
सोभा अंग-अंग प्रति भूषन वनमाला लटकी।
ललित अलक कर बाँसुरी सोहै, दुति दामिनि तटकी॥
रमित भई हौं साँवरेके सँग, लोग कहैं भटकी।
छुटी लाज कुलकानि लोक डर, रहौं न हौं हटकी॥
मीरा प्रभुके संग फिरै अब कुंज कुंज लटकी।
बिन गोपाललाल री सजनी को जानै घटकी॥

इसका अर्थ है कि अनुभवी ही प्रेमके स्वरूपको ठीक-ठीक जानता है।

प्रेमाद्वैत-स्थिति

• संगति

प्रेमको प्राप्ति हो गयी इसकी पहचान क्या है ? प्रेमकी प्राप्ति होनेपर मनुष्यकी दृष्टि बदल जाती है, वाणी बदल जाती है, स्वभाव बदल जाता है। जैसे छेनेको चासनीमें डुबा दो तो उसके कण-कणमें मिठास भर जाती है।

> तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव
> भाषयति[1] तदेव चिन्तयति ॥ ५५ ॥

उस (प्रेम) को प्राप्त करके उसीको देखता है, उसीको सुनता है, उसीको बोलता है और उसीका चिन्तन करता है ॥ ५५ ॥

प्रेम मिलनेपर मनुष्यकी दशा बदल जाती है। तब प्रेमाद्वैत हो जाता है। प्रेमके अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता।

'तदेवावलोकयति'—जिसे प्रेमरत्न प्राप्त हो जाता है वह प्रेमको ही देखता है। तैत्तिरीयोपनिषद्-भाष्यमें आया है कि नेत्रवालेको नेत्रोंसे केवल रूप दीखता है। नेत्र शब्द, स्पर्श, रस तथा गन्धको नहीं देख पाते। रूपतन्मात्रासे बने नेत्र रूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं देख सकते। इसी प्रकार जिसका हृदय प्रेमतन्मात्रासे बनता है उसके हृदयमें प्रेमके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुका अनुभव नहीं होता। जिसके हृदयमें प्रेमका नृत्य चल रहा है, प्रेमका संगीत गूंज रहा है वह चाहे तो भी सृष्टिमें दूसरी वस्तु नहीं देख सकता क्योंकि उसकी तो **स्याम पुतरिया बदल** गयी है। नेत्र ही बदल गये। जहाँ देखता है वहाँ प्रेम ही दीखता है।

---

१. पाठभेद—कुछ प्रतियोंमें 'तदेव भाषयति' नहीं है।

गोपियाँ जब गाय देखतीं तो उन्हें लगता कि यह कृष्णके प्रेममें मग्न है, इसे रोमाञ्च हो रहा है, अश्रु आ रहे हैं, यह श्यामसुन्दरकी ओर दौड़ना चाहती है।

पापी सर्वत्र पापमाशङ्कते—'पापीको सर्वत्र पापकी शंका होती है।' कामी पुरुषको सब कामुक, क्रोधीको सब क्रोधी, लोभीको सब लालची दीखते हैं। ऐसे ही जो अपनेको ब्रह्म जानता है उसे सर्वत्र ब्रह्म दीखता है।

सर्वं धनमयं लुब्धाः कामुकाः कामिनीमयम्।
नारायणमयं धीराः पश्यन्ति परमार्थतः॥

'लोभ सबका मूल्य देखता है। इसका क्या मूल्य होगा? इसके उपयोगसे क्या लाभ होगा? सर्वत्र उसे मूल्य–धन ही दीखता है। कामुकको सर्वत्र कामका ही विलास दीख पड़ता है। परन्तु धीर पुरुष–भक्तजन सब जगत् भगवन्मय देखते हैं और यही परमार्थ सत्य है।'

अपने चित्तका यन्त्र ठीक कर लो तो सब कुछ ठीक हो जायगा। एक बार काशीमें ब्राह्मण महासम्मेलन हुआ। देशके बड़े-बड़े आचार्य, विद्वान् एकत्र हुए। उनमें-से एक आचार्यने अपने भाषणमें कहा––

रक्षत! रक्षत! कोषानामपि कोषं हृदयं,
यस्मिन् सुरक्षिते सर्वं सुरक्षितं स्यात्।

'रक्षा करो! कोषोंके भी परम कोष अपने हृदयकी रक्षा करो! जिसके रक्षित होनेपर सब सुरक्षित हो जाता है।' यह हृदय बचा रहेगा तो सब बच जायगा। यह कहीं संसारमें न चला जावे!

तुम अपने हृदयमें क्या भरकर संसारको देखते हो? वहाँ प्रेमका प्रकाश है या नहीं? गोपियाँ पक्षी देखतीं और देखतीं कि वे नेत्र खोले वृक्षोंपर बैठे हैं, तो कहतीं––'ये तो पक्षी हैं। श्रीकृष्णका

पक्ष करनेवाले, उनके प्रेमी हैं। खुले नेत्रोंसे उनका ध्यान कर रहे हैं।'

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः॥

(श्रीमद्भाग० १०.२१.१४)

'सखी! इस वृन्दावनमें तो प्रायः मुनिगण पक्षी बनकर श्रीकृष्णका दर्शन करने आ गये हैं। जब श्यामसुन्दर वंशी बजाने लगते हैं तब ये वृक्षोंकी मनोहर किसलयवाली शाखाओंपर बैठकर सब प्रकारका कलरव बन्द करके खुले नेत्रोंसे श्रीकृष्णका दर्शन करते हुए वंशीध्वनि श्रवण करते हैं।'

जब पक्षी नेत्र बन्द किये दीखते हैं तो गोपियाँ कहती हैं--'ये नन्दनन्दनका ध्यान, उनकी उपासना कर रहे हैं।'

सरसि सारसहंसविहङ्गाश्चारुगीतहृतचेतस एत्य।
हरिमुपासत ते यतचित्ता हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः॥

(श्रीमद्भाग० १०.३५.११)

'श्रीकृष्णचन्द्रकी वंशी-ध्वनि सुनकर सरोवरोंके इन पक्षियोंका चित्त श्याममें लग गया, वंशीध्वनिने इनका चित्त चुरा लिया। इसलिए सरोवरोंसे आकर ये सारस, हंस आदि पक्षी चित्तको एकाग्र करके, मौन धारण करके श्रीकृष्णका ध्यान--उनकी उपासना कर रहे हैं।'

ये पक्षी नहीं, मुनि हैं। पूर्वमीमांसाके पक्षी जैमिनि, उत्तर-मीमांसाके पक्षी व्यास, योगके पक्षी पतञ्जलि आदि यहाँ श्रीकृष्ण-प्रेममें मग्न बैठे हैं। गोपीको हरिणी दीखी, बोली--

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।

आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥
(श्रीमद्भाग० १०.२१.११)

'मूढबुद्धि होनेपर भी ये हरिणियाँ धन्य हैं! इनके पति तो कृष्णसार हैं। श्रीकृष्णका ध्यान करते-करते काले हो गये हैं। श्रीकृष्ण ही उनके जीवनके सार हैं। अतः नन्दनन्दनको विचित्र वेश धारण किये देखकर और उनकी वंशीध्वनि सुनकर ये हरिणियाँ अपने पतियोंके साथ प्रेमपूर्वक श्रीकृष्णको देखती हैं--अपने प्रेम-निरीक्षणसे उनकी पूजा करती हैं। हमारे पति तो हमें रोकते हैं कि 'मत जाओ' और इनके पति इनके साथ श्रीकृष्णका दर्शन करने आते हैं अतः पशु होकर भी ये धन्य हैं।'

गोपियोंको यमुना प्रेममयी दीखती हैं--

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥
(श्रीमद्भाग० १०.२१.१५)

'मुकुन्दका लोकमोहन संगीत सुनकर यमुनाके हृदयमें भी मिलनाकांक्षा जाग उठी है। यह जलमें आवर्त नहीं, यह प्रवाहका टूट जाना तो मिलनकी तीव्राकांक्षा सूचित करता है। देखो न, मुरारिका आलिंगन पानेके लिए इनकी तरगरूपी भुजाएँ कैसी उठ रही हैं और उनके चरणयुगलमें कमलकी अञ्जलि अर्पित कर रही हैं!'

मेघसे नन्हें सोकर बरसते हैं तो गोपी कहती है--मेघ श्रीकृष्णके सखा हैं--उनके भक्त हैं। ये उनकी सेवा करते हैं, उनके साथ लगे घूमते रहते हैं।'

दृष्ट्वाऽऽतपे व्रजपशून् सहरामगोपैः
सञ्चारयन्तमनु वेणुमुदीरयन्तम् ।

प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः
सख्युर्व्यधात्स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम् ॥

(श्रीमद्भाग० १०.२१.१६)

'ये मेघ जब देखते हैं कि श्रीबलराम तथा गोपकुमारोंके साथ श्यामसुन्दर वृन्दावनमें वंशी बजाते हुए गायोंको चराते धूपमें चल रहे हैं तो अपने शरीरसे उनपर ये छाया करते चलते हैं और अत्यन्त प्रेमके कारण सीकररूपी सुमन वर्षा करते हैं।'

गोवर्धन पर्वतपर दृष्टि गयी तो गोपियोंको गिरिराज भक्तश्रेष्ठ दीखते हैं—

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो
यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्
पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥

(श्रीमद्भाग० १०.२१.१८)

'सखी ! ये गिरिराज तो भक्तशिरोमणि हैं, अन्यथा श्रीबलराम तथा श्यामसुन्दरके श्रीचरणोंके स्पर्शका आनन्द क्या किसीको यों ही मिल जाता है ! ये कितना सम्मान करते हैं उनका, उनके सखाओंका, उनकी गायोंका। ये झरने इनमें इसलिए झरते हैं कि वे जल पियेंगे, इनमें गुफाएँ इसलिए हैं कि वे विश्राम करेंगे, इन्होंने अपने तृण-कन्द, मूल-फल उनके तथा गौवोंके सत्कारके लिए सजा-सँवार रखें हैं।'

पृथ्वीपर घास उगी है किन्तु गोपियोंको लगता है कि श्रीकृष्णके चरणस्पर्शसे भूमिको रोमांच हो रहा है। वे पूछती हैं—

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।

(श्रीमद्भाग० १०.३०.१०)

'भूदेवी ! तुमने ऐसा कौन-सा तप किया जिसके फलस्वरूप तुम्हें श्यामसुन्दरके चरणोंका स्पर्श प्राप्त हुआ ? उनके चरणोंके स्पर्शसे तुम्हारे शरीरमें रोमाञ्च हो रहा है।'

पुष्पित लताएँ देखकर वे कहती हैं--

नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो !

'निश्चय ही वनमालीने इन लताओंको अपने नखाग्रसे छेड़ा है। तभी तो ये इतनी पुलकित हो रही हैं। उनका स्पर्श प्राप्त किये बिना कोई इतना प्रफुल्ल कैसे हो सकता है !'

संसारके सब वृक्ष ऊर्ध्वमुख होते हैं; किन्तु **वृन्दावनस्थास्तरवः सर्वे चाधोमुखाः स्थिताः**--'वृन्दावनके सब वृक्ष नीचे मुख किये रहते हैं।' ऐसा क्यों ? इसलिए कि श्रीराधा-कृष्ण युगल इनके नीचे आवेंगे। उनके दर्शन करना है। भक्तोंने कामना की है--

कदम कुञ्ज होइहौं कबैं, वा वृन्दावन माँहि।
ललित किसोरी लाड़िले, विहरैंगे तेहि छाँहि।।

अपने पैरमें जूते हैं तो पृथ्वी चमड़ेसे ढकी है अतः जब सबमें प्रेम दीखने लगे तब समझना चाहिए कि हमारे हृदयमें प्रेम आ गया। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके आश्रमके समीप वैष्णव-स्थान कलाधारीका बगीचा है। वहाँके महन्तजी ऐसे रहते थे कि लोग उन्हें भिक्षुक समझते थे। वे वनमें जाते तो वृक्षोंसे लिपट जाते, उन्हें भुजाओंमें भरकर उनसे बातें करते--'तुम कौन भाग्यशाली भक्त हो ? कहाँसे आये हो ? रात्रिमें व्रजमें घूमते हो ? तुम्हें श्रीराधा-कृष्णके दर्शन होते हैं ? कभी युगल सरकार यहाँ तुम्हारे पास आते हैं ?'

'तत्प्राप्य तदेवावलोकयति'--परिच्छिन्नसे प्रेम भी परिच्छिन्न रहता है और पूर्णसे होकर प्रेम भी पूर्ण हो जाता है। तब सर्वत्र प्रेम ही प्रेम दिखलायी पड़ता है--

जित देखौं तित स्याममयी है।
मैं बौरी कै लोगन ही की स्याम पुतरिया बदल गयी है ॥

देवताओंके साथ देवियाँ विमानमें बैठकर घूमने निकलीं। वृन्दावनके ऊपरसे जाते समय देवियोंके केशोंमें लगी माला गिरी। गोपीकी दृष्टि गयी तो बोली--'ये अवश्य श्रीकृष्णके प्रेममें पगली हैं, वंशी-ध्वनि सुनकर इन्हें शरीरकी सुधि भूल गयी, इसलिए माला गिर पड़ी।'

गोपीको गायें, पशु, पक्षी, वृक्ष, लताएँ, पर्वत, मेघ, यमुना पृथ्वी आदि सभी प्रेमी दीखते हैं। गोपी कहती है--'श्रीकृष्णका सान्निध्य प्राप्त किये विना किसीमें आनन्द अभिव्यक्त कैसे हो सकता है। जहाँ आनन्द है, प्रसन्नता दीखती है, वहाँ श्रीकृष्णका स्पर्श प्राप्त है और जहाँ दुःख है, अश्रु है, वे श्रीकृष्णके वियोगमें हैं।'

साधना हमारा हृदय शुद्ध करनेको होती है। जिससे हृदय शुद्ध न हो वह भक्ति नहीं है। तुम मूल्यांकन किसे मानते हो? एक व्यक्ति डरता है--'ये बाबाजी बातें बनाकर मुझसे कुछ ठग न लें!' सावधान रहना तो उत्तम है किन्तु तुम उत्तम किसे मानते हो? किसे पकड़े रहना चाहते हो? मेरे एक मित्र मेडिकल कालेजमें पढ़ते थे। वहाँ लड़के-लड़कियोंके दो दल बन गये थे। दोनों एक दूसरेपर दोषारोपण करते थे। मेरे मित्रको इस बातका पता नहीं था। एक दिन किसी लड़कीके हाथसे कोई यन्त्र टूट गया। लड़कियोंने इनका नाम लगा दिया। यन्त्रका मूल्य था पचास रुपये। वह इन्होंने दे दिया। लड़कोंने इनसे कहा--'यह अन्याय है! तुम प्रतिवाद करो। हम तुम्हारी ओरसे लड़ेंगे।'

इस प्रकार दूसरेको न्याय दिलानेके लिए लड़नेवाले बहुत मिल जाते हैं। प्रायः लोग किसीको निमित्त बनाकर अपने मनकी भड़ाँस निकालते हैं। ये बोले--'यह ठीक है कि प्रतिवाद करनेसे पचास रुपये मिल जायँगे किन्तु इसके लिए जो बड़े-बड़ोंको यहाँ

दौड़-धूप करनी होगी, चिन्ता करनी होगी, चित्तमें विक्षेप होगा, उसका मूल्य क्या पचास रुपये भी नहीं है! जितना समय इस दौड़-धूपमें लगेगा उतना हम भगवान्के चिन्तनमें लगावेंगे। मेरे चित्तकी शान्तिका इससे अधिक मूल्य है।'

अतः देखना यह चाहिए कि इस कामसे हमारे चित्तमें क्या आवेगा। श्रीकुमारिल भटने कहा है—

दोषो ह्यविद्यमानोऽपि सच्चित्तानां प्रकाशते।

शुद्धचित्त पुरुषोंके चित्तमें दोष न होनेपर भी उन्हें सोचनेपर अपनेमें अनेक दोष दीखते हैं। इसलिए तुम अपने चित्तको चींटी बनाओ जो प्रत्येक स्थानपर चीनी ढूँढ़े। चित्तको गुबरैला मत बनाओ जो सर्वत्र गोबर-मल ढूँढ़ता फिरे। संस्कृतमें 'गुणादर्शचम्पू' नामक एक ग्रन्थ है। उसमें दो पात्र हैं। एक सब वस्तुओंमें दोष देखता है, दूसरा सबमें गुण। दोषदर्शी कहेगा--'सूर्य सबको जलाता-तपाता, क्रूर है। चन्द्रमा कलंकी, क्षयी और वियोगियोंको पीड़ा देनेवाला है। गंगामें गन्दे नाले मिलते हैं, मुर्दे फेंके जाते हैं, मैल बहता है।'

गुणदर्शी कहेगा--'सूर्य तो जीवनदाता, प्रकाशदाता, लोकको आत्मा, नारायणके स्वरूप हैं। चन्द्रमा देव-पितर-ओषधियोंके पोषक, शीत ज्योत्स्ना देनेवाले, आह्लादकारी हैं। गंगाजी पाप-नाशिनी, सुर-मुनिवन्दिता, परमपावनी हैं।'

तात्पर्य यह कि दोषदर्शीको सर्वत्र दोष एवं गुणदर्शीको सर्वत्र गुण दीखते हैं। साधनपथमें चलना है तो हृदयको उत्तम बनाना होगा। उत्तम हृदय वह है जिसमें संसारकी गन्ध न हो। ऐसा हृदय वही हो सकता है जिसे सर्वत्र प्रेम ही प्रेम दीखे। सबको प्रियतम तो देखना कठिन है किन्तु सब प्रेमी हैं यह समझना सरल है। 'ये भी उसी प्रेमास्पदको प्राप्त करना चाहते हैं। हम सब एक ही मार्गके यात्री, परस्पर साथी हैं।' ऐसा समझना सरल है। तुम

अपने मार्गको टेढ़ा मत बनाओ। अटको मत। भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है--**मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः**--'अर्जुन! सब मनुष्य मेरे ही मार्गपर चलते हैं।' कोयल किसको प्रसन्न करनेके लिए कूकती है? भ्रमर किसे आनन्दित करनेके लिए गुंजार करते हैं? उसीके लिए।

हृदयमें प्रेम आनेपर सर्वत्र प्रेम ही दीखता है। कोई जीव नरक जा रहा है। प्रेमीको दृष्टिमें आता है—'यह बहुत प्रेमी है। यह नरक जाकर अपने पाप-ताप भोगकर स्वच्छ होकर प्रियतमके समीप जायगा। यह तो हीरा है जो उनके कण्ठतक पहुँचनेके लिए खरादपर चढ़ने जा रहा है। यह स्वर्ण है जो उनका आभूषण बननेके लिए अग्निमें तपाया जा रहा है।'

प्रेमभरी दृष्टि देखती है--पृथ्वी सूर्यमें बैठे नारायणकी परिक्रमा कर रही है। वायु उसीको ढूँढ़ रही है। सरिताएँ उस समुद्रशायीसे मिलने भागी जा रही हैं। उसकी दृष्टि उदार हो जाती है। सबमें उसे भगवत्प्रेम दीखता है।

एक गाय गिरिराजपर चरने आया करती थी। सन्ध्याको घर लौटती तो उसके स्तनोंमें दूध नहीं मिलता था। गायके स्वामीने एक दिन उसका पीछा किया। देखा कि गाय गिरिराजके ऊपर एक शिलापर अपने पैर फैलाकर खड़ी हो जाती और अपना सब दूध शिलापर गिरा देती है। उस शिलाको उलटा गया तो श्रीनाथजीकी मूर्ति प्राप्त हुई। गायमें कितना प्रेम था! एक कविने कहा है—

जहां ऊँच या नीचका भेद न हो,
जहाँ जाति या पाँतकी बात नहीं।
जहाँ मन्दिर मस्जिद चर्च न हो,
जहाँ पूजा-नमाजमें भेद नहीं॥
जहाँ सत्य ही सार हो जीवनका,
रिझवार सिंगार हो प्यार जहाँ।

जहाँ प्रेम ही प्रेमकी सृष्टि मिले,
चलो नावको ले चलें खेके वहाँ ।।

कई लोग सोचते हैं कि संसारमें चोर न रहेंगे तो हम, लोगोंमें चोर होनेकी आशंका करना बंद कर देंगे। संसार तो ऐसा कभी होनेवाला नहीं है। फल यह होगा कि तुम्हारी दृष्टि सदा चौराकार बनी रहेगी। संसार जैसा है उसे वैसा रहने दो। तुम अपनी दृष्टि शुद्ध करो, अपना हृदय निर्मल करो। संसारको सुधारने --स्वच्छ करनेकी ठेकेदारी ईश्वरपर, आचार्यपर, नेतापर है; तुमपर नहीं। तुम्हारा हृदय स्वच्छ हो जाय तो तुम्हें सर्वत्र स्वच्छता दीखेगी। जिसके हृदयमें प्रेम आ जाता है उसे सर्वत्र प्रेम ही दिखलायी पड़ता है।

'तदेव' श्रृणोति'....प्रेमको प्राप्त करके उस प्रेमको ही सुनता है। जो भी शब्द कानमें पड़ता है वह उसे प्रेम ही जान पड़ता है। श्रीमद्भागवतमें आया है....

मन्येऽसुरान् भागवतानधीशे संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान्।

'असुरोंको हम भगवद्भक्त मानते हैं। क्यों, इसलिए कि त्रिलोकीनाथ भगवान्में उन्होंने क्रोधके मार्गसे अपना चित्त प्रविष्ट किया है।' जय-विजय भगवान्के पार्षद हैं। वे भगवान्की सेवा करनेके लिए असुर बने। भगवान्के मनमें युद्ध करनेकी इच्छा हुई, अतः असुर बनकर वे स्वामीकी इच्छा पूर्ण करने उपस्थित हुए। यह उनकी भक्ति ही है।

जो कहते हैं कि हम ईश्वरको नहीं मानते वे भी भक्त हैं। वे ईश्वरके सम्बन्धमें बहुत सोचते हैं। बच्चा अपने पिताकी गोदमें बैठा है। कोई उसे सिखाता है....'ये तुम्हारे पिता नहीं हैं। तुम्हारा पिता तो मैं हूँ।' पिताकी गोदमें बैठा पितासे कहता है... 'तुम मेरे पिता नहीं हो।' पिता अपने बच्चेके इस भोलेपनपर हँसता ही तो है।

कोई कठोर बोले या कोमल, गाली दे या निन्दा करे, उसकी बोलीमें प्रेमीको प्रेम ही लगता है। अपने पिता, गुरु क्या पुत्र अथवा शिष्यको गाली नहीं देते ? क्या मित्र मित्रको गाली नहीं देते ? किन्तु उसमें प्रेम होता है। कोई कुछ भी कहे किन्तु वह बात तुम्हें प्रेमलपेटी लगे। तुम्हें लगे कि यह प्रेमसे बोल रहा है।

सुनि केवटके बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।

वाणी तो अटपटी थी, किन्तु थी प्रेमलपेटी। प्रेम एक चाशनी है। उसमें डूबकर वाणी मधुर हो जाती है। एकने किसीको गाली दी। दूसरेने कहा....'यह आपको गाली दे रहा है !' उसने हँसकर कह दिया....'हमारा इनका सम्बन्ध-व्यवहार ही ऐसा है। यह तो प्रेमसे गाली देते हैं।' दो-चार वार ऐसा कहो तो गाली देनेवाला स्वयं लज्जित हो जायगा। साँभर झीलमें जो भी गिरा वह नमक हो गया। तुम्हारे हृदयमें यदि प्रेमका माधुर्य है तो उसमें जो भी आवेगा, मधुर हो जायगा। जो दूसरोंको दोष देता है वह नासममझ है, अपना हृदय नहीं देखता, नहीं समझता, और यदि अपने हृदयको समझकर दूसरेको दोष देता है तब तो वह धूर्त है।

एक महात्मा कहीं जा रहे थे। एक माताने कहा...'ओ कपटी !'

महात्मा बड़े प्रसन्न हुए। किसीने पूछा 'आप उसकी गाली सुनकर प्रसन्न क्यों हो रहे हैं ?'

महात्मा....'मेरा सच्चा नाम आज ही लिया गया।'

बँगलाकी एक पुस्तक है 'तापसमाला'। उसमें मुसलमान फकीरोंकी जीवनियाँ हैं। उसमें वर्णन है कि एक फकीर नौकामें बैठे नदी पार हो रहे थे। उनका सिर घुटा हुआ था। नौकामें कुछ गुंडे भी थे। उनमें एकने कहा...'इसका घुटा सिर तो जूते बजाने योग्य है।'

एकने जूता मार दिया। फकीरने सह लिया किन्तु ईश्वरको सहन नहीं हुआ। आकाशवाणी हुई....'फकीर ! तू पसन्द करे तो नौका उलटकर इन दुष्टोंको डुबा दूं।'

फकीरने घुटने टेके और हाथ जोड़कर बोला...'मेरे मालिक ! आप उलटना ही चाहते हैं तो नौका क्यों उलटते हैं, इनकी बुद्धि ही उलट दीजिये !'

हुक्का पीनेवाले जानते हैं कि हुक्केकी नलीमें धुआँ बैठता-जमता है। तम्बाकूके धुएँमें दुर्गन्ध होती है। वह दुर्गन्ध हुक्केकी नलीसे निकलती है। इसी प्रकार जिनके हृदयमें प्रेम भरा है, उनके कर्णमें कोई बात प्रवेश करती है तो प्रेमसे सुवासित हो जाती है।

भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते।

(भवभूति)

कल्याणकारी प्रेम सद्भाववालेको ही प्राप्त होता है। भगवान्‌की बड़ी कृपा हो तब किसीको प्रेमकी प्राप्ति होती है।

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।

'वह प्रेम न सुखसे बढ़ता, न दुःखसे घटता। दोनों ही प्रियतमके दिये प्रतीत होते हैं। अतः दरिद्रता-ऐश्वर्य, रोग-स्वास्थ्य, स्वप्न-जाग्रत् सब अवस्थाओंमें प्रेम एक समान रहता है, हृदयको उसीमें विश्राम मिलता है। वार्धक्यसे उसका रस बासी नहीं पड़ता।'

कुछ लोग एक महात्माके दर्शन करने घरसे चौदह मील पैदल चलकर गये और उनको प्रणाम करके जैसे ही बैठे, वैसे ही वे लोटा लेकर शौचके लिए चले गये। भक्तगण उनकी प्रतीक्षा करते बैठे रहे। घण्टे-दो-घण्टे पीछे पता लगा कि वे गंगा-किनारे आगे चले गये, अब आज नहीं लौटेंगे। बेचारे फिर चौदह मील पैदल चलकर घर लौट आये। ऐसी स्थितिमें लोग प्रायः खिन्न हो उठते हैं किन्तु उन्हें तनिक भी बुरा नहीं लगा।

एक महात्माके पास लोग जाते तो वे गाली देकर कहते—'यहाँ क्या कोई दूकान लगी है ! मेरे पास आनेका क्या काम है !'

ईश्वरोपासनापूर्वक वैराग्य होकर जिसे ज्ञान हुआ है उस कृतोपास्तिके जीवनमें ज्ञान होनेपर भी एक माधुर्य बना रहता है। वैराग्यके बिना तो ज्ञान होता नहीं किन्तु जिसे धर्मानुष्ठानके द्वारा बिना ईश्वरोपासनाके ही वैराग्य होकर ज्ञान हुआ है उस अकृतोपास्ति ज्ञानीके जीवनमें माधुर्य नहीं होता। परमहंस रामकृष्ण ज्ञानी थे किन्तु प्रत्येक स्त्रीको देखकर 'माँ! माँ!' कहने लगते। उनमें प्रगाढ़ भक्ति थी।

सुननेमें प्रेम था इसलिए कर्ण मिले। देखने में प्रेम था इसलिए दृष्टि-नेत्र मिले। इसी प्रकार हृदय इसलिए मिला है कि ईश्वरसे प्रेम करना है। यह सृष्टि ही प्रेमसे हुई है। प्रेम है तो सबके हृदयमें किन्तु संसारमें लगकर वह विकृत हो गया है। ईश्वरसे प्रेम होना कठिन है। हो जाय तो उसकी पहचान यह है कि सवत्र प्रेम ही दीखता है, सब बोलियोंमें प्रेम ही सुनायी पडता है। श्रीकृष्णकी द्वारकाकी रानियाँ रातमें चीलकी चीख सुनकर कहती हैं—

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः।
वयमिव सखि कच्चिद् गाढनिर्भिन्नचेता
नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥

(श्रीमद्भाग० १० ९०.१५)

'कुररी! तुम विलाप कर रही हो, तुम्हें नींद नहीं आती क्या? अरे, संसारकी रात्रि आनेपर तो ईश्वर भी अपने ज्ञानको छिपाकर सो जाता है। सखी! क्या हमारी भाँति कमललोचन श्रीकृष्णने अपनी उदार मुस्कानसे लीलाकटाक्षपूर्वक देखकर तुम्हारे हृदयको भी छिन्न-भिन्न कर दिया है? क्या तुम भी कृष्णवियोगिनी हो?'

वे पृथ्वी, समुद्र, पर्वत, कोकिल, हंस—सबको श्रीकृष्णके प्रेममें मग्न देखती हैं। सबकी वाणीमें उन्हें प्रेमका ही स्वर सुनायी पड़ता है।

'तदेव भाषयति'--'प्रेमको प्राप्त करके प्रेमकी वाणी ही बोलता है।' जिनके हृदयमें वासना भरी है वे बोलते हैं तो उनकी वाणीसे वासना निकलती रहती है। प्रत्येकके शरीरसे एक वायु, एक प्रभाव निकलता है। व्यक्ति जैसा है उससे वैसा ही प्रभाव निकलता है। मनमें जब क्रोध आता है तब चित्तमें, शरीरमें क्रोध भर जाता है और वाणीसे क्रोध ही निकलता है। ऐसे ही जब हृदयमें प्रेम आता है तब व णीसे प्रेम ही व्यक्त होता है।

प्रेममें पकड़ है, त्याग नहीं है। भगवान्‌को पकड़ना आता है, छोड़ना नहीं। हृदयमें प्रेम आया तो वह प्रत्येक वस्तुमें, प्रत्येक चेष्टामें प्रेम ही पकड़ता है। कोई कुछ भी बोले, वह दूसरेकी वाणीमें प्रेम ही सुनता है और प्रेम ही बोलता है--**धोखेहु दूसरो नाम कढ़ै रसना मुख काढ़ि हलाहल बोरौं।**

एक साधु-सम्मेलनमें एक महात्मा बहुत कटु बातें कहने लगे। एक महात्माने उनसे कहा--'स्वामीजी! आप मेरी एक सलाह मानें। जेबमें शहदकी शीशी रखा करें। बोलना हो तो बूँद-दो बुँद जिह्वापर डाल लिया करें जिससे मुखसे शब्द तो मीठे निकलें। मीठा बोलनेमें भला क्या व्यय होता है!' यह शहदकी शीशी प्रेम है। जिसके हृदयमें यह आ गया उसकी वाणी प्रेममें डूबी निकलती है।

'तदेव चिन्तयति'--प्रेमको पाकर उसीका चिन्तन करता है। चिन्तनके चार भाग होते हैं--संकल्प, विकल्प, विचार तथा अहंकार। जिसे प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है वह प्रियतमके सम्बन्धमें ही संकल्प करता है--'उनसे मिलना है। उनकी सेवाके लिए पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्यादि एकत्र करने हैं।' वह विकल्प भी उन्हींके सम्बन्धमें करता है-

कारन कवन नाथ नहिं आये।
जानि कुटिल किधौं मोहि बिसराये॥

उसका संकल्प-विकल्प करनेवाला मन ही नहीं, बुद्धि भी उस प्रेमास्पदमें ही लगती है। उसके मिलनके उपाय, उसके स्वरूप-स्वभाव आदिका ही वह विचार करती है और उसका अहंकार भी यही होता है कि 'हम उनके हैं'

अस अभिमान जाइ जनि मोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे।।

केवल यही नहीं कि 'हम उनके हैं', यह भी कि 'वे हमारे हैं।' प्रेमी उनपर अपना स्वत्व मानता है। 'हम उनके हैं' यह तो 'तदीयता' है, और वे मेरे हैं यह 'मदीयता' है। श्रीराधा कहती हैं--**सखि, नँदलाल न आवन पावैं**। कितना स्वत्व, कितना अपनत्व है कि 'वे हमारे होकर औरोंके पास जाते हैं!'

एकाङ्गी प्रेममें प्रीति परिपूर्ण नहीं होती। दोनोंके हृदयमें प्रेम हो तब प्रीति परिपूर्ण होती है। चातकके प्रेमकी प्रशंसा चाहे जितनी की जाय किन्तु मेघ तो चातकसे प्रेम करता नहीं। अतः यहाँ प्रेमकी परिपूर्णता नहीं है।

जो बिखरी वस्तुओंको एकत्र कर दे उसे स्नेह कहते हैं। जो दो हृदयोंको एक करे वह प्रेम है। प्रेम स्वारसिक होता है। स्वरस जैसे घी न मीठा होता, न नमकीन, जैसी वस्तुमें मिलाओ वैसा हो जाता है। चीनी स्वयं मीठी है। इसी प्रकार प्रेम स्वतः रसमय है। उसमें किसी अन्य विषयके मिलनेपर माधुर्य आवे, ऐसा नहीं है। प्रेममें प्रियतमसे माधुर्य प्रियतमको मधुर बनाता है। प्रेमकी गति बड़ी वक्र है—

प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरा तेनैव विक्रान्तयः।
पीडाभिर्नवकालकूटक्वथितेर्गर्वस्य निर्वापणो
निस्यन्देन सदा सुधामधुरिमाहङ्कारसङ्कोचतः।।

(श्री रूपगोस्वामी)

गोपी कहती है 'सखी! नन्दनन्दनका प्रेम जिसके हृदयमें जागता है वही इस प्रेमके वक्र-मधुर पराक्रमको जानता है। यह प्रेम पीड़ा इतनी देता है कि कालकूट विषके क्वाथका भी गर्व चूर हो जाय और साथ ही उससे नित्य ऐसी माधुरी झरती है कि अमृत भी उसके सम्मुख तुच्छ है।'

जो संसारकी क्रिया, वस्तु, शब्दको देखते-परखते हैं वे प्रेमको क्या समझें। जिसके हृदयमें प्रेम आता है वही इसकी वक्रताकी मधुरिमा समझ पाता है।

× × ×

अब प्रेमके सिद्ध स्वरूपका वर्णन समाप्त होकर आगे साधनका--गौणी भक्तिका वर्णन प्रारम्भ हो रहा है। अतः इस प्रसंगका एक बार सिंहावलोकन कर लेना अच्छा होगा।

देवर्षिने प्रेमलक्षणा भक्तिका निरूपण करते हुए कहा कि वह प्रेम किसी पात्रमें प्रकाशित होता है। प्रेमी गुण देखकर प्रेम नहीं करता क्योंकि उसमें कामना नहीं होती, इसलिए उसका प्रेम टूटता भी नहीं। प्रेम सूक्ष्मतर तथा अनुभवस्वरूप है।

जिसे प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है वह प्रेमका स्वरूप बन जाता है, यह 'तत्प्राप्य तदेवावलोकयति' आदि पूरे सूत्रका अभिप्राय है। प्रियतम और प्रेमी दोनों अमृतस्वरूप हैं। प्रेम में क्षण-क्षण अभिवृद्धि होती है। उसमें प्यास कभी तृप्त नहीं होती—

अन्तो नास्ति पिपासायाः।

मेरी अँखियाँ प्यासी हो।
जनम अवधि हम रूप निहारेन नयन न तिरपित भेल।

(विद्यापति)

इस श्यामामृतरूपी प्रीतिकी विशेषता यह है कि--

सदा एकरस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटि कलप बीतत नहिं जानत बिहरत जुगल सरूप॥

श्रीराधाकृष्णके विहारमें कालपरिच्छेदसे जो देरी आती है उसे वे नहीं जानते। 'आदि'—वे सर्वकारणकारण हैं। 'अनादि'-- उनका कोई कारण नहीं है। श्रीराधा-कृष्ण ये प्रेमके ही दो रूप हैं। ये दो तत्त्व नहीं हैं। इनमें कर्ममूलक परिपाक नहीं, प्रकृति नहीं, परमाणु नहीं, जगत् नहीं। यह तो भगवान्के स्वरूपभूत आह्लादका सहज विलास है—**ब्रह्मणि ब्रह्म जृम्भते।**

प्रेम जहाँ एकांगी होता है वहाँ आनन्दका परिपाक नहीं होता। चातक, कमल, मीन--इनमें वियोगकी तड़पन तो है किन्तु रसका उल्लास नहीं है। श्रीराधाकृष्णमें प्रेम पूर्ण है। चक्रवाकका प्रेम वियोगका प्रेम है और कमलका प्रेम संयोगका, किन्तु जो संयोगसे या वियोगसे घटे-बढ़े वह प्रेम सच्चा प्रेम नहीं है। संयोग-वियोग देशमें तथा कालमें होते हैं। प्रेम देश-कालसे अपरिच्छिन्न है। अतः प्रेमकी पूर्णता वहाँ है जहाँ प्रेमी और प्रियतम दोनोंके हृदयमें प्रेम हो, जहाँ प्रेमी और प्रियतम एक दूसरेके ध्यानमें तदाकार हो जाते हों।

एक समय युगल सरकार एकान्तमें अपने नित्यधामके निभृत-निकुञ्जमें विराजमान थे। वैष्णवाचार्योंने नित्यधामका वर्णन करते हुए कहा है—

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं ब्रह्म तूर्यं वैकुण्ठाख्यं द्वारका जन्मभूमिः।

यह स्थूल जगत् है। इससे सूक्ष्म जगत्-स्वर्ग लोकादि परे हैं। उससे परे कारणजगत् प्रकृति है। इन सबसे परे तुरीयतत्त्व जो ब्रह्म है वही वैकुण्ठ कहलाता है। वैकुण्ठसे परे द्वारका और द्वारकासे परे माथुर-मण्डलमें व्रज, व्रजमें वृन्दावन, वृन्दावनमें कुञ्ज, कुञ्जसे भी अन्तरंग स्थल है निकुञ्ज, उससे भी अन्तरंग है निभृत-निकुञ्ज।

वात्सल्यरसकी लीला ग्राममें होती है। सख्यरसकी लीला ग्राम तथा वन दोनों स्थानोंमें होती है। माधुर्यरसकी लीला ग्राम,

वन तथा कुञ्जमें चलती है। कुञ्जमें जो लीला होती है उसमें सब सखियाँ सम्मिलित रहती हैं। निकुञ्जमें श्रीराधा-कृष्णकी सेवामें केवल प्रधान अष्टसखियाँ ही प्रवेश पाती हैं। निभृत-निकुञ्जमें युगल सरकार ही रहते हैं। वहाँ किसी सखीका प्रवेश नहीं है। उसकी एक और विशेषता है—**मान बिरह भ्रमकौ न लेस जहाँ।**

यह वर्णन किसलिए आचार्योंने किया? 'तदेव चिन्तयति'—उसीका चिन्तन करनेके लिए। यह चिन्तन अखण्ड चलता है। निद्रामें भी वह बन्द नहीं होता। घरपर मेरे एक मित्र आये। मैंने उन्हें जागतेमें कभी भगवन्नाम लेते नहीं सुना था। हम दोनों एक ही चारपाईपर सो गये। निद्रामें जब उनके श्वासकी गति बढ़ी तो उससे स्पष्ट 'ॐ नमः शिवाय' सुनायी पड़ने लगा।

एक बार गोलोकमें बड़े-बड़े देवता श्रीकृष्णका दर्शन करने आये। श्रीकृष्ण सो रहे थे और उनके रोम-रोमसे 'राधा-राधा' निकल रहा था। श्रीराधाने यह देखा तो सोचा 'इतना अपार प्रेम है इनका मुझसे!' वे 'कृष्ण-कृष्ण' कहती हुई प्रेमावेशमें मूर्च्छित हो गयीं। श्रीकृष्ण जागे और उन्होंने देखा कि पियाजीके रोम-रोमसे कृष्ण नाम निकल रहा है तो उन्हें अंकमें ले लिया और 'राधे-राधे' बोलते मूर्च्छित हो गये प्रेममें। यह क्रम देरतक चलता रहा। एक चैतन्य हो और दूसरेका प्रेम देखे तो मूर्च्छित हो जाय। दूसरा चैतन्य हो तो उसकी भी वही दशा हो। बहुत देर हो गयी तो ललिताजी निकुञ्जमें आयीं। उन्होंने यह अवस्था देखी तो चकित रह गयीं **अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापम्।**

संयोगमें वियोगका यह अद्भुत संवेदन! बात यह है कि श्रीराधा दो तो हैं नहीं। ये भावकी अभिव्यक्ति हैं। प्रेम का ही दो रूप हो गया है।

तात्पर्य यह है कि जिसे प्रेम प्राप्त होता है उसे एकाङ्गी--केवल वियोगात्मक अथवा संयोगात्मक प्रेम नहीं मिलता। प्रेमका सामरस्य, सामञ्जस्य, ऐकरस्य प्रेमी-प्रियतम दोनोंके एक हुए बिना नहीं होता।

'तत्प्राप्य तदेवावलोकयति'--ऐसे प्रेमको प्राप्त करके प्रेमीकी वैसी ही दशा होती है जैसा ब्रह्मज्ञानीका वर्णन है--

देहाभिमाने गलिते बुद्धात्मपरमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

'देहाभिमान नष्ट हो गया, अपने आत्माको परमात्मासे अभिन्न जान लिया, तब जहाँ-जहाँ मन जाता है वहाँ-वहाँ समाधि ही है।'

अथवा जैसा मुमुक्षुके लिए निदिध्यासन कहा गया है--

यद् यत् पश्यति चक्षुर्भ्यां तत् तदात्मैव भावयेत्।
यद् यच्छृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मैव भावयेत्॥

'जो कुछ नेत्रोंसे देखे उसमें यही भाव करे कि--यह मैं आत्मा हूं। जो कुछ शब्द कानोंसे सुने उसमें भी आत्मभावना ही करे।' इसी प्रकार प्रेमी सर्वत्र प्रियतमको ही देखता है--जहाँ देखता हूं वहीं तू ही तू हैं।

वह प्रियतम अच्छे स्थानपर दीखता है, बुरे स्थानपर नहीं दीखता, अथवा उसे बुरे स्थानपर नहीं देखना चाहिए, यह बात नहीं है। स्थान कोई अच्छा या बुरा नहीं होता। अच्छो-बुरी तो दृष्टि होतो है। जिसकी दृष्टि अच्छी है उसे सब स्थान अच्छे दीखते हैं। जिसकी दृष्टि बुरी है उसे सब स्थान बुरे ही दीखते हैं।

उद्धवजी श्रीकृष्णका सन्देश लेकर मथुरासे व्रज आये। एक गोपीसे उन्होंने कहा--'तू कुछ प्रत्याहार कर। मनको ब्रह्म-चिन्तनमें लगा तो तेरा दुःख मिटे।' गोपी बोली--

नाहिन रह्यो हियमैं ठौर।
नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और।

दूसरी गोपीके समीप जाकर उद्धवने कहा—'श्याम तुझे छोड़कर चले गये तो तू कुछ धारणा-ध्यान कर जिससे वे भूलें और चित्त शान्त हो।' उसने कहा--

ऊधो, मन न भये दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सँग, को आराधै ईस ॥

उद्धव तीसरी गोपीके पास पहुँचे और बोले--'तू श्रीकृष्णके वियोगमें बहुत दुखी है.......।'

उनकी बात पूरी होनेसे पहले ही गोपीने रोक दिया--'उद्धवजी ! आपको किसने बहका दिया कि मैं दुखी हूँ ? मेरे श्यामसुन्दर कहीं चले गये हैं, यह भ्रम आपको कैसे हुआ ? अरे मैं तो--
जित देखौं तित स्याममयी है !

चिन्तनकी यह अवस्था है कि एकके मनमें श्रीकृष्ण ऐसे बसे हैं कि दूसरेके लिए स्थान ही नहीं है। दूसरीका मन ही अपने पास नहीं। वह श्यामके संग चला गया। तीसरी जहाँ देखती है वहीं उसे श्याम दीखते हैं। एकका मन श्याम बन गया, एक अमना हो गयी और एकके लिए सम्पूर्ण जगत् श्याममय हो गया।

एक दिन व्रजमें गोचारण करते हुए श्रीकृष्ण गिरिराज गोवर्धनकी एक शिलापर बैठ गये। कोई सखा समीप नहीं था। 'राधा-राधा' कहने लगे। नेत्र बन्द हो गये। ध्यान लग गया। थोड़ी देरमें नेत्र खुले तो देखते क्या हैं कि सामने श्रीराधा खड़ी हैं। चौंके--'कोई दूसरा देख तो नहीं रहा है !' दृष्टि पीछे की तो वहाँ भी श्रीराधा दीखीं।

राधा पुरः स्फुरति पश्चिमतश्च राधा
राधाधिसव्यमिह दक्षिणतश्च राधा।
राधा खलु क्षितितले गगने च राधा
राधामयी मम बभूव कुतस्त्रिलोकी ॥

जिधर दृष्टि गयी उधर श्रीराधा ही दीख पड़ीं। बोले--'सामने भी राधा दीखती हैं और पीछे भी वही। बायें भी राधाको देखता हूँ, दाहिने भी। पृथ्वीतलपर भी मुझे राधा दीख रही हैं, आकाशमें भी। यह मेरे लिए त्रिलोकी राधामय कैसे हो गयी!'

महाकवि श्रीजयदेवने गीत-गोविन्दमें श्रीराधाकी अवस्थाका वर्णन करते हुए कहा है--

पतति पतत्रे विचलति पत्रे शङ्कितभवदुपयानम्।
रचयति शयनं सचकितनयनं पश्यति तव पन्थानम्॥

पत्तेके टूटनेसे, हिलनेसे, पक्षीके उड़नेसे, पशुके दौड़नेसे यही लगता है कि वे आ रहे हैं। प्रत्येक शब्दमें प्रेमीको प्रियतमकी पदध्वनि ही सुनायी पड़ती है।

प्रेमी बोलते हैं तो उसी प्रेष्ठका नाम लेते, उसीकी चर्चा करते हैं। दूसरोंकी कौन कहे, निर्गुण ब्रह्ममें परिनिष्ठ आत्माराम महामुनीन्द्र भी बोलते हैं तो उस सगुणकी ही चर्चा करते हैं। श्रीशुकदेवजी कहते हैं--

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥

(श्रीमद्भाग० २.१.९)

'राजर्षि परीक्षित! मेरी निर्गुणमें दृढ़ निष्ठा है किन्तु करूँ क्या, उत्तमश्लोक भगवान्‌की लीला-चरितने मेरे चित्तको पकड़ लिया, इससे विवश होकर मैंने श्रीमद्भागवतका अध्ययन किया।'

प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥

(श्रीमद्भाग० २.१.७)

'यह कोई अकेली मेरी बात नहीं है। राजन्! प्रायः निर्गुण-तत्त्वमें स्थित एवं विधि-निषेधसे परे हो गये मुनिगण भी श्रीहरिके गुण-कथनमें रमन्ते-आनन्द मानते हैं।'

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः !

'जो त्रिगुणोंसे परे हो गये हैं उनके लिए न कोई विधि है, न कोई निषेध !' अब कोई कहे कि ऐसे ब्रह्मज्ञानीके लिए भक्ति करनेका विधान कहाँ है ? तो कहना पड़ेगा कि यदि उसके लिए भक्ति करनेका विधान नहीं है तो वह भक्ति न करे ऐसा निषेध भी कहाँ है ? जिसने कर्ताको ही भस्म करके उसकी राख शरीरमें लपेट ली, उसे विधि-निषेध कौन बतलावेगा !

माया माया कथं तात मायाच्छाया न विद्यते ।

इस अवस्थाको प्राप्त करके भी प्रायः मुनिगण भगवान्‌के गुणोंका गान करते हैं; क्योंकि **इत्थम्भूतगुणो हरिः**--'भगवान्‌के गुणोंकी यही विशेषता है ।' भगवान्‌का प्रेम हृदयमें आ जानेपर तो सर्वत्र भगवान् ही भगवान् दीखते हैं--

सरग नरक अपबरग समाना । जहँ तहँ दीख धरे धनु बाना ।।

प्रियतममें गुणावगुणकी चिन्ता न हो और अपनेमें भोगकी कामना न रह जाय तब प्रेम परिपूर्ण होता है ।

सम्यङ्मसृणितस्वान्तः ममत्वातिशयाङ्कितः ।

हृदय भलीप्रकार कोमल हो जाय और उसपर ममताकी मुहर लग जाय—'मैं उसका हूं, वह मेरा है ।' फिर—

असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा
गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा ।
द्वेषी मयि स्याद् करुणाम्बुधिर्वा
कृष्णः स एवाद्य गतिर्ममास्ति ।।

'वह कुरूप हो या सौन्दर्य-चक्र-चूड़ामणि, सर्वथा गुणरहित हो या गुणवानोंमें सर्वश्रेष्ठ, मुझसे द्वेष करे या मेरे लिए दयाका समुद्र बन जाय--कुछ भी हो, मेरी गति तो श्रीकृष्ण ही है ।'

आश्लिष्य मां पादरतां पिनष्टु वा
ह्यदर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।

यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ।।

'वह वञ्चक अपने चरणोंमें लगी हुई मुझको कठोर आलिंगनमें लेकर दबा दे अथवा अपना दर्शन न देकर मुझे मर्मान्तक पीड़ा दे। वह चाहे जैसा व्यवहार करे, मेरा प्राणसर्वस्व तो वही है, कोई दूसरा नहीं।'

प्रेमकी इस प्राप्तिमें प्रेमी एवं प्रियतमका पार्थक्य सर्वथा लुप्त हो जाता है—

प्रान भये कान्हमय कान्ह भये प्रानमय।
हियमैं न जानि परै कान्ह हैं कि प्रान हैं।।

•

गौणी भक्तिके तीन भेद

• संगति

सामान्य रूपसे साधारण साधक प्रेमके इस वर्णनको पढ़-सुनकर कहेगा--यह तो प्रेमका बड़ा गम्भीर स्वरूप है। ऐसा प्रेम हमारे जीवनमें आना बहुत ही कठिन है। हम तो सामान्य जीव हैं। इतनी ऊँची बात हमारे जीवनमें आना कैसे सम्भव है?'

सोचनेकी यह रीति ठीक नहीं है। एक बार मैं एक महात्माके समीप गया। उन्होंने मुझे कुछ योगकी क्रिया बतायी। मेरी अवस्था उस समय १८-१९ वर्षकी रही होगी। मैंने कहा--'यह सब तो बहुत कठिन है। यह मुझसे नहीं होगा।'

वे बोले—'तुम ब्राह्मण हो। विद्या प्राप्त की है तुमने। समझदार हो और सन्ध्या-वन्दन भी करते हो। युवा हो, सशक्त हो। ईश्वरके मार्गमें चलनेके इच्छुक भी हो। अब यदि तुम यह साधन नहीं कर सकते तो क्या पशु इसे करेंगे?'

साधारण कार्य तो सब कर लेते हैं। वीर वे हैं जिन्हें कठिनाई देखकर उत्साह होता है, आनन्द आता है।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमगुणा न परित्यजन्ति॥

'नीच पुरुष तो कोई श्रेष्ठ कार्य इस भयसे प्रारम्भ ही नहीं करते कि उसमें विघ्न-बाधा आनेका डर है। मध्यम कोटिके पुरुष कार्य प्रारम्भ तो करते हैं पर कोई बड़ा विघ्न आजाय तो बीचमें ही छोड़ देते हैं; किन्तु उत्तम पुरुष वे हैं जो कोटि-कोटि विघ्नोंके

बार-बार आनेपर भी आरम्भ किये हुए कार्यको पूर्ण किये बिना नहीं छोड़ते।'

पहले महात्मा लोग बद्रीनाथकी यात्रा करते थे। घोर जंगल था। न सड़क थी, न चट्टियाँ, न धर्मशाला। मार्गमें शेर या रीछ मिलते तो दाहिने-बायें हट जाते अथवा लेट जाते। जो कठिनाई देखकर पीछे भाग जाते हैं वे वीर नहीं हैं।

भक्तिमार्गमें निष्ठा चाहिए। निष्ठा दूरको निकट और दुर्गमको सुगम बना देती है। निष्ठामें अनन्त सामर्थ्य है। जो जीवनमें जोखिम उठानेको प्रस्तुत नहीं वह लाभ नहीं उठा सकता। जो घाटेके भयसे व्यापारमें पाँच हजार लगा नहीं सकता, वह उतनेमें ही रह जायगा। जो खतरा उठावेगा, लाभ उसीका स्वत्व बनेगा।

मार्ग कठिन है--अरे भाई, चलनेवालेके लिए कोई मार्ग कठिन नहीं है। सायकिल चलानेका अभ्यास अनेकोंको कठिन लगता है; किन्तु अभ्यास करनेपर बच्चे भी दोनों हाथ छोड़कर सायकिल दौड़ा लेते हैं। भक्तिका मार्ग चलनेवालेके लिए सरल है।

जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूंढ़न गयी, रही किनारे बैठ॥

भक्तिको कठिन मत समझो। बस, एक पगली छलाँग लगानेको आवश्यकता है। अब यदि कोई कहे--'हमारे मनमें तो अभी राग-द्वेष भरा है, संसारकी कामनाएँ भरी हैं, हम भक्ति कैसे करेंगे?' तो यह प्रश्न ही असंगत है। भक्ति अपनी ओर देखकर नहीं, भगवान्‌की ओर देखकर की जाती है। भगवान्‌में अनन्त दया, अपार करुणा देखकर उनके प्रति भक्ति होती है। हमारे भीतर सहस्र-सहस्र अवगुण भरे हों तो इससे भक्तिमें क्या बाधा है?

साधारण मनुष्य, जिसके मनमें राग-द्वेष तथा कामना है, भक्ति कैसे करे? अरे, तुम्हें किसीसे द्वेष है, कुछ पाना है, कुछ कष्ट विपत्ति मिटाना है--यही तो है! इनके लिए स्वयं प्रयत्नमें मत

लगो। इनकी पूर्तिके लिए भगवान्से प्रार्थना करो। यहाँसे भक्ति प्रारम्भ हो जायगी। यह गौणी भक्ति होगी। इस गौणी भक्तिका अब निरूपण करते हैं।

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा ॥ ५६ ॥

गौणी भक्ति गुणों (सत्त्व, रज, तम) के भेदसे अथवा आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थीके भेदसे तीन प्रकार की होती है ॥ ५६ ॥

तुम्हें शत्रुके प्रति बहुत द्वेष है। भगवान्से प्रार्थना करो शत्रु के नष्ट होनेके लिए। यह तामस भक्ति होगी। पर भगवान्से प्रार्थना करोगे, भगवान्के गुणोंका चिन्तन करोगे तो चित्तसे द्वेष मिट जायगा। भगवान् स्मरण आने लगेंगे तो शत्रु भूल जायगा।

तुम्हारी कोई कामना है, तुम कुछ पाना चाहते हो। अपनी कामनाकी पूर्तिके लिए भगवान्से प्रार्थना करो। सुख-प्राप्तिकी कामनासे होनेवाली यह भक्ति राजस-रजोगुणी भक्ति है।

सुखकी इच्छासे भक्ति करने लगोगे तो फिर भगवान्की सेवा करनेकी इच्छा होगी। यह सात्त्विक भक्ति हो जायगी। सेवा करने लगोगे तो उसीके हो जाओगे। यह प्रेमा भक्ति हो गयी।

पूर्वभूमौ कृता भक्तिरुत्तरां भूमिमानयेत्।

'पूर्व भूमिकामें की गयी भक्ति उत्तर भूमिकामें स्वतः ले जाती है।' भक्तिमें अपने बलपर नहीं चलना होता। आगे बढ़नेका काम तो परमात्मा करता है। तुम्हारे पास दोषोंका कोष है तो उसे लेकर प्रभुके पास जाओ। उसीने तुम्हें मनुष्य शरीर दिया है! वही दोषोंको दूर करेगा और अपना प्रेम देगा। योग 'त्वं' पदार्थ-प्रधान है। उसमें स्वयं साधना करना है। भक्ति 'तत्'पदार्थ-प्रधान है। उसमें सब कुछ भगवान् करते हैं!

'गुणभेदात्'—तुममें तमोगुण अधिक है, तुम तमोगुणी भक्ति करो। निद्रा अधिक आती है? यह सोचकर सोओ कि भगवान्के

चरणोंमें सिर रखकर सो रहा हूं। उठनेपर स्मरण कर लो कि मैं प्रभुके चरणोंपर मस्तक रखकर सोया था। लो, तुम्हारी निद्रा भक्ति हो गयी।

तुमको संसारके भोग प्रिय हैं? तुममें रजोगुण बहुत है? देखो कि यह भोग भगवान् दे रहे हैं। राजसी भक्ति हो गयी। भोगमें भगवान् दीखने लगेंगे। भक्तिका विषय भगवान्को बनाना है, किसी भी निमित्तसे भगवान्में मन ले जाना है।

'गुणभेदात्'--जो गुण तुममें है उसीसे भगवान्की आराधना करो। तुमको गायन-वादन-नृत्य आता है तो भगवान्के सम्मुख--भगवान्के मन्दिरमें गाओ, बजाओ, नाचो।

एक सज्जन एक महात्माके समीप गये और बोले--'मुझमें तो कोई गुण नहीं है। मैं भगवान्की सेवा कैसे करूं?'

महात्माने पूछा--'तुम झूठ बोल सकते हो?'

उन्होंने स्वीकार किया कि झूठ तो बोल ही सकते हैं। महात्मा बोले...'तुममें झठ बोलनेका एक गुण तो है! अब अपनेको भगवान् श्रीरामके दरबारका विदूषक (भाँड़) बना लो। झूठ बोल-बोलकर उन्हें हँसाओ।'

फल यह हुआ कि झूठ तो उनसे थोड़े समयमें छूट गया और भगवान्की भक्ति आ गयी। **आन्त्ययोनिरधिक्रियते**--भक्तिमें अन्तिमसे अन्तिम – नीचतम योनिका, स्वभावका व्यक्ति भी अधिकारी है। पापी, दोषी, सबका भक्तिमें अधिकार है। इसमें षट्सम्पत्ति अथवा समाधिकी आवश्यकता नहीं है। वह तो भक्ति आनेपर स्वयं आती है। गुण तो भक्तिके पीछे चलते हैं।

'आर्तादिभेदात्'....गीतामें भगवान्ने चार प्रकारके भक्त बतलाये हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ (गीता ७.१६)

'चार प्रकारके लोग मेरा भजन करते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।' इनमें-से ज्ञानीकी भक्ति तो निर्गुण भक्ति है। अतः यहाँ त्रिधा गौणीभक्तिमें आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थीकी भक्तिको ही लिया गया है।

भक्तने कहा--'प्रभु! मुझे तो कुछ चाहिए नहीं। आपकी जो इच्छा हो वह करें।'

भगवान् बोले--'स्वयं तो तुम निर्वासन बन गये और मुझे इच्छावान् बनाते हो? अच्छा, मुझमें भी कोई इच्छा नहीं है।'

फल यह हुआ कि भक्त-भगवान् दोनों एक हो गये। यह निर्गुणा भक्ति--ज्ञानीकी भक्तिका उदय हुआ।

गुणभेदसे गौणी भक्तिके तीन भेद होते हैं। जो सात्त्विक पुरुष हैं उन्हें चित्तकी शान्ति प्रिय होती है। इसलिए अनित्य संसारसे चित्त हटाकर उसे वे नित्यवस्तुमें लगाना चाहते हैं। चित्त संसारकी नाशवान् वस्तुमें लगेगा तो अशान्ति स्वाभाविक हो जायगी। ये सात्त्विक पुरुष सबसे सद्व्यवहार तो करते हैं किन्तु प्रीति भगवान्से ही करते हैं। ये विषयोंसे न तो राग या मोह करते, न द्वेष। ये अपनी प्रीति पूर्णरूपेण भगवान्से ही जोड़ते हैं।

गौणीभक्ति में

पूर्व-पूर्वकी श्रेष्ठता

• संगति

गुणभेद अथवा आर्तादिभेदसे होनेवाली भक्ति मुख्य भक्ति तो है नहीं। भक्तिके ये रूप गौण–साधनात्मक हैं। तब इनमें तारतम्य भी होना चाहिए। वह तारतम्य अब बतलाते हैं।

उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति ॥५७॥

(गौणी भक्तिमें) उत्तर-उत्तर क्रमकी अपेक्षा पूर्व-पूर्व क्रमकी (भक्ति) कल्याण करनेवाली होती है ॥ ५७ ॥

सात्त्विक-राजस-तामस गुणोंके भेदसे होनेवाली भक्तिमें तामसकी अपेक्षा राजस एवं राजसकी अपेक्षा सात्त्विक भक्ति अधिक कल्याणकारिणी है, यह बात सरलतासे समझमें आ जाती है।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी इनमें-से अर्थार्थी–धनके लिए किसी सांसारिक भोगकी प्राप्तिके लिए जो भक्ति करता है उसकी अपेक्षा जिज्ञासु भक्त श्रेष्ठ भक्त है। अथार्थीको तो संसारसे, धनसे, भोगसे प्रेम है, किन्तु जिज्ञासु तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए भक्ति करता है। अतः अर्थार्थी बहिर्मुख है, जिज्ञासु अन्तर्मुख। जिज्ञासु तो ज्ञान होनेपर भक्ति करेगा नहीं और भगवान्‌के स्वरूपमें वह आस्थावान् नहीं है, ईश्वर है या नहीं और है तो कैसा है, इस खोजमें लगा है। इस जिज्ञासुकी अपेक्षा आर्त श्रेष्ठ है। आर्तकी भक्तिमें 'ईश्वर है और वह सहायता करता है' ऐसा पूरा विश्वास है।

वृन्दावनके कोकिल साईं श्रीमद्भागवतके रास-प्रसंगकी व्याख्यामें गोपियोंमें ही आर्तादि चारों प्रकारकी भक्तिके लक्षण वर्णन करते थे। वे कहते थे....'गोपियाँ वंशीध्वनि सुनकर घर-द्वार छोड़कर श्रीकृष्णके समीप पहुँचीं। वहाँ श्रीकृष्णने उन्हें घर लौट जानेको कहा तो वे आर्त हो गयीं। उसके पश्चात् भगवान्ने हँसकर उनके साथ रासक्रीड़ा प्रारम्भ की। रासमें गोपियोंमें अभिमान आया और श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये। गोपियाँ व्याकुल होकर उन्हें ढूँढ़ने लगीं। यह उनकी अर्थार्थी-व्यवस्था है। उनके अर्थ श्रीकृष्ण ही हैं। भगवान्के फिर प्रकट होनेपर उन्होंने प्रेम करनेवालेके स्वरूपके सम्बन्धमें प्रश्न किया। यह जिज्ञासुका रूप है। इसके अनन्तर वे भगवान्के साथ मिलकर रासमें लग गयीं - ज्ञानी भक्त हो गयीं; क्योंकि संयोगमें श्रीकृष्णका प्रत्यक्ष ज्ञान उन्हें हो रहा है।'

जो सेवक पेन्शन पानेके लिए, वेतन लेकर अपने परिवारका भरण-पोषण करनेके लिए सेवा कर रहा है, उसका प्रेम तो पेन्शनमें, परिवारमें है। उसकी सेवा अर्थके लिए है। अर्थार्थी भक्ति भी ऐसी ही है।

इस अथार्थीकी अपेक्षा, जिज्ञासु श्रेष्ठ है। वह भगवान्को जानना चाहता है। संसार तथा संसारके विषयोंके प्रति उसमें वैराग्य है। भक्ति उसका साधन है, साध्य नहीं। मुक्त होनेके पश्चात् तो वह भक्ति करेगा नहीं। अतः जिज्ञासुकी भक्ति भी सर्वश्रेष्ठ नहीं है।

जिज्ञासुसे आर्तकी भक्ति श्रेष्ठ है। सच्चा आर्त वह है जिसके हृदयमें भगवान्की प्राप्तिके लिए तीव्र व्याकुलता, अत्यन्त पीड़ा है --

ऐसेहि जनम-समूह सिराने।
प्राननाथ रघुपति सों पति तजि सेवत पुरुष बिराने॥

श्रीरामभद्र, कौसल्यानन्दवर्धन, लक्ष्मणाग्रज, सीतापति अयोध्यानाथ ही जीवके सच्चे पति हैं। वे अभीतक हमें मिले नहीं। यह सोचते हैं तो हृदय व्याकुल हो जाता है।

समयपर जब भोजन नहीं मिलता और दो-चार घण्टेकी देर हो जाती है तो कितनी व्याकुलता होती है! अपना पुत्र समयपर पाठशालासे घर न पहुँचे--घण्टे भरकी देर हो जाय तो माता-पिताके मनकी क्या अवस्था होती है! कोई अत्यन्त प्रिय मित्र या सम्बन्धी आनेवाला हो और समयपर न आवे तो चित्त कैसा हो जाता है! किन्तु जो अपना सर्वस्व है, प्राणोंका प्राण है, उसके लिए प्राण तड़पते नहीं। यह हमारे चित्त की क्या अवस्था है! ईश्वरकी प्राप्तिके लिए जीवमें यह व्याकुलता आवश्यक है।

'भगवान् तो पहलेसे ही प्राप्त हैं' यह मानकर जो बैठा रहेगा उसके चित्तका निर्माण नहीं होगा। व्याकुलताके बिना चित्त द्रवित नहीं होता। जबतक चित्त द्रवित न हो तबतक उसमें पूर्वकी वासना-ग्रन्थियाँ बनी रहती हैं। इसलिए हृदयमें भगवत्प्राप्तिके लिए व्याकुलता--आर्ति आनी चाहिए।

हे देव! हे दयित! हे भुवनैकबन्धो!
हे कृष्ण! हे चपल! हे करुणैकसिन्धो!
हे नाथ! हे रमण! हे नयनाभिराम!
हा हा! कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे?

भगवान् क्या कहीं चले गये हैं कि इस प्रकार क्रन्दन किया जाय! यह ठीक है, भगवान् कहीं चले नहीं गये हैं, पर क्या तुम्हें उनका अनुभव होता है? तुम पुत्रके लिए, स्त्रीके लिए, धनके लिए, परिवारके लिए, शरीर-पद-मानके लिए बहुत रोये हो। इस सब रुदनका प्रायश्चित यही है कि अब तुम्हें ईश्वरके लिए रोना है। ईश्वरके लिए रोओ तो पहले संसारके लिए रोकर जो भूल तुमने की है उसका दोष मिटे।

श्रीरामानुजाचार्य ईश्वरके लिए रुदनको 'ताप' नाम देते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायमें इसे व्याकुलता कहा जाता है। श्रीवल्लभाचार्यजीने इसको निःसन्देह और श्रीशंकराचार्यने इसीको मुमुक्षा कहा है। वृन्दावनके प्रेमीजन इसे लालसा कहते हैं। इसीसे आर्तिभक्ति बनती है।

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्‌गदं
प्रोत्कण्ठ उद्‌गायति रौति नृत्यति॥
(श्रीमद्भा० ७.७.३४)

'किसी दूसरेसे जिनकी तुलना न की जा सके ऐसे भगवान्‌के गुणोंको तथा उनके अवतार-चरितोंको सुनकर जब अत्यन्त आनन्दसे शरीर रोमाञ्चित हो जाता है, नेत्रोंसे अश्रु गिरते हैं, कण्ठ गद्‌गद हो जाता है, कभी जोरसे गाता है, कभी रोता है, कभी नाचने लगता है तब यह भक्ति उसके हृदयमें विराजती है।'

आप अपने घरमें बैठे हैं। चित्तमें घर, दूकान, कार्यालय, धन, मित्र, पुत्र, स्त्री, सेवक, शत्रु, सम्मान आदि बारी-बारीसे आते हैं। स्मरणकी धारा चल रही है। प्रेम तो यही रहेगा जो आपका घर, व्यापार, स्त्री पुत्रादिमें है, किन्तु प्रेमकी धाराको उलट देना है। उसे राधा बना देना है। चित्तमें घर-परिवार आदि न आवें, उनके स्थानपर केवल भगवान् आवें।

चित्तवृत्ति भगवान्‌में ही शान्त हो और उन्हींको लेकर उठे। जिस मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, घनश्याम, वनमालीका चिन्तन करते वृत्ति शान्त हुई थी उसीको लेकर फिर उदित हो। अपने प्यारकी माला बार-बार उसीके कण्ठमें पड़े। ऐसा हो तब भक्ति उत्तम कक्षाकी ओर बढ़ रही है।

हमारे एक परिचितने एक बार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे कहा––'मुझे ब्रह्मज्ञान हो गया। अब तो ब्रह्माकार वृत्ति-आवश्यक नहीं है ?'

बाबा बोले...'बेटा, तब ब्याह कर लो।'

तात्पर्य यह है कि भगवान्‌की भक्ति नहीं करोगे तो संसारमें फँसोगे। इसलिए भक्ति करनी चाहिए।

•

• संगति

जब गौणी भक्ति ही करनी है, प्रेमात्मिकता-साध्या भक्ति सहज प्राप्य नहीं है सबके लिए, तो सब भक्ति ही क्यों करें? शास्त्रोंमें और भी तो बहुत-से साधन बतलाये गये हैं। स शंकाका समाधान कर रहे हैं। •

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥ ५८ ॥

दूसरे (साधनों) की अपेक्षा भक्तिमें सुलभता है ॥ ५८ ॥

योग करना हो तो यम-नियमका पालन करो। नेती-धोती आदि षट्कर्म करके शरीरकी नाड़ियोंका शोधन करो। आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्धका कठिन व्यायाम सिद्ध करो। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान करते-करते तब कहीं समाधिकी प्राप्ति होगी। समाधिमें भी सविकल्प, सजीव, निर्बीज, निर्विकल्पादि अनेक भेद हैं।

कर्मके मार्गमें चलो तो कर्मके लिए, धर्मके लिए अपने शरीरमें आवश्यक शक्ति तथा अपने पास आवश्यक धन चाहिए। शुद्ध सामग्री जुटाओ। पूरी-पूरी विधिका ज्ञान प्राप्त करके उसका पालन करो। सामग्रीमें, मन्त्रमें विधिके पालनमें अनजानमें भी कोई त्रुटि हो गयी तो कर्म निष्फल ही नहीं होगा, वह उलटे हानिकर भी हो सकता है।

ज्ञानके मार्गमें शम-दमादि षट्सम्पत्ति, विवेक-वैराग्यादि साधन-चतुष्टय आवश्यक हैं। संसारके विषयोंसे पूरा-पूरा वैराग्य हो और बुद्धि तीक्ष्ण हो, तत्त्व-विवेचन करने योग्य हो तभी ज्ञानके मार्गमें गति होती है। किन्तु भक्तिके मार्गमें ?—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।
जोग न जप तप मख उपवासा॥
सरल सुभाउ न मन कुटिलाई।
जथा लाभ संतोष सदाई॥
मोर दास कहाइ नर आसा।
करइ तौ कहहु कहाँ बिस्वासा॥

उद्धवजी गोपियोंको उपदेश करने व्रजमें गये तो उनकी बातें सुनकर गोपियोंने कह दिया--बैराग-जोग कठिन ऊधो हम न करब हो।

भक्तिका मार्ग सरल है। तुमको पढ़ना-लिखना, सेवा-अर्चा न आती हो तो भी कोई हानि नहीं। भगवान्का नाम लो। नामी तो नामके वशमें हैं। यह भी न हो सके तो भगवान्की कथा श्रवण करो।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

(श्रीमद्भाग० ७.५.२३)

यह सब भगवान्की भक्ति ही है। भक्तिमें कोई अधिकारभेद नहीं है। लोकमान्य तिलकके गीता-रहस्यमें संत तुकारामजीका अभंग दिया है जिसका हिन्दी अनुवाद है--

क्या द्विजाति क्या शूद्र ईशको वेश्या भी भज सकती है।
भक्तिभावमें वेश्याको भी शुचिता क्या तज सकती है॥

एक वेश्याका पुत्र मातृ-भक्ति करे और एक सती-साध्वीका पुत्र भी, तो क्या दोनोंकी मातृभक्तिके फलमें अन्तर होगा? फलमें कोई अन्तर नहीं होगा। दोनों ही मातृभक्त हैं। फल तो भावके अनुसार होता है। भक्तिमें भावका ही विशेष महत्त्व है। माता कैसी है यह नहीं देखा जाता।

श्रीराम या श्रीकृष्ण कैसे थे, किसीने देखा है? मन्दिरमें मूर्ति सुन्दर है या नहीं, यह नहीं देखा जाता। शालग्राममें भला क्या

सौंदर्य है ! भक्तिमें भावना प्रधान है। ईश्वरने जिसे जैसी माता दी वह उसीकी भक्ति करे।

'बृहस्पति-सव'में केवल ब्राह्मणका अधिकार है। राजसूय यज्ञ केवल क्षत्रिय कर सकता है। गायत्रीजपका अधिकार यज्ञोपवीत-धारीको ही है। किन्तु भक्ति करके तो गीध, व्याध, शबरी, पिंगला वेश्याका भी उद्धार हुआ है। स्वयं भगवान्‌ने कहा है--

> अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
>
> (गीता ९.३०)

'भले ही कोई अत्यन्त दुराचारी हो किन्तु अनन्यभावसे मेरा भजन करता हो तो उसे साधु ही मानना चाहिए; क्योंकि वह ठीक निश्चयपर पहुँच चुका है।'

पापी भी भक्तिका अधिकारी है। राजाकी सेवा सब अपने-अपने अधिकारके अनुसार कर सकते हैं। कोई झाड़ू लगाता है कोई वन्दनवार सजाता है, कोई जल पिलाता है कोई पैर दबाता है, कोई भोजन बनाता है, कोई हँसाता है। सेवामें कोई अनधि-कारी नहीं है। भक्तिमें देश-कालका भी भेद नहीं है। सुबह-दोपहर शाम, सब समय सेवा की जा सकती है।

> कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-
> रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः।
> स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां
> सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥
>
> (श्रीमद्भाग० ७.७.३८)

भक्तश्रेष्ठ प्रह्लाद कहते हैं--'दैत्यपुत्रो ! श्रीहरिकी उपासनामें कौन-सा बड़ा परिश्रम है ! वे तो अपने हृदयमें ही रहते हैं, अपनी आत्मा ही हैं और समस्त देहधारियोंके सामान्य रूपसे मित्र हैं। अतः उनका भजन करो।विषयोंको प्राप्त करनेसे भला क्या सुख होता है !'

भगवान् कहीं सातवें आसमानमें बैठे नहीं हैं कि बहुत दूर हैं, उनतक पहुँचनेमें कठिनाई है--

दिलके आइनेमें है तस्वीरे यार।
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।।

एक महात्मा कहते थे--'सोते समय यदि यह ध्यान करके सोओ कि भगवान् हमारे कण्ठमें विराजमान हैं तो स्वप्न भगवान्का ही आवेगा। इसे लगातार दो-तीन महीने करके देखना चाहिए।'

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता।।
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्।।

(श्रीमद्भाग० ७.७.५१-५२)

प्रह्लाद कहते हैं---'असुरबालको! भगवान् मुकुन्दको प्रसन्न करनेके लिए न ब्राह्मण होना पर्याप्त है, न देवता होना और न ऋषि होना। उन्हें आचार प्रसन्न नहीं करता, बहुत जानकारी प्रसन्न नहीं करती; दान; तप, यज्ञ, पवित्रता और व्रत भी उन्हें प्रसन्न नहीं करते। भगवान्के लिए यह विडम्बना है। उन्हें इनमें-से कुछ नहीं चाहिए। वे केवल निर्मल भक्तिसे प्रसन्न होते हैं।'

भगवान्की भक्तिमें एक सुलभता है कि उसे सब कर सकते हैं। सब भक्तिके अधिकारी हैं। दूसरी सुलभता यह है कि सब समय और सर्वत्र भक्ति की जा सकती है। तीसरी सुलभता यह है कि भक्ति निरापद है। भगवान् न तुम्हें धोखा देंगे, न तुम्हारा धन लेंगे, न धर्म बिगाड़ेंगे, न स्वजन-सम्बन्धी छुड़ावेंगे।

भक्तिकी बहुत अधिक सुलभता यह है कि उसमें तुम जो कुछ करते हो, वही भक्ति--भगवान्की सेवा बन सकती है। केवल भावना परिवर्तित करनी है। चलना भक्ति है--हम भगवान्का दर्शन करने या उनकी सेवाका काम करने जा रहे हैं। भोजन

बनाना भक्ति है—भगवान्को नैवेद्य लगानेके लिए बना रहे हैं। शरीरमें साबुन लगाना भी भक्ति है— भगवान्के सम्मुख जाना है।

भक्तिमें वस्तु आवश्यक नहीं है। पाँच रुपये के बिना यज्ञ तो रुक सकता है, भक्ति नहीं रुकती। यहाँ तो एक पैसा भी न हो तो चुल्लू-भर जल और दो तुलसीदल पर्याप्त हैं—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥

'भक्तवत्सल भगवान् केवल तुलसीदल तथा चुल्लू-भर जलके बदले अपनेको भक्तोंके हाथ बेच देते हैं।'

देखना यह है कि तुम कार्य किसके लिए करते हो? तुम्हारा यह बनाव-सिंगार, यह दौड़-धूप, यह चिन्ता-परिश्रम किसके लिए है—**कस्मै देवाय हविषा विधेम ?**

धर्म, योगादिमें विघ्न बहुत हैं। ज्ञानमें असंभावना–विपरीत भावना बहुत आती है। भक्तिमें तो केवल अपने हृदयसे पूछते रहना है—'यह कार्य हम किसके लिए कर रहे हैं?'

भगवान् श्रीकृष्ण मथुरा गये और वहाँसे द्वारका चले गये। उन्हें वर्षों बीत गये। किन्तु गोपियाँ प्रतिदिन अपना श्रृङ्गार करती थीं, मक्खन निकालकर रखती थीं—'वे आवेंगे और हमें बिना श्रृङ्गारके देखेंगे तो दुखी होंगे। उनको आते ही माखन न मिला तो रूठेंगे।'

मैंने एक ग्रामीण स्त्री देखी है। उसका पति घरसे कहीं दूर गया और उधर ही मर गया। उस स्त्रीके पास उसके पतिकी मृत्युका समाचार आया तो उसने विश्वास ही नहीं किया। पतिके जीवित रहते वह जैसे चूड़ी पहनती थी, सिन्दूर लगाती थी, रंगीन साड़ी पहिनती थी, वैसा ही करती रही। बीस-पच्चीस वर्ष वह ऐसा ही करती रही। लोगोंकी दृष्टिमें वह पागल थी। वह कहती थी—'मेरा पति आज आवेगा!' आज-आज करते

उसने बीस-पच्चीस वर्ष व्यतीत कर दिये। एक संसारी पतिके लिए स्त्री इतना कर सकती है तो भगवान् तो सबके सच्चे पति हैं।

भक्तिमें सर्वोत्तम सुलभता यह है कि उसमें भगवान्का सहारा रहता है। तप बहुत कठिन है। उसका सफल होना भी कठिन है। उसमें विघ्न आते हैं। सफल हो भी जाय तो अभिमान बढ़ाता है। तपस्यामें सिद्धि आती है। योगमें सिद्धि आती है। सिद्धि तो विघ्न ही हैं।

एक साधकको वैराग्य हुआ। अब कोई भोग, कोई विषय तो उसके लिए विघ्न बन नहीं सकता; क्योंकि विषयोंमें दुःख है, यह उसने विवेकसे निश्चय कर लिया है। ऐसे साधकके लिए अभिमान विघ्न है। भगवान्के प्रसादका तिरस्कार करना विघ्न है। शास्त्र कहता है--

नानुव्रजति यो मोहाद् व्रजन्तं परमेश्वरम्।
ज्ञानाग्निदग्धकर्मापि स भवेद् ब्रह्मराक्षसः॥

श्रीजगन्नाथपुरीमें भगवान् जगन्नाथकी रथयात्रा हो रही हो और वहाँ कोई मोहवश भगवान्के रथके पीछे न चले तो वह भले ब्रह्मज्ञानी हो--ब्रह्मज्ञानसे उसके कर्म भले भस्म हो चुके हों, उसे ब्रह्मराक्षस योनि मिलती है। वैराग्यने भगवदनुगमनमें बाधा डाली है, अतः उसका वैराग्य प्रतिबद्ध हो जायगा, उसका जीवन शुष्क-राक्षसवत् हो जायगा।

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्।
(योगदर्शन ३.५१)

योगमें प्राणायामादि करनेपर उस स्थलके देवता सिद्धि देने आते हैं। इन स्थलीय देवताओं-क्षेत्रपालोंके निमन्त्रण देनेपर भी साधकको चाहिए कि उन देवताओंकी बात स्वीकर न करे। साथ ही यह गर्व भी न करे कि 'देवता मुझे हाथ जोड़ते हैं।' तब उसकी साधना आगे बढ़ेगी, अन्यथा प्रतिबन्धित हो जायगी।

ज्ञानमें दुरूहता यह है कि उसके सब अधिकारी नहीं हैं। ज्ञानका अधिकारी होना कठिन है। बुद्धिकी मन्दता, विपर्ययमें दुराग्रह, कुतर्क और विषयासक्ति ये चार ज्ञानमें प्रतिबन्धक हैं--

प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः।
विषयासक्तिरित्येते प्रतिबन्धाः प्रकीर्तिताः॥

एक बड़े विचारवान् साधकने लिखा है--'प्रपञ्चको तुम स्वप्नवत् कैसे कहते हो ? यह तो बाहर दीखता है।'

प्रपञ्च ईश्वरको अपने बाहर दीखता है या भीतर ? सर्वव्यापी ईश्वरको प्रपञ्च अपने भीतर दीखता है, अतः ईश्वरकी दृष्टिसे प्रपञ्च स्वप्नवत् है। जब जीव-दृष्टि ईश्वर-दृष्टिसे मिलेगी तब जीवको भी प्रपञ्च स्वप्नवत् दीखेगा। प्रेमका नियम है कि जब प्रेमीका हृदय प्रियतमसे मिलेगा तब प्रियतमको जो वस्तु जैसी दीखती है वैसी ही प्रेमीको भी दीखेगी। प्यारेको रोटी पसन्द है तो प्रेमी स्वतः रोटी खाने लगेगा। जो ईश्वरसे प्रेम करेगा वह प्रपञ्चको वैसा ही देखेगा जैसा ईश्वर देखता है।

ज्ञानमें प्रतिबन्ध है अपनेको ज्ञानी मान बैठना। अपनेको ब्रह्म मान बैठना तो उपासना है क्योंकि आत्मा ब्रह्म है, ज्ञानी नहीं है।

भक्तिमें ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इसमें भगवान् स्वयं हाथ पकड़कर ले चलते हैं, जैसे बच्चा पिताका या पत्नी पतिका हाथ पकड़कर चले। बच्चा जैसे साथ चलते पितापर निर्भर होता है वैसे ही भक्त भगवान्पर निर्भर होता है। विघ्नसे रक्षाका भार भगवान्पर है, और यह निर्विघ्नता भक्तिकी सुलभता है।

भक्तिमें करना कुछ नहीं है। कोई नयी बात अपनेमें उत्पन्न नहीं करनी है। भगवान्ने सबके हृदयमें प्रीति दे रखी है। प्रीति ईश्वरसे भी माँगनी नहीं है। जैसे भगवान्ने नेत्र-कर्ण आदि दिये वैसे ही प्रीति भी दी है। वह प्रीति जिससे जोड़नी थी उससे न

जोड़कर अन्योंसे जोड़ दी गयी। वैसे भक्त तो सभी हैं। कोई मन्त्री-भक्त है, कोई सेठ-भक्त। कोई स्त्री-भक्त है, कोई देह-भक्त। टेलीफोन तो घरमें है किन्तु उसकी लाइन ठीक नहीं मिली है। अतः लाइन बदलनी है--प्रीतिका मुख मोड़ना है। जहाँ पुत्र, पत्नी, धन बैठते हैं वहाँ भगवान्‌को बैठाओ।

अवगतं सत् स्वभिष्टतया इच्छते।

प्रयोजनीय वह है जिसे जानकर हम पाना चाहें। भक्तिका फल है कि हृदय स्वच्छ हो जाय। उसमें वासनाका मैल न दीखे। उसमें हमारे प्रभुका ही दर्शन हो।

भक्तिके फल भगवान् हैं और उनमें सुलभता यह है कि वे करुणावरुणालय हैं। हम उनका नाम लेनेकी इच्छा करते हैं तो वे हमारी जिह्वापर नाम बनकर नाचने लगते हैं। मन्दिरमें हम दर्शन करने जाते हैं तब जिसे हृदयमें देखना चाहते हैं उसे नेत्रोंसे देखते हैं।

अच्छा, जब तुम भगवान्‌के समीप पहुँच जाओगे तो उनकी क्या-क्या सेवा कैसे-कैसे करोगे? यह जो सेवा करनेका मन होता है उसे अभीसे मनसे चिन्तन करने लगो। अभीसे मनके द्वारा वह सेवा करने लगो जो सेवा भगवान्‌से मिलनेपर करना चाहते हो। यह मानसी-सेवा है। 'हर्रे लगै न फिटकरी, रँग चोखा आवै।' यह भक्तिमें सुलभता है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता)

भगवान्‌ने कहा है कि 'जो जैसे मेरा भजन करता है, मैं भी वैसे ही उसका भजन करता हूँ।'

मनुष्य भगवान्‌की ओर एक पद चले, उमके लिए एक क्षण लगावे तो भगवान्‌को भी उसकी ओर एक पद चलना ठहरा, एक क्षण देना ठहरा उसके लिए। भगवान्‌के एक पदमें तो सारी दूरी

समाप्त हो जाती है और उनके एक क्षणमें समस्त काल आ जाता है। भगवान्‌के क्षणमें तो ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रकी एक आयु पूरी हो जाती है। सत्य तो यह है कि हम भगवान्‌के लिए एक पद उठाते नहीं हैं। अन्यथा भक्तिमें तो यह सुलभता है कि भगवान् स्वयं भक्तको ढूँढ़ते हैं।

ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना हो तो ब्रह्म जिससे जाना जाय वह साधन प्राप्त करना होगा। ब्रह्मको नेत्रसे तो देख नहीं सकते क्योंकि वह रूपतन्मात्रावाला नहीं है। वह गन्ध-तन्मात्रावाला भी नहीं है कि नाकसे सूँघकर जान लें। रस-तन्मात्रा होता तो जीभसे चखकर जान लेते। उसको सुनकर कर्णसे जाननेका भी उपाय नहीं क्योंकि वह शब्द-तन्मात्रक भी नहीं है। स्पर्श-तन्मात्रक भी ब्रह्म नहीं कि उसे छूकर जान लें। मनसे जैसी कल्पना पहलेसे होगी वैसा ही चिन्तन होगा। बुद्धिसे उसको जानना चाहें तो बुद्धि अनादि कालसे संस्कारयुक्त है। बुद्धि संस्कारमुक्त है नहीं। जिसमें पूर्वाग्रह न हो ऐसी बुद्धि होना कठिन है। अतः अन्तःकरण शुद्ध हो, उसमें 'त्वं' तथा 'तत्' पदार्थका शोधन हो, तब महावाक्य द्वारा प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका बोध हो सकता है। भक्तिमें यह सब कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है।

भक्ति स्वयं प्रमाण है

• **संगति**

अच्छा भक्ति सुलभ है इसमें प्रमाण क्या ? भक्तिको सुलभ क्यों बतलाते हो ?

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात् ॥५९॥

दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा न होनेसे तथा स्वयं प्रमाण होनेसे (भक्ति अन्य साधनोंकी अपेक्षा सुलभ है) ॥ ५९ ॥

भक्तिमें दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं हैं क्योंकि यह स्वयं प्रमाण है। जब न्यायाधीशके सम्मुख कोई मुकदमा जाता है तब वह उससे सम्बन्धमें प्रमाण माँगता है। भक्तिकी सुलभता, रसरूपता, स्वयंप्रकाशताके सम्बन्धमें क्या प्रमाण है ?

न्यायाधीश तो घटनास्थलपर था नहीं, अतः उसे प्रमाण चाहिए। कुछ बातोंके सम्बन्धमें लिखित प्रमाण होते हैं और कुछके सम्बन्धमें साक्षी होते हैं। किन्तु कुछ बातें स्वतःसिद्ध होती हैं, उनके सम्बन्धमें लिखित प्रमाण अथवा साक्षीकी अपेक्षा नहीं होती। आप हैं, इसे सिद्ध करनेके लिए क्या कोई प्रमाण चाहिए ? इसीको स्वयंप्रमाण कहते हैं।

मनका सुख-दुःख स्वतः अनुभूत है। इसी प्रकार भगवान्‌की भक्ति बाहर तो है नहीं, हृदयमें है। हमारे हृदयमें भक्ति-प्रीति है या नहीं, यह जाननेके लिए प्रमाण नहीं चाहिए।

स्वामी रामतीर्थसे एक पण्डित शास्त्रार्थ करने आ पहुँचे और प्रश्न किया––'आत्मा और ब्रह्म एक हैं, इसमें क्या प्रमाण है ?'

स्वामी राम––'मैं ही प्रमाण हूँ।'

भक्ति नेत्रसे देखने, सुनने अथवा पुस्तककी वस्तु नहीं है, यह तो अनुभवकी वस्तु है। तुम्हारे हृदयमें क्या कभी किसीके प्रति प्रीतिका, सेवाका भाव उठता है? उठता है तो तुम स्वयं इसके प्रमाण हो। इसमें अन्य प्रमाण क्या होगा?

तेरी गलीमें आके खोये गये हैं दोनों।
दिल तुझको ढूंढ़ता है, मैं दिलको ढूंढ़ता हूँ॥

माया जड़-दुःखरूप है। इसमें मोह होता है। भक्ति रसरूप, प्रकाशरूप, अपनी आत्माका स्वरूप है। प्रीति किये बिना कोई रह नहीं सकता। यह दूसरी बात है कि तुमने संसारमें अपनी प्रीतिके खंड-खंड बिखेर रखे हैं। संसारमें प्रीति स्थिर नहीं होती। यहाँकी प्रीतिमें न प्रीति स्थिर होती, न प्रियतम। दोनों बदलते रहते हैं। केवल ईश्वरकी प्रीति टिकाऊ होती है।

तुम्हारे मनमें जब जो भाव आता है, तुम अपनेको उससे संयुक्त कर देते हो। क्योंकि तुम पूर्ण हो, अतः तुम्हारे संयुक्त होनेसे उस भावमें पूर्णताका भास होने लगता है। तुम्हें लगता है कि 'हम इसके बिना रह नहीं सकते।' किन्तु कुछ देरमें वे काम-क्रोधादि पता नहीं कहाँ चले जाते हैं। इसलिए जैसे तुम्हारे जीवनसे अबतक अनेक चले गये वैसे ही इस समय तुम जिससे जुड़े हो, यह भी चला जायगा। यह भी जीवनमें टिकनेवाला नहीं है; क्योंकि जबतक जीवनमें ईश्वर नही आवेगा, तुम्हारी प्रीति ईश्वरमें नहीं लगेगी तबतक शान्ति मिलनेवाली नहीं है।

'वीरमित्रोदय' नामक एक धर्मशास्त्रका ग्रन्थ है। ग्रन्थ बड़ा है। उसके कई खंड हैं। उनमें एक खंड भक्ति-प्रकाश है। उसमें लिखा है—'धर्म करके मरनेपर स्वर्गमें जाकर जो सुख मिलता है उसकी बात तो वे जानें जो स्वर्ग जाकर लौटे हों। किन्तु हम जब अपने परमप्रेमास्पद प्रभुका नाम लेकर उनका स्मरण करते हैं, उस समय हृदय द्रवित होता है, नेत्रोंमें अश्रु आते हैं, शरीर रोमाञ्चित

हो जाता है, चित्त अनिर्वचनीय आनन्दसे परिपूर्ण हो जाता है। इस आनन्दकी कल्पना समाधिमें, ब्रह्मलोकमें अथवा तत्त्वज्ञान होनेपर होगी, यह कौन सोचें ? भक्ति तो साक्षिभास्य-स्वसंवेद्य है।

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिरि जाय ॥

अतः भक्तिमें साक्षी (सन्त-सद्गुरु) तथा लिखित प्रमाण (शास्त्रवचन) आवश्यक नहीं हैं।

अब कहो कि 'हमें तो पता नहीं लगता कि हमारे हृदयमें प्रेम है' तो प्रेमीको ऐसा ही अनुभव होता है। जिसे हृदयमें प्रेमके अभावकी प्रतीति होती है, यह अभाव खटकता है और इसके लिए वेदना होती है उसीके हृदयमें प्रेम है। प्रेममें 'मैं प्रेमी हूँ' ऐसा अभिमान उदित नहीं होता। जैसे ब्रह्मज्ञानमें अविद्या-निवृत्ति (वृत्ति-व्याप्ति) ही होती है, 'मैं ज्ञानी हूँ' ऐसा अभिमान (फल-व्याप्ति) नहीं होती।

मन्दिरमें दीपक जरै, बाहर लखै न कोय।
तृन परसत परगट भयौ, अब गुपुत कवन विधि होय ॥
सरिता मिली तड़ाग सों, दोन्ही कूल बिदार।
नाम मिट्यो सरिता भई, कौन निबेरै बारि ॥

(सूरदास)

प्रेममें प्रमाण नहीं चाहिए। प्रीति होनेपर प्रियतमकी सेवा कैसे करनी चाहिए यह प्रेम ही सिखला देता है—**प्रेमगुरुणा गौरीगणः पाठ्यते।**

प्रेम ही बतला देता है कि प्रियतमको कब कौन-सा पुष्प प्रिय है, कब वे कैसा भोजन करना चाहेंगे, कब कैसा वस्त्र-धारण उन्हें रुचेगा, कब संगीतका कौन-सा राग वे सुनना चाहते हैं।

मनुष्यके मनमें बाहरी वस्तुओंके प्रति जो बहुत राग है वह कष्टका ही कारण है। तुम्हें भोजन न मिले, मन ही मन पदार्थोंका

भोजन करनेको कहा जाय तो क्या तुम्हें सन्तोष होगा ? किन्तु इस स्थूल देहको बाहर छोड़कर, गुरुके दिये देहसे मन ही मन प्रियतमकी सेवा, उनका सत्कार करो, इसमें किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है।

'प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात्'का तात्पर्य है 'श्रुत्यादिप्रमाणान्तर-स्यानपेक्षाः' भक्तिमें श्रुति, स्मृति आदिके प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। स्वयंप्रमाणत्वात्' कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि इसमें षड्लिंग-निर्धारण (उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्तिके विचार)की आवश्यकता तात्पर्य-निर्णयमें नहीं है। इस प्रकार भक्तिको ज्ञानकी अपेक्षा सुलभ बतलाया; क्योंकि ज्ञानमें शास्त्र-तात्पर्य-निर्णयके लिए षड्लिंग-निर्धारण आवश्यक है।

●

भक्ति क्यों सुलभ है ?

• संगति

तुम भक्तिको सुलभ क्यों बतलाते हो ? इसलिए कि संसारके लोग कठिन साधनमें नहीं लगते। वे चाहते हैं पैसा न लगे, परिश्रम न करना पड़े, बुद्धिको बहुत ऊहापोह न करना पड़े, ऐसा साधन उन्हें प्राप्त हो।

जो स्वतःप्रमाण हो अर्थात् जिसमें अन्य प्रमाणकी अपेक्षा न हो वह सुलभ भले हो; सुखदायक ही हो, रसरूप ही हो, यह आवश्यक तो नहीं है। दुःख भी तो स्वसंवेद्य है। उसमें भी प्रमाणान्तरकी अपेक्षा नहीं है। वह भी स्वतःप्रमाण है। किन्तु दुःख न प्रिय है, न रसरूप है।

दूसरी बात यह कि जो वस्तु जितनी सुलभ होती है उतनी ही कम महत्त्वकी—उतनी ही कम मूल्यकी होती है। भक्तिमें भी तो ऐसी ही बात नहीं है ?

इन दोनों शंकाओंका उत्तर देनेके लिए अगला सूत्र है। इसमें बतलाते हैं कि भक्ति दुःखके समान स्वतःप्रमाण नहीं है। वह परमानन्दरूप है और सुलभ होनेपर भी उसका महत्त्व, उसका मूल्य कम नहीं है।

शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च ॥ ६० ॥

(भक्तिके) शान्तिस्वरूप एवं परमानन्दस्वरूप होनेसे (वह अन्य साधनोंकी अपेक्षा सुलभ है) ॥ ६० ॥

देखना यह है कि जीवनमें-हृदयमें शान्ति है या नहीं। परमानन्द हमें प्राप्त होता है या नहीं ! दूसरोंके भक्तराज कहनेसे कोई

भक्त नहीं हो जाता। बाहर तुम्हारी कहीं आसक्ति है या नहीं। बाहर वह भटकता है, जिसके घरमें सुख-शान्ति-आनन्द नहीं है। हृदयमें भक्ति है तो वह बाहर क्यों भटकेगा? आनन्द तो अपने भीतर जो परमेश्वर बैठा है वह दे ही रहा है।

वृन्दावनके संत कोकिल साँईंसे लोगोंने कहा—'सिनेमामें बहुत सुन्दर चित्र लगा है। चलिये, देख आवें!'

साँईं बोले—'मैं नेत्र बन्द करके भीतर वृन्दावन देखता हूं तो वहाँ अमृतके झरने झरते दीखते हैं। वहाँ गाय, ग्वालबाल, गोपियाँ, प्रिया-प्रियतमका दर्शन होता है। तुम वैसा सौन्दर्य क्या बाहर दिखला सकते हो?'

अपने घरमें सच्चिदानन्द प्रभु बैठा है तब बाहर—उसने मुझे बाधा दी, उसने मेरी हानि की वह मेरा शत्रु है—यह सब क्यों? यह इसलिए है कि हृदयमें भक्ति नहीं आयी। भक्ति तो इतनी रस-मयी है कि स्वयं आनन्दघन सर्वेश्वर उसका आस्वादन करनेके लिए उत्सुक होता है। ऐसी आनन्ददायक भक्ति हृदयमें आ जाय तो बाहर कौन देखेगा!

'शान्तिरूपात्'—'भक्ति शान्तिरूपा है' का तात्पर्य यह है कि भक्तिमें विस्मृति नहीं है। किसीसे प्रेम भी है और उसका नाम-पता भी भूल गया, यह प्रेम कैसा? प्रेममें विस्मरण नहीं होता। ज्ञानमें भी विस्मृति नहीं है। घटका विस्मरण होने पर भी घटज्ञानका नाश नहीं होता!

शान्तिरूपा कहकर भक्तिको धर्मकी अपेक्षा विशेष तथा परमा-नन्दरूपा कहकर योगकी अपेक्षा विशेष सूचित किया गया है। भक्तिकी विशेषता है—

विश्रम्भं जनयति प्रियतमाकारं प्रणयति।

'जिस चित्तमें भक्तिका उदय होता है उस चित्तको भक्ति विश्वास-से भर देती है तथा प्रियतमके आकारमें परिणत कर देती है।'

धर्ममें शान्ति नहीं है। वह विक्षेप-बहुल है। उसमें हवन-सामग्री जुटाओ, मन्त्र-स्मरण करो, ब्राह्मण बुलाओ। धर्म क्रियात्मक होनेसे शान्तिरूप नहीं है। वह बहिश्रित है। उसके फलमें तो शान्ति है; किन्तु धर्मानुष्ठान-कालमें शान्ति नहीं है। तुम दान करने लगो तो दान लेने आनेवाले शान्तिसे नहीं बैठने देंगे। तीर्थोंमें पंडे घेर लेते हैं--'हमें यह चाहिए, वह चाहिए'। वे दर्शनका आनन्द नहीं लेने देते।

एक बार श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी जेल गये। महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयजीने सरकारको भेजनेके लिए तार लिखवाया--'ब्रह्मचारीजी बड़े शान्तिप्रिय हैं। उन्हें छोड़ दो।'

तार लेकर त्रिलोचनजी चले तो रोक दिया--'ठहरो! वे शान्तिप्रिय होते तो उन्हें पुलिस पकड़ती ही क्यों? अतः लिखो कि वे बड़े सज्जन हैं, बड़े धर्मात्मा हैं।'

शान्ति बाहरके द्रव्यकी, कर्मकी या व्यक्तिकी अपेक्षा नहीं करती। चुपचाप बैठे हैं और मन ही मन प्रभुका चिन्तन, उनकी सेवा कर रहे हैं, यह शान्ति है। कर्मके लिए तो शरीरको गति देनी होगी, हाथ-पैर हिलाने पड़ेंगे। भक्तिमें धर्मके समान व्यग्रता-व्यस्तता नहीं है। धर्ममें तो बार-बार देवता बदलना पड़ता है। जिस देवताके लिए आहुति देनी है उसीका ध्यान करो, किन्तु भक्तिमें तो एक ही प्रियतम है।

'परमानन्दरूपात्' कहकर भक्तिको योगसे विशेष बताया गया है। योगमें वृत्तिका निरोध होनेसे आनन्दका उपभोग नहीं है किन्तु भक्ति तो परमानन्दरूप है। जिसके सौन्दर्य-माधुर्यके झरे-पड़े अंशसे जगतमें सौन्दर्य, माधुर्य, सौकुमार्य, सौरभ्य, सौरस्य आया है, उसमें वृत्तिका लगना आनन्दमय है।

वृत्ति-निरोध होनेसे द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें स्थिति तो हो जाती है किन्तु योग तथा सांख्यके मतसे द्रष्टाका स्वरूप आनन्द

नहीं है। आनन्दाकार वृत्ति होती है और वह योगके मतमें इष्ट नहीं है। इसलिए आनन्दानुगत समाधिको योग सम्प्रज्ञात समाधिके अन्तर्गत मानता है। असम्प्रज्ञात समाधिमें आनन्द नहीं मानता। उसका मत है—आनन्द बना रहेगा तो आनन्दका भोक्ता जीव होगा। वह द्रष्टा नहीं रहेगा।'

भक्तिमें आनन्दाकार वृत्तिका निरोध इष्ट नहीं है। देखना यह है कि भक्तिमें परमानन्द आया कहाँसे ? सांख्य तथा योगके मतमें सत्त्वगुणकी परिणामरूपा वृत्ति आनन्द है। वह प्राकृत है अतः त्याज्य है। भक्तिमें आनन्द भगवदाकार वृत्ति होनेसे आता है। यह प्राकृत वृत्ति नहीं है। वेदान्तकी दृष्टिसे यह मायिक वृत्ति है। तन्त्रोंमें भक्तिको भगवान्की शक्ति माना गया है। भक्ति भक्तका स्वरूपभूत आनन्द भी नहीं है। यह कोई ऐसी अनिर्वचनीय वस्तु है जिससे भगवान् भी प्रसन्न होते, जिसपर भगवान् भी मोहित हो जाते, जिसके वशमें हो जाते हैं। भक्तिके माधुर्यपर भगवान् अपना ऐश्वर्य निछावर कर देते हैं।

श्रीकृष्णचन्द्रने एक तोता पाल रखा था। उसे वे 'धारा-धारा' बोलना सिखलाते थे; क्योंकि वह शीघ्रतामें बोलता था तो 'राधा-राधा' सुनायी पड़ता था।

श्रीकृष्णके प्रेममें यदि श्रीराधा कृष्णमयी हो गयीं तो श्रीराधाके प्रेममें श्रीकृष्ण भी राधामय हो गये। उद्धव व्रज जाकर व्रज-वासियोंके पक्षपाती होकर मथुरा लौटे। व्रजके प्रेमसे वे अभिभूत हो गये। मथुरामें श्रीकृष्णसे मिलनेपर वे बोले—'मैं तो समझता था कि तुम बड़े दयालु-कृपालु हो किन्तु तुम तो बड़े निष्ठुर निकले। व्रजके उन प्रेमियोंको छोड़कर तुम यहाँ आगये, यहींके हो गये !' श्रीकृष्णचन्द्र उद्धवकी बात सुनकर गम्भीर हो गये। उन्होंने अपने शरीरपर-से पीताम्बर हटा दिया। उद्धवने देखा कि श्रीकृष्णके

रोम-रोममें राधाकी मूर्ति है। श्यामसुन्दर बोले—सो मैं उनसैं अन्तरो पलहू छिन नाहिं।

भक्तिमें भक्तको प्रियतमके प्रेमका सहारा रहता है। वे प्रेमीके चित्तको क्षण-क्षण देखते हैं। भक्तके हृदयको छोड़कर भगवान्‌का दूसरा कोई निवास नहीं है। भक्तका हृदय ही भगवान्‌का निज-सदन है।

'परमानन्दरूपात्'—आनन्दका परम रूप परमानन्द। जैसे मधुर, मधुरतर, मधुरतम, वैसे ही आनन्दकी पराकाष्ठा परमानन्द। अर्थात् श्रीराधा, उनका जो आनन्द है वह परमानन्द। आनन्द वहाँ होता है जहाँ पूरा स्वातन्त्र्य है—'स्वातन्त्र्यात् सुखमाप्नोति।'

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

(मनुस्मृति ४.१६०)

'पराधीनतामें सब दुःख ही दुःख है और स्वतन्त्रतामें सुख ही सुख। थोड़ेमें सुख-दुःख की यही परिभाषा समझनी चाहिए।'

अब देखो कि क्या संसारके सुखोंके भोगमें स्वतन्त्रता है? जीवित रहनेमें ही स्वतन्त्रता है क्या? श्वास आती रहे तो जीवन रहे; किन्तु वायु क्या वशमें है? धन पाने और उसे सुरक्षित रखनेमें, भोजन करनेमें, चलने-बोलनेमें, कहीं किसी भी बातमें क्या संसारमें तुम्हें सचमुच स्वतन्त्रता प्राप्त है?

कभी-कभी परतन्त्रतामें भी सुख होता है। गुरुमें श्रद्धा हो, महत्त्व-बुद्धि हो तो उनकी परतन्त्रतामें रहनेमें सुख होता है। जो जिसे 'स्व' मानता है, जिससे प्रेम करता है उसके इच्छानुसार चलनेमें वह अपनी स्वतन्त्रता ही मानता है। किन्तु जिससे प्रेम नहीं है वह पूजा भी करावे तो परतन्त्रता प्रतीत होती है।

सुखका विचार करते समय यह देखना चाहिए कि नेत्र, कर्ण, नासिका, रसना, त्वचा आदि इन्द्रियाँ और मन भी पराधीन है।

देखनेके लिए नेत्रगोलक ठीक हो, प्रकाश हो और देखनेका विषय—रूप सम्मुख हो तब दिखायी पड़े। नेत्र-गोलक ठीक न हों तो दिखायी न पड़े। वे ठीक हों किन्तु अन्धकार हो तो दिखायी न पड़े। नेत्र-गोलक ठीक हों, प्रकाश भी हो किन्तु रूप सामने न हो तो दीखे क्या? इतनी पराधीनता नेत्रकी है! ऐसी ही पराधीनता सब इन्द्रियोंकी है। हम संसारमें बँधे हैं। देहाभिमानीको परतन्त्र होना ही पड़ेगा। अतः वह सुखी नहीं हो सकता।

देह यन्त्र है; किन्तु 'स्व' नहीं, 'पर' है। जो इस देहके अधीन हुआ वह परतन्त्र है। इस परतन्त्रतासे छूटनेके लिए गुरुका मन्त्र चाहिए।

बम्बईमें एक सज्जनकी दृष्टि चली गयी—अन्धे हो गये। बड़ा दुःख हुआ उन्हें। भगवान्की कृपा थी, सत्संगमें आने लगे। महीने दो महीनेमें उन्हें अपने हृदयमें प्रभुकी मूर्तिके दर्शन होने लगे। बोले—'नेत्रोंकी पराधीनता छूट गयी। मेरा तो दुःख ही मिट गया।'

मेरे एक मित्र थे। वेदान्तका प्रश्न करते-करते उन्होंने पूछा—'साकार रूपका ध्यान क्या है?'

उत्तर तो प्रसंगके अनुसार होता है। वेदान्तका प्रसंग चल रहा था अतः मैंने कह दिया—'तुम्हारी कल्पना है।'

वे चुप हो गये। उनका पन्द्रह वर्षकी अवस्थासे ध्यान करनेका अभ्यास था और ध्यान करते हुए भी उन्हें दस-पन्द्रह वर्ष हो चुके थे। दूसरे समय वे आये और बोले—'स्वामीजी! आज हृदयकी एक ग्रन्थि खुल गयी। मैं समझता था कि भगवान् पता नहीं कब मेरे हृदयमें आवेंगे। वे कृपा करके हृदयमें आवें तब ध्यान हो। ध्यान कर लेना अपने हाथमें नहीं है। पर यदि भगवान्का रूप हमारी कल्पना है तो उसे हम अभी प्रत्यक्ष करने-

में समर्थ हैं। हम संसारको छोड़ देते हैं। हम उसीको प्रत्यक्ष करेंगे। हमारी धारणा तो यह थी कि पता नहीं कब भगवान् ध्यानमें पधारेंगे सलिए हम दुखी होते थे। ध्यानमें भगवान्‌को प्रत्यक्ष करनेमें हमारी स्वतन्त्रता है तो हम उन्हें प्रत्यक्ष करके ही रहेंगे!'

प्यारे, एक प्रश्न उठ आया।
मैंने तुझे बनाया है, या तूने मुझे बनाया?
जो मैं ही हूँ कर्त्ता तेरा, तो कर्तृत्व मृषा क्या मेरा?
अजब झमेला पाया।

(मैथिलीशरण)

भक्ति में सामर्थ्य है कि वह सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वरको सखा, स्वामी या पुत्र बना देती है। भक्तको स्वतंत्रता दे देती है कि वह खिलावे तो ईश्वर खाय, वह सुलावे तो सोवे। प्रेमी ईश्वरको अपने संकेतोंपर नचा सकता है। भगवान्‌ने इसे स्वयं स्वीकार किया है--

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।

(श्रीमद्भाग० ९.४.६३)

यह भक्तिका ऐश्वर्य है। भक्ति भक्तको ईश्वर बना देती है। गोपियाँ श्यामसुन्दरको ताली दे-देकर नचाया करती थीं--

सेस महेस दिनेस गनेस सुनीसहु जाहि निरन्तर ध्यावैं।
नारद से सुक व्यास रटैं पचि हारैं तऊ पुनि पार न पावैं॥
जाहि अनादि अनंत अपार अछेद अभेद सुवेद बतावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं॥

(रसखान)

वह नाचता है इसलिए कि उसे एक चुल्लू छाछ मिलेगी। एक दिन एक गोपीने कहा--आज मेरे घरमें कोई है नहीं। कृष्ण! तुम मुझे गोबर उठवा दो!'

श्रीकृष्ण--'मैं क्या कोई तेरा नौकर हूं ! नहीं उठवाता।'

गोपी--'अच्छा, एक टोकरी उठवानेका एक लौंदा माखन दूंगी।'

श्रीकृष्ण--'टोकरी गिनेगा कौन ? तू बहुत चतुर है, मुझे ठग लेगी तो ?'

गोपी--'तुम एक टोकरी उठवाओगे तो मैं एक गोबरका टीका तुम्हारे माथेपर लगा दूंगी। जितने टीके हों उतने लौंदे मक्खन ले लेना।'

श्रीकृष्णने स्वीकार कर लिया और गोबरकी टोकरी उठवाने लगे। उनका भाल, कपोल, पूरा मुखमण्डल गोबरके टीकोंसे भर गया। यह 'गोमयमंडितभालकपोलम्' क्या है ? यह है--

दर्शयंस्तद्विदाँल्लोके आत्मनो भृत्यवश्यताम्।

अब गोपीके घर आये तो वह बोली--'दर्पणमें अपना मुख तो देख लो !'

वह तनिक-तनिक माखन दे और कृष्ण झगड़ें कि इतने छोटे लौंदे नहीं लूंगा। वह कहती है--'नाचो तो माखन मिलेगा !' यहाँ कृष्ण ईश्वर हैं तो गोपी परमेश्वर है।

'परमानन्दरूपात्'--भक्तिमें-प्रेममें ही ऐश्वर्य है, उसीमें स्वातन्त्र्य है। एक बार एक विदेशीने जिज्ञासा की--हिन्दुओंका सबसे बड़ा ईश्वर कौन है ?

उसे भगवान् शंकरका चित्र दिखलाया गया तो त्रिशूल देखकर बोला--इसका कोई शत्रु होगा। उसको मारनेके लिए इसने हथियार ले रखा है। यह डरता है। इसलिए यह सबसे बड़ा नहीं हो सकता।

उसे भगवान् नारायण तथा मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके चित्र दिखलाये गये; किन्तु भगवान् विष्णुका चक्र तथा गदा और श्रीरामका धनुष देखकर उसने अपनी ऊपरवाली बात ही दुहरायी। देवीका चित्र तब उसे कौन दिखाता ! श्रीकृष्णका चित्र देखकर

वह प्रसन्न होकर बोला—'ठीक, यह सबसे बड़ा है। यह किसीसे डरता नहीं। यह तो वंशी बजाकर प्रेमसे सबको अपना बनानेवाला है!'

श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दघन हैं। जब उन्हें रसास्वादन करना होता है तब सच्चिदानन्दका सार निकालते हैं। वह सच्चिदानन्दसार उनकी आह्लादिनी शक्ति भक्ति है। भक्तके हृदयमें स्थापित करके फिर जब उसे देखते हैं, तब उन्हें लगता है कि मेरे रूप, रस, माधुर्यसे अधिक रूप, रस एवं माधुर्य तो भक्तके हृदयमें है। वे उसका आस्वादन करके सुखी होते हैं।

बैठे हरि राधा संग।
जान बूझि एक तान चूकि कै बजायो॥

श्यामसुन्दर श्रीराधाके साथ बैठे थे और वंशी बजा रहे थे। मनमें इच्छा हुई कि प्रियाजीका वंशी-वादन सुनना चाहिए। यह बात कहें कैसे? एक उपाय सोच लिया। जान-बूझकर एक तान बजानेमें भूल कर दी। प्रियाजीसे नहीं रहा गया और उन्होंने उसे स्वयं बजाकर बतला दिया। अपने संगीतसे अधिक आनन्द उन्हें श्रीराधाके संगीतमें आता है।

भक्तका जीवन-प्राण-आनन्द भगवान् हैं और भगवान्का जीवन-प्राण-आनन्द भक्त हैं। व्यक्तिके जीवनको भगवन्मय—परमानन्द-स्वरूप बनानेवाली भक्ति है। भक्ति मृत्युका जीवन है। ब्रह्म तो जीवन-मृत्युसे परे है।

वैष्णवाचार्य जब कहते हैं—'भक्ति परमानन्दस्वरूप है' तब वे सब साधनोंको भक्तिसे नीचे मानते हैं। वे कहते हैं—'धर्म साधन तो है और उससे आनन्दकी प्राप्ति भी होती है; किन्तु धर्मानुष्ठान-कालमें आनन्द नहीं है। धर्मकी क्रिया परमानन्द नहीं है। धर्मके फलरूपमें आनन्दकी प्राप्ति होती है किन्तु धर्मका फल जो आनन्द—स्वर्गादिकी प्राप्ति है, वह भी विनाशी है।

'योगसे समाधिकी प्राप्ति, द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति होती है। द्रष्टा तो यथाकथंचित् परमानन्दरूप भले हो किन्तु समाधि ही परमानन्दरूप नहीं है। योगके साधन-कालमें आनन्द नहीं है और उससे होनेवाली समाधि भी स्थायी नहीं रहती।

'ज्ञान परमानन्दरूप नहीं है। अच्छा, ब्रह्म परमानन्दरूप है? ज्ञान तो रहनेवाला भी नहीं है। वह तो अविद्याको निवृत्त करके शान्त हो जाता है। उपाय तो उपेयको प्राप्त करके त्याग दिया जाता है। जिस ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है वह ज्ञान तो परमानन्दरूप नहीं है। साधनकालमें ज्ञान परमानन्दरूप नहीं है।'

यहाँ तो भक्ति और भगवान्में अभेद है। जैसे अविद्या निवृत्त करके वृत्तिज्ञानका नाश हो जाता है वैसे क्या भगवान्की प्राप्ति होनेपर भक्तिका नाश हो जाता है? नहीं, भक्ति तो भगवान्के मिलनेसे बढ़ती है। श्रेष्ठ पुरुष तुम्हें मिले तो उसके मिलनसे उसमें प्रेम बढ़ता ही है। भगवान् तथा भक्तिमें भेद इसलिए नहीं है कि भगवत्प्राप्तिमें वृत्ति भगवद्रूप होती है।

'तस्मिस्तज्जने भेदाभावात्' यह पहले कह चुके हैं। वृत्तिका अपना तो कोई रूप है नहीं। जिसका चिन्तन वृत्तिमें आता है, वृत्ति तदाकार हो जाती है। घटका चिन्तन करो तो वृत्ति घटाकार और मठका चिन्तन करो तो वृत्ति मठाकार बन जाती है। इसी प्रकार भगवान्का चिन्तन करते समय वृत्ति भगवदाकार हो जाती है। भक्त भगवत्स्वरूप-भगवन्मय हो जाता है।

अतः धर्म, योग या ज्ञान परमानन्दरूप नहीं हैं। अपने गर्भमें भगवान्को रखनेवाली भक्ति परमानन्दरूप है। भक्तिके त्यागकी कहीं कोई विधि नहीं है। भक्तिका किसी अवस्थामें नाश नहीं होता। भक्तिका फल भी भक्ति ही है।

भक्त लोकहानिकी
चिन्ता न करें

• संगति

अब भक्ति तथा प्रेमके स्वरूपका निरूपण करनेके पश्चात् यह बतलाते हैं कि जो गौणी भक्तिमें लगे हैं और 'शान्तिरूपा' तथा 'परमानन्दरूपा' भक्तिको पाना चाहते हैं, उन्हें अपने मनको कैसा बनाना चाहिए।

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्[1] ॥६१॥

(भक्तको) लौकिक हानिकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए (लाभकी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए)। लोक, वेद, स्वयं अपना आप भी (भगवान्‌को) निवेदन कर देनेके कारण ॥ ६१ ॥

श्री रामानुज-सम्प्रदायमें एक श्लोक प्रचलित है—

चिन्तां कुर्यान्न रक्षार्थं विक्रीतस्य यथा पशोः।
तथार्पयन् हरेर्देहं विरमेदस्य रक्षणात् ॥

'जैसे किसी पशुको हमने दूसरेके हाथ बेच दिया तो उसकी रक्षाकी चिन्ता हम नहीं करते। इसी प्रकार जब शरीर श्रीहरिको समर्पित कर दिया तब इसकी रक्षाकी चिन्ता छोड़ देनी चाहिए।'

श्रीवल्लभाचार्यजीने कहा है—

निवेदितात्मभिश्चिन्ता कार्या क्वापि कदापि न।
निवेदनं च स्मर्तव्यं सर्वदा तादृशैर्जनैः ॥

१—पाठभेद 'लोकवेदशीलत्वात्' तथा 'निवेदितार्थे लोकवेदत्वात्'।

'जिन्होंने भगवान्‌को आत्मनिवेदन कर दिया है उन्हें कभी कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए। ऐसे लोगोंको तो सर्वदा अपने निवेदनका ही स्मरण करना चाहिए।

एक बार निवेदन समर्पण कर देनेके पश्चात् देहके सुख-दुःख, मानापमानके सम्बन्धमें या किसी भी लौकिक हेतुसे चिन्ताका चित्तमें आना मनोदौर्बल्य है। यदि तुमने अपने कार्यका भार भगवान्‌के सिरपर रखकर उनकी शरण ले ली है कि वे तुम्हारे सब काम करते रहेंगे तो यह कैसी शरणागति ! तुम भगवान्‌के सेवक बनने चले हो या उन्हें अपना बनाने ? ऐसे व्यक्ति दुखी होते हैं। जो लोग अपने कार्यका भार भगवान्‌पर छोड़कर निष्क्रिय हो जाते हैं वे कार्य न होनेपर दुखी होते हैं, अनेक बार भक्ति छोड़ बैठते हैं। अरे, भगवान् तुम्हारे मनकी ही बात करेंगे, ऐसा माननेका कोई कारण नहीं। वे अपने मनकी भी तो कर सकते हैं !

ऐसी अवस्थामें जब संकट, अभाव आदि आवें तब करें क्या ? तब स्मरण करना चाहिए कि यह सब तो हम प्रभुको दे चुके हैं।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति।

'भगवान् सर्वेश्वर सर्वात्मा हैं। वे हमारे चित्तकी दशा भी जानते हैं और जो करना चाहें वह करनेमें समर्थ भी हैं। अतः उनकी जो इच्छा होगी, जो करना उन्हें ठीक लगेगा, वह करेंगे।'

एक भवन हमारा था। हमने उसे बेच दिया। अब बेच देनेपर उसमें आग लग गयी तो हमको क्या चिन्ता है ? तुम भगवान्‌को समर्पित हो। तुम्हारी सब वस्तुएँ, स्वजन-सम्बन्ध तथा शरीर उनको समर्पित है। वस्तुको जहाँ वे भेजेंगे वह स्थान भी उनका ही है। उनकी वस्तु वे जहाँ चाहें, भेजें। यह दबाव मत डालो, यह आग्रह मत करो कि प्रभु तुम्हारी इच्छाके अनुसार ही कार्य करें।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः।
अत्रैव विनियोगेऽपि चिन्ता कास्य परस्य चेत्॥

'भगवान्‌का सम्बन्ध तो सबसे है, कुछ पृथक्-पृथक् लोगोंसे ही नहीं है। ऐसी अवस्थामें यदि वे अपनी एकके पासकी वस्तु दूसरेके पास भेज देते हैं तो इसमें चिन्ताकी क्या बात है!' भगवान् अपने हैं, तब वे हमारी कोई वस्तु कहीं हटाते हैं, इसके लिए चिन्ताका क्या कारण है? शरीर, परिवार, धन, सब तो उनका है। अतः वे जिसे चाहें, जैसे और जहाँ चाहें वहाँ रखें।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम्।
कृष्णायत्तैः कृतैः प्राणैः तेषां का परिदेवना॥

(आ० वल्लभ)

'अनजानमें अथवा जान-बूझकर जिन्होंने आत्मनिवेदन कर दिया है उन्होंने तो श्रीकृष्णको ही अपना प्राण बना लिया है। उनके लिए चिन्ताका कहीं कोई कारण नहीं है।'

एवं सदा स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति।

'जब तुमने आत्मनिवेदन कर दिया और अपने कर्तव्यका पालन कर रहे हो तो भगवान् अपने कर्तव्यका पालन--तुम्हारे योगक्षेमका वहन स्वतः करेंगे।'

यदि श्रीगोकुलाधीशः कृतः सर्वात्मना हृदि।
ततः किमपरैर्लभैर्लौकिकैर्वैदिकैरपि॥

(आ० वल्लभ)

'यदि श्रीगोकुलनाथ श्रीकृष्णको तुमने पूर्णरूपसे हृदयमें धारण कर लिया है तब लौकिक या वैदिक किसी अन्य बातका क्या लोभ? लोकमें कुछ न कुछ बननेकी चिन्ता क्यों? लौकिक सब कुछ और वेद, पढ़ाई-लिखाई, सम्मान-ऐश्वर्य आदि सब तो उनको समर्पित हो चुका, अब किसीके लिए चिन्ता कैसी?'

'निवेदितात्मलोकवेदशीलत्वात्' यह पाठ भी इस सूत्रका मिलता है। इसका तात्पर्य है कि शील-स्वभाव भी भगवान्‌को निवेदित–समर्पित कर दिया गया है।

निवेदनमें तीन बातें आवश्यक हैं—१. प्रभु जो कुछ करेंगे उसमें हमारी प्रसन्नता है, २. वे जैसे रखेंगे वैसे ही हमें रहना है और ३. वे जो ठीक समझें उसीको हमें भी ठीक समझना है। अपनी रहनी, अपना बुद्धि-विचार और अपना सुख ये तीनों उसके अनुसार बना देना है।

भगवान्‌के सुखसे अपना सुख भिन्न है तो भक्त कैसा! तब तो भाई-भाईके समान झगड़ा खड़ा हो गया। अपना शरीर अर्थात् अपनी सत्ता–१. क्रिया सत्स्वरूप भगवान्‌को अर्पित कर देनी है। अपनी बुद्धि, विचार अर्थात् अपना ज्ञान चित्स्वरूप भगवान्‌से मिला देना, उन्हें दे देना है। अपना सुख आनन्दस्वरूपके सुखमें मानना है। शरणागतिके लिए अपनी क्रिया, अपनी बुद्धि, अपने सुखका अभिमान त्यागना है।

बुद्धिर्विकुण्ठिता नाथ समाप्ता मम युक्तयः।
नान्यत् किञ्चिद् विजानामि त्वमेव शरणं मम॥

'नाथ! मेरी बुद्धि अत्यन्त पंगु हो गयी। मेरी युक्तियाँ–तर्क-शक्ति समाप्त हो गयी। मैं अब कुछ जानता नहीं हूँ। आप ही मेरी शरण हैं।'

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

'शरणागतिमें ये छः बातें होती हैं—१. भगवान्‌के अनुकूल रहनेका संकल्प, २. जो बातें भक्तिके प्रतिकूल हों उनका त्याग, ३. भगवान् मेरी रक्षा करेंगे यह दृढ़ विश्वास, ४. अपने रक्षकके रूपमें भगवान्‌को ही अपनाना, ५ अपनेको भगवान्‌के अर्पित कर देना, तथा ६. अपनेमें दैन्यका भाव।'

मेरे एक चाचा पहलवान थे। बचपनमें वे मुझे दोनों हाथोंसे पकड़कर कभी-कभी कुएँमें लटका देते थे। मेरा उनपर विश्वास था अतः मुझे भय नहीं लगता था, उलटे मैं हँसता था।

डाक्टरपर हमारा विश्वास होता है अतः वह आपरेशन करता है तब भी हमें प्रसन्नता होती है कि हमारा रोग दूर किया जा रहा है। इसी प्रकार भगवान्पर विश्वास हो तो भय तथा चिन्ता किसी भी अवस्थामें नहीं आवेंगे। चिन्ता तब आती है जब कोई बात हमारे मनके विपरीत होती है। जब भगवान्के प्रत्येक कार्य-विधानको हम अपने अनुकूल, अपने हितमें देखते हैं तो चिन्ता क्यों आवेगी ?

यदि चिन्ता आती है तो करें क्या ? चिन्ता आती है, यह आत्मनिवेदनमें त्रुटि है। चिन्ता इसलिए आती है कि हमारी आस्था पूर्णतः भगवान्में न होकर कहीं और भी है। अतः धनमें आस्था हो तो धनसे सेवा करनी चाहिए, देहमें आस्था हो तो देहसे होनेवाली साधना करनी चाहिए। सब कुछ भगवान्का ही है इसका बार-बार चिन्तन करना चाहिए।

जैसे हमारे दस रुपये कोई ले गया। रुपये प्रभुके थे, उन्होंने किसीको दे दिये तो सामान्य दृष्टिसे लौकिक हानि हुई; किन्तु भक्तको हानि कहाँ दीखती है ! प्रभुके रुपये, उन्होंने दे दिये तो चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

चिन्ता मनमें आयी। कहाँसे आयी ? उसे भी तो प्रभुने ही भेजा है। तब क्या चिन्ता करें कि रुपये क्यों गये ! मनमें यह बात आयी कि चिन्ता प्रभुने भेजी है तो चिन्ता मिट गयी। बुद्धिका उपयोग करके चिन्ता मिटाना चाहोगे तो चिन्ता नहीं मिटेगी। चिन्तामें प्रभुकी प्रेरणा देखो, चिन्ता मिट जायगी।

किसी सेठने पत्र देकर एक मनुष्यको मुनीमके पास भेजा—'इसे अपने पास रख लो।' अपने स्वभावके कारण वह मनुष्य

मुनीमके लिए बहुत दुःखदायी है किन्तु मुनीम उसे रखता है। इसी प्रकार प्रभुकी भेजी चिन्ता है तो दुःखद; किन्तु वह उनका स्मरण तो दिलाती ही है।

श्रीकृष्णने एक बार देखा कि श्रीराधाके हाथमें एक ताजी चोट है। पूछने लगे—'यह चोट कब लगी? कैसे लगी? कहाँ लगी?'

श्रीराधाने हँसकर कहा—'यह तो महीनोंसे है।'

श्रीकृष्ण—'यह तो ताजी है?'

श्रीराधा—'इसपर आनेवाली पपड़ी निकाल देती हूं। इस प्रकार इसे ताजी तो मैं रखती हूं।'

श्रीकृष्ण—'क्यों?'

श्रीराधा—'यह घाव बड़ा सुखद है। यह तुम्हारे नख लगनेसे हुआ है। तुम्हारा स्मरण दिलाया करता है, इसलिए मैं इसे सूखने नहीं देती।'

प्रियतमका दिया दुःख भी सुखदायक होता है। इसलिए कोई कष्ट, कोई अभाव, कोई विपत्ति भक्तको चिन्तित नहीं कर पाती, क्योंकि वह उसे प्रियतमका दिया देखता है।

चिन्ता और भक्तिमें बड़ा अन्तर है। चिन्ताके पेटमें विषय—संसार होता है और भक्ति अपने भीतर भगवान्‌को रखती है। एक ही चित्तमें एक समय भगवान् और संसार दोनों नहीं रह सकते। इसीलिए जब चित्तमें चिन्ता आती है तब भगवान्‌का चिन्तन नहीं रहता, जब भगवान्‌का चिन्तन रहता है तब लोक-चिन्ता नहीं रहती।

लोग तो परस्पर विपरीत बातें भगवान्‌से चाहते हैं। ग्राहक और व्यापारी दोनों भगवान्‌का स्मरण करके दूकानपर आते हैं। अतः भगवान् कभी एकका तो कभी दूसरेका लाभ करनेकी व्यवस्था करते हैं। किन्तु भक्त भगवान्‌से लौकिक लाभकी कामना नहीं

करता। वह तो भगवान्‌की भक्तिमें सन्तुष्ट है। भक्तिका स्वरूप कहा गया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भाग० ७.५.२३)

'भगवान्‌के नाम-गुणका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी चरण-सेवा, पूजा, वन्दना, दास्य, सखाभाव और आत्म-निवेदन, यह नवधा भक्ति है।'

आत्मनिवेदन--जैसे कोई किसीको पुष्प देता है वैसे ही अपनी आत्मा दे देना। प्रेमीका स्वभाव देना है। एक बार मैं गोरखपुर जा रहा था। मार्गमें एक सज्जनके यहाँ रुका। वहाँसे चलने लगा तो उन्होंने मार्गव्यय दिया। मैंने उन्हें बताया कि मार्गव्यय देनेकी आवश्यकता नहीं है, मेरे पास रुपये हैं। वे बोले--'आपको आवश्यकता नहीं है किन्तु मेरा चित्त मानता नहीं है। आवश्यकता मुझे है, आपको नहीं।'

भगवान्‌को वस्तु देना--अपने पास जो कुछ है वह प्रभुका है। अपनी क्रिया दे देना अर्थात् भगवान्‌के लिए ही देह तथा मनके सब कर्म करना। अपनी बुद्धि दे देना--उनके लिए ही सोचना। आत्म-अपना, मैं, दे देना। यह आत्मनिवेदन है।

पहली भक्ति है श्रवण। भगवान्‌के गुण, लीला, रूप तथा नामका श्रवण होता है। रुक्मिणीजीने पिताके घर देवर्षि नारदके मुखसे केवल गुण सुने थे श्रीकृष्णके।

व्रीडां विलोडयति लुञ्चति धैर्यमार्य-
भित्तिं भिनत्ति परिलुम्पति चित्तवृत्तिम्।
नामैव यस्य कलितं श्रवणोपकण्ठे,
दृष्टः स किं न कुरुतां सखि मद्विधानाम्॥

(विदग्धमाधव)

'जिसका नाम सुननेसे ही यह अवस्था होती है कि लज्जा टूट जाती है, धैर्य जाता रहता है, आर्य-मर्यादाका ध्यान नहीं रहता, चित्तवृत्ति डूब जाती है, जिसको देखनेपर, उससे परिचय होनेपर क्या अवस्था होगी ?'

पहिले ही जाय मिले गुननमैं श्रवन अरु,
रूप सुधामधि किये नैनहू पयान हैं।
हँसनि नटनि चितवनि मुसकानि रसि-
काई सुघराई मिलि मति पयपान हैं॥
मोहि मोहि मोहनमयो री मन मेरो भयो
हरीचन्द भेद न परत पहिचान हैं।
प्रान भये कान्हमय कान्ह भये प्रानमय
हियमें न जान परै कान्ह हैं कि प्रान हैं॥

पहले गुण-महिमा, रूप-लीला, नामका श्रवण हुआ और प्राण पकड़े गये। तब मुखसे कीर्तन होने लगा। इसके साथ चित्तमें स्मरण होने लगा। तब मनसे पादसेवनमें लगे। तब मनमें और बाह्यजीवनमें भी अर्चन आया और चित्त वन्दनमें लगा। इससे हृदयने अपनेको उनका दास स्वीकार कर लिया।

दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं आत्मनिवेदनका स्वाभाविक क्रम है। जब पुरुष अपनेको सेवक मानकर सेवामें लगता है तो परम उदार प्रभु उसे अपना मित्र बना लेते हैं। सेवकमें सहज रूपमें वात्सल्य रहता है। सखा होनेपर वह अधिक बढ़ जाता है और फिर शुद्ध वात्सल्य--उन प्रियतमको सुख देने, उनकी सेवा करनेकी भावना बढ़ती जाती है। दास्य अपनी ओरसे भक्त करता है। सख्य भगवान्‌की ओरसे आता है। अन्तमें प्रेमकी प्रगाढ़तामें भक्त अपनेको पूर्णतः दे डालता है।

पूजा और पुजाया प्रभु सब, इसी पुजारिनको समझो।

यह आत्मनिवेदन है। यह 'मैं' का समर्पण है। मेरे भवन, वाहन, धन, परिवार, देह, प्राण, सब तुम्हारे–केवल तुम्हारे लिए।' इस प्रकार प्राणोंका निवेदन करनेके बाद भी यदि मन भटकता है तो संकल्पमात्रका निवेदन प्रभुको कर दो।

उत्तमके अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥

सर्वोत्तम स्थिति आत्मनिवेदनकी क्या है? सम्यक्त्व–सर्वश्रेष्ठत्वकी कल्पना अन्यमें नहीं होती। संसारमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र आदि हैं तो बहुत-से देवता; किन्तु पुरुषोत्तमके अतिरिक्त अन्य मेरे लिए नहीं हैं। वही सर्वश्रेष्ठ हैं, यह बुद्धिका निवेदन है।

बुद्धिकी यह दृढ़ अवस्थिति होनेपर मनकी क्या अवस्था होती है? मन उसीके सम्बन्धमें संकल्प-विकल्प करने लगता है, जैसे पुत्र-मित्रादिके सम्बन्धमें मनमें आता रहता है—'अब उनके भोजनका समय हो गया, अब स्नान करते होंगे, अब शयनका समय हो चुका है।'

आजु सखी मैं प्रीतम पाऊँ!

तब तुम क्या करोगे? कैसे उनका सत्कार करोगे? कैसे उनसे मिलोगे? यह सब मनसे सोचना मनका निवेदन है। केवल **त्वमेव माता च पिता त्वमेव** कह देना आत्मनिवेदन नहीं है।

'प्रभुसे उत्तम अन्य कोई नहीं है' यह निश्चय और 'वे मिलें तो उनकी क्या-क्या सेवा करूँगा!' यह संकल्प होना चाहिए। मन कोई मूर्त पदार्थ नहीं है कि उसे वस्तुकी भाँति किसीको दे दोगे। मनमें न लम्बाई-चौड़ाई है, न मोटाई, न रंग है न वजन। वह अपने वशमें भी नहीं है। अतः मनका निवेदन वस्तुकी भाँति सम्भव नहीं है। मनका संकल्प ही मनका रूप है। मनसे सब संकल्प भगवान्‌के लिए हों तब मनका निवेदन हुआ।

भक्त भगवान्‌को मन तो देना चाहते हैं किन्तु बुद्धि नहीं देना चाहते। वेदान्ती बुद्धि देना चाहते हैं, मन नहीं देना चाहते। यही

दोनोंकी दुर्बलता है। केवल बुद्धि भगवान्में लगाओगे तो मनमें संसारकी वासना रहेगी। केवल मन लगाओगे तो बुद्धि संसारमें लगेगी। अतः भगवान्ने दोनों माँगा—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
(गीता १२.८)

'मुझमें ही मन लगाओ। मुझमें ही बुद्धिको प्रविष्ट करो। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा करनेके पश्चात् तुम मुझमें ही निवास करोग।'

नैंना रे चितचोर बताओ।
तुमही रहत भवन रखवारे बाँके बीर कहाओ॥
घरके भेदी बैठ द्वारपर दिन ही घर लुटवाओ।
नारायन मोहि वस्तु न चहिए लेनहार दिखलाओ॥

गोपलसहस्रनाममें एक नाम है 'चोर-जार-शिखामणिः'। हमारी इन्द्रियोंने संसारमें विवाह कर लिया है। यहाँसे वह इन्हें चुपचाप निकाल ले जाता है, अतः चोर-जार-शिखामणि है। उस 'चितचोर'-की खोज जीवनमें जागनी चाहिए।

जो गीताके प्रेमी हैं वे इस 'चोरजारशिखामणि' से बचते हैं और जो इसके प्रेमी हैं वे गीतासे दूर भागते हैं किन्तु लगाना उनमें मन-बुद्धि दोनों है। बुद्धिसे यह सोचो कि उन्हें कैसे सुख दें। बुद्धिसे उनके स्वरूपका विचार करो।

यस्येन्द्रियाणि निखिलेन्द्रियवृत्तिमन्ति।

श्रीकृष्णकी देह ही विचित्र है। आनन्दकी ज्ञानात्मक सत्तामें यह आकार है। इन श्यामसुन्दरके नेत्र भी सूँघ लेते हैं और हाथ भी देख लेते हैं। यह शुद्ध सच्चिदानन्द विग्रह है। अतः चरणपर चढ़े पुष्पकी सुगन्ध ,इनके पदनख ही सूँघ लेते हैं। वे पुष्पोंका सौन्दर्य देख भी लेते हैं।

'निवेदितात्मा' का अर्थ है कि इस प्रकार अपनी बुद्धि भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करनेमें लगाओ। अपना आनन्द उन्हें अर्पित कर दो। प्रेमी तथा प्रियतमके मिलनमें जो सुख है उस सुखको अपनी ओर मत खींचो—यह काम है। उस आनन्दको जो प्रियतमको देता है वह प्रेमी है।

भक्त इसलिए रोता है कि 'आज मैं भोजन बनाकर प्रभुको भोग नहीं लगा सका। मेरे हाथका भोजन न मिलनेसे ठाकुरजीने ठीकसे भोजन नहीं किया होगा। आज वे भूखे रह गये।'

संसारमें शरीर हैं, शरीरमें मन तथा बुद्धि हैं। बुद्धिमें आनन्द और उसमें 'अहं' है। यह सब-का-सब जिसका प्रियतमका हो जाय वह निवेदितात्मा है। वाल्मीकीय रामायणमें आया है—'जन्म सफल किसका ? राम जिसके अपने और जिनको राम अपना मानते हैं उनका।'

निवेदनका स्वरूप मिलता है व्रजवासियों में। ब्रह्माने व्रजका प्रेम देखा तो भगवान्से बोले—

> एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
> श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
> सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
> यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥
>
> (श्रीमद्भाग० १०.१४.३५)

'श्रीकृष्ण ! जब मैं यह सोचता हूँ कि आप इन व्रजवासियोंको क्या देंगे, क्या दे सकेंगे, तो मेरी बुद्धि भ्रममें पड़ जाती है। विश्वमें जितने भी फल हैं उनके भी परम फल तो आप हैं। आपसे उत्तम फल सोचनेपर भी मुझे कुछ दीखता नहीं। जब द्वेष करके आपको मारने आयी पूतना अपने पूरे कुलके साथ आपको ही प्राप्त हो गयी तो जिनके भवन, धन, कुटुम्बी, प्रियजन, पुत्र तथा मन-प्राण भी आपके ही लिए हैं उन्हें आप क्या दे सकते हैं ? आप तो दुष्टोंकी

दुष्टताके मूल्यमें बिकते फिरते हैं, इन परम प्रेमियोंको देनेके लिए आपके पास है क्या ? अतः आप तो सदा इनके ऋणी ही रहेंगे !'

परमहंस रामकृष्ण कहते थे—'माँ ! जब कभी, जहाँ-कहीं, जो कुछ मैं था, हूँ और रहूँगा---तेरा ही हूँ ।'

श्रीमद्भागवतमें उद्धवको उपदेश करते समय भगवान्ने अन्तिम उपदेशमें कहा—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ।।
(११.२९.३४)

'मनुष्य जब सब कर्मोंको छोड़ देता है, कर्म, कर्मफल और कर्तापन तीनोंका त्याग कर देता है और मुझे आत्मनिवेदन कर देता है तो वह मुझे अत्यन्त प्रिय हो जाता है। तब वह अमृतत्वको प्राप्त कर मेरा ही स्वरूप बन जाता है।'

श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपना ग्रन्थ 'अद्वैतसिद्धि' पूर्ण करके अन्तमें लिखा--

ग्रन्थस्यैतस्य यः कर्ता स्तूतां वा सनिन्द्यताम् ।
मयि नास्त्येव कर्तृत्वमखण्डानुभवात्मनि ।।

'इस ग्रन्थका जो रचयिता—कर्ता है उसकी लोग प्रशंसा करें या निन्दा करें। मैं अखण्ड-अनुभवस्वरूप आत्मा हूँ। मुझमें तो कर्तृत्व है नहीं।'

श्रीरामानुजाचार्य भगवान्से प्रार्थना करते कहते हैं--

मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव ।
नियतं त्वमिति प्रबुद्धधीरथवा किं नु समर्पयामि ते ।।
(श्रीआलवन्दारस्तोत्र श्लोक ५६)

'मैं तो स्वप्न देखता था कि यह 'मैं' और यह 'मेरा'; अब जागा तो देखता हूँ कि जिसे मैं 'मेरा' मानता था और जो 'मैं' था; वह तो निश्चित रूपसे तुम्हारा ही है। अब समर्पण क्या करूँ !'

निवेदितात्मा विचिकीर्षितः—भगवान्‌ने कहा कि जो निवेदितात्मा हो गया वह मुझे विशेष रूपसे प्रिय हो जाता है। तब मैं उसे सद्‌गुणविभूषित करना चाहता हूँ, विशिष्ट बनाना चाहता हूँ। **तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानः**—तब मैं उसे अमृत पिलाता हूँ।

'लोकहानौ चिन्ता न कार्या'—इन्द्र और वृत्रासुरका युद्ध हो रहा था। इन्द्रको वज्र मिल चुका था। वृत्रासुरको पता था कि भगवान् इन्द्रकी सहायता कर रहे हैं और विजय इन्द्रकी होगी। वृत्रके लिए सब प्रकारकी 'लोकहानि' प्राप्त है; किन्तु वह इन्द्रकी हँसी उड़ाता कहता है—'इन्द्र! अपने स्वामीका स्वभाव मुझे ज्ञात है!'

त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः॥

(श्रीमद्भाग० ६.११.२३)

'हमारे स्वामी अपने जनके अर्थ, धर्म, कामकी प्राप्तिके लिए किये जानेवाले प्रयत्नको नष्ट कर देते हैं। जब ये प्रयत्न नष्ट हो जायँ तो अनुमान करना चाहिए कि भगवान्‌ने मुझपर कृपा की है। अकिञ्चनगोचर प्रभुकी यह कृपा उनके भक्तोंको छोड़कर दूसरोंके लिए दुर्लभ है।'

धन नहीं मिलने देंगे, यज्ञ नहीं करने देंगे, भोग नहीं भोगने देंगे। तब तो भगवान् बड़े निष्ठुर हैं? नहीं, यह तो उनकी बड़ी कृपा है। इससे तो पता लगता है कि वे अब हमपर प्रसन्न हुए हैं। यदि वे वासनाके मार्गमें जानेकी छुट्टी दे देते तो यह उनकी कृपा नहीं होती। वासनासे हटाकर अपने समीप ले आते हैं यह उनकी कृपा है। वासना तो प्रभुसे दूर हटाकर संसारमें ले जाती है। वे अपनेसे दूर जाने दें तब उनकी कृपा कैसे हो सकती है! इस कृपाको त्यागी लोग पहचानते हैं कि 'हम तो फँसने ही जा रहे थे, प्रभुने बचा लिया।'

मेरे एक सिन्धी मित्र पाकिस्तान बननेपर सिन्ध छोड़कर भारत आ गये। जो-जो काम किये सब व्यर्थ रहे। पहले कारखाना खोला। वह नहीं चला तो कपड़ेकी दूकान की। उसमें भी घाटा हुआ। जो काम प्रारम्भ करें उसीमें हानि हो। एक दिन मेरे पास आकर बोले—'स्वामीजी! मुझे तो आजकल बड़ा आनन्द आ रहा है। भगवान्‌ने मेरा नाम पहचान लिया है। जिस काममें मेरा नाम पड़ता है उसीमें घाटा होता है। भाईका या लड़केका नाम पड़ता है तो घाटा नहीं होता।'

वे वृन्दावनमें रहने लगे और भजन करने लगे। पीछे उन्हें दिल्लीमें कुछ मकान मिल गये जिनको आयसे कुटुम्बका पालन होता है। भगवान्‌ने कहा भी है--

> यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
> ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥
> स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया।
> मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्॥
>
> (श्रीमद्भाग० १०.२१.१४)

'जिसपर मैं कृपा करता हूँ उसके धनका धीरे-से हरण कर लेता हूँ। निर्धन होनेपर उसे सगे-सम्बन्धी त्याग देते हैं। निर्धनता-का दुःख उसे पहलेसे था ही, स्वजनोंके त्यागका दुःख और हो जाता है। धनप्राप्तिके लिए प्रयत्न करता है तो मैं उसे सफल नहीं होने देता। इस प्रकार उद्योग व्यर्थ हो जानेपर जब उसे धनकी कामनासे वैराग्य हो जाता है तब वह मेरे भक्तों—सन्तोंका सत्संग करता है। तब मैं उसपर कृपा करता हूँ, उसे अपना बना लेता हूँ।'

एक परिचितके पास सौ-सौ रुपयेके छः नोट थे। उन्होंने एक लोहेकी पेटीमें उन्हें बन्द किया और पेटी भूमिमें गाड़ दी। चार महीने बाद पेटी निकालकर खोली तो नोट पानी हो चुके

थे। यदि वे चार मास पूर्व ही उन नोटोंको खर्च कर देते तो ईश्वरको इतनी गड़बड़ नहीं करनी पड़ती।

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ईश्वर सदा ऐसी ही कृपा करता है। भला उसके समान उदार कौन है!

धाना निश्चिनुते कुचैलमुनये दत्ते स्म वित्तेशताम्।

'खेतमें गिरे दाने चुनकर किसी प्रकार पेट भरनेवाले, मैले चिथड़े लपेटे रहनेवाले सुदामाको उसने कुबेरकी सम्पत्ति दे दी।' ध्रुवने केवल छः महीने तप किया था, उन्हें सम्राट् बनाया और अविनाशी पद दे दिया। अतः भगवान् यदि थोड़ा कुछ छीन लें तो दुखी नहीं होना चाहिए। दुखी तो तब होना चाहिए जब घरमें अन्यायका पैसा आवे। सोचना चाहिए—'यह घरमें विपत्तिका दूत आ गया।' धन गया, उस दिन दुःखका कोई कारण नहीं है।

निश्चिन्तताकी स्थिति आनेतक लोकमर्यादाकी रक्षा और निष्काम साधन आवश्यक

• संगति

अब कहो कि 'अपने जीवनमें तो ऐसी निश्चिन्तता नहीं आती कि हम सब कुछ भगवान्‌पर छोड़ दें।' इसमें कारण यह है कि जबतक मनुष्यमें कर्तापनका दृढ़ भाव है--'हम यह करते तो यह होता' ऐसा विचार करनेका स्वभाव है, तबतक वह सब कुछ भगवान्‌को निवेदित करके निश्चिन्त नहीं हो सकता।

मनुष्य कहता है--'प्रभु! यह ठीक है कि बहुत-कुछ आप ही करते हैं; किन्तु कुछ-थोड़ा हम भी करते हैं।'

ग्वालबाल कहते थे--'कन्हाई! कुछ अकेले तूने ही गिरिराज नहीं उठाया था, हम सबने भी लठिया लगायी थी।'

कर्तृत्वाभिमान रहनेतक मनुष्य सब कुछ ईश्वरपर नहीं छोड़ सकता। अतएव यह अभिमान ही छोड़ देना चाहिए।

फिकर फाँकि फँकनी करै, ताको नाम फकीर।

इतनी निश्चिन्तता नहीं आती तो भगवान्‌से प्रतिदिन प्रार्थना करो--'हम समझते तो हैं कि हमारी सब चिन्ता आपको है पर हमारा कर्तृत्वाभिमान नहीं मिटता इसीलिए चिन्ता भी नहीं मिटती। इस अभिमान और चिन्ताको आप मिटा दें।'

इस प्रकार प्रार्थना करते रहो और भजन छोड़ो मत। बुराइयाँ आती ही तब हैं जब हम निकम्मे होते हैं। किन्तु जबतक

पूर्णतः भगवान्पर निर्भर होकर निश्चिन्त न हो जाओ, तबतक लौकिक मर्यादाका पालन करते रहो।

न तदसिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः किन्तु फलत्यागस्तत् साधनं च कार्यमेव ॥ ६२ ॥

निश्चिन्तताकी सिद्धि न होनेतक लौकिक व्यवहार त्याज्य नहीं है; किन्तु फल (कर्मफल)का त्याग करते हुए उस (निश्चिन्तता) का साधन करना ही चाहिए ॥ ६२ ॥

'तदसिद्धौ—निश्चिन्ततायाः असिद्धौ'। लौकिक हानि होनेपर मनुष्यको चिन्ता हो जाती है।

मेरे एक मित्र श्रीहनुमान्‌जीकी प्राप्तिका साधन करने लगे। अनुष्ठान चालीस दिनका था और उसमें हनुमान्‌जीका स्मरण बना रहना चाहिए था। वे नदी-किनारे छप्पर डालकर रहते थे। अड़तीस दिन उनके बहुत अच्छे बीते। अड़तीसवीं रातको उनकी झोपड़ीपर चोर डंडा लिये पहुँचे और बोले—'तुम्हारे पास लोटा-थाली, बर्तन-आटा आदि जो कुछ है, सब दे दो, नहीं तो हम तुमको बहुत पीटेंगे।'

वे डर गये। चोरोंको सब कुछ उठाकर ले जाने दिया। अब भजन करने बैठे तो हनुमान्‌जीका स्मरण न हो, मनमें डंडा लिये चोर दीखें। स्मरणमें विघ्न पड़ गया।

दूसरी बार उन्होंने फिर अनुष्ठान प्रारम्भ किया। इस बार नर्मदाके बीचमें मचान गाड़कर छप्पर डाला और अपने पास कोई सामग्री नहीं रखी। इस बार भी अड़तीस दिन ठीक बीते। उनतालीसवीं रात्रिको उन्हें लगा कि नर्मदाजीमें बाढ़ आ रही है। जल उनके मचानका स्पर्श करने लगा है। लगता था कि मचान टूटकर बहने ही वाला है। अन्तमें वे मचानसे कूद पड़े। कूदनेपर देखा कि नर्मदामें जल तो पहले ही जितना है। बाढ़ आयी नहीं

है। अब डर लगा कि यह क्या है! भयसे थर-थर काँपने लगे। हनुमान्‌जीका स्मरण भूल गया। अनुष्ठानमें डरना भयानक फल देता है।

ईश्वरपर विश्वास रखो। तुम कुएँमें भी गिरोगे तो उसके हाथ इतने लम्बे हैं कि तुम्हें वहाँसे उठा लेगा। अपना धर्म कभी नहीं छोड़ना, चाहे संकट कितना भी बड़ा सामने दीखता हो।

जो हठि राखै धर्मको, तेहि राखै करतार।

धर्मो रक्षति रक्षितः—अपनी ओरसे तुम धर्मकी रक्षा करोगे तो धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा। मनमें चिन्ता आती है इसलिए लोकव्यवहार ही मत छोड़ दो। लोकव्यवहार करते जाओ और ईश्वरका भरोसा रखो। वह तुम्हें निश्चिन्तता देगा।

भक्ति और ज्ञानके यही अन्तर हैं। ज्ञानमार्ग 'त्वं'-प्रधान है। उसमें जिसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके अविद्याका आवरण-भंग करना है उसे तत्त्वज्ञान-प्राप्तिके लिए सम्पूर्ण तैयारी भी करनी पड़ेगी। इस तैयारीमें है निवृत्ति—त्याग, वैराग्य। ज्ञानमार्ग 'नेति-नेति'का मार्ग है। उसमें छोड़ना ही छोड़ना है।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज जब विरक्त होकर भ्रमण करते थे तब उनके पास केवल एक लकड़ीका कमण्डलु था। गंगा-किनारे विचरण करते थे। काशीमें हिन्दू विश्वविद्यालयसे लगभग ३-४ मिल दूर नगरकी विपरीत दिशामें एक शूल-टंकेश्वर स्थान है। वहाँ पहुँचनेपर मनमें आया—'इतने दिन गृहत्याग किये हो गये, अभीतक ईश्वर-प्राप्ति हुई नहीं। सब साधन व्यर्थ हैं।' जाकर शंकरजीकी मूर्तिको पैर लगाकर बैठ गये और निश्चय किया—'यदि चौबीस घंटेमें कोई अनुभव नहीं हुआ तो गंगामें कूदकर देह त्याग दूँगा।'

उसी रात्रिमें मूर्तिसे भगवान् शंकर प्रकट हो गये और उन्होंने उपदेश किया—•

नेति नेतीति वाक्येन शेषितं यत्परं पदम्।
निराकर्तुमशक्यत्वात् तदस्मीति सुखी भव॥

'नेति-नेति' इस श्रुतिवाक्यसे समस्त दृश्य प्रपञ्चका निषेध कर देनेपर जो परम पद, चैतन्य सत्ता बच रहती है उसका निषेध करना सम्भव नहीं है। 'वह मैं हूं' ऐसा समझकर सुखी हो जाओ।

येन त्यजसि तत्त्यज - जिस ज्ञान-विवेकशक्तिसे सबका त्याग कर रहे हो उसे भी लगा दो। यह ज्ञानमार्ग है। भक्तिमार्गकी पहली शक्ति यह है कि अपने 'अहं'के सुखके लिए जो कामना है उसे छोड़ दो। वह सब हम करेंगे जो तुम कराओगे। अपना स्वार्थ अपना संकल्प कुछ नहीं।

'लोकवेदव्यापारन्यासः' भक्तिकी विशेषता है। लौकिक और वैदिक सब कर्म भगवान्‌को अपंण कर देने हैं। कर्मोंका त्याग नहीं, कर्म तो करते रहना; किन्तु करना भगवान्‌के लिए।

एक व्यक्तिने वकालत त्याग दी और साधु बनने ऋषिकेश चला गया। दूसरेने वकालत नहीं छोड़ी किन्तु उससे होनेवाली आय भगवत्सेवामें लगाने लगा। उसे कर्म करते समय भी स्मरण रहता है कि वह कर्म किसके लिए करता है।

ज्ञानमार्ग विरक्तिकी प्रधानता लेकर चलता है तो भक्तिमार्ग स्मृतिकी प्रधानता लेकर। ज्ञानमें छोड़नेकी-त्यागकी प्रधानता है तो भक्तिमें पकड़नेकी--रागकी।

लोक-व्यवहारमें-धर्मपालनमें चिन्ता होती है तो मनमें आता है--'इस सबको छोड़ ही दो।' पर तुम छोड़नेवाले होते कौन हो! जब पहले ही सब भगवान्‌को निवेदन कर दिया कि 'मैं तुम्हारा हूं' तब तुम्हें छोड़नेका अधिकार कहाँ रहा! तुमने अब लौकिक-वैदिक व्यवहार, शरीर, मन, प्राण सब भगवान्‌का सम्हाल रखा है। इसे छोड़ो मत, इसका ठीक-ठीक पालन करो।

'लोकव्यवहारो न हेयः'—कहो कि 'लौकिक व्यवहारमें लगने-पर चिन्ता होती है, भगवान्‌का स्मरण छट जाता है इसलिए इसे त्यागना चाहते हैं' तो यह तुम्हारी भूल है ! चिन्ता तुम्हारी भूलके कारण, समर्पणमें त्रुटि होनेसे होती है। व्यवहारको तुम संसारकी सेवा मत मानो। इसे भगवान्‌का कार्य, उनकी सेवा मानो। जब माल दूसरेका है वह और वह स्वयं लुटा रहा है तो तुमको चिन्ता क्यों होती है ! इसका अर्थ है कि तुमने न माल उसका माना और न तुममें विश्वास ही है कि वह हमारा भरण-पोषण करेगा।

'फलत्यागस्तत्साधनं च कार्यमेव'—तुम अपनी त्रुटि दूर करो। तुम अपनी वासना पूर्ण करना चाहते हो, अपना सुख चाहते हो, इसलिए तुम्हें चिन्ता होती है। इसीलिए तुम्हें दुःख होता है। तुम भगवान्‌की इच्छा पूर्ण करना चाहते तो तुम्हें दुःख क्यों हो ! जब भगवान् देखते हैं कि यह हमारी सेवाके लिए व्याकुल है तब वे नित्य निष्काम होते हुए भी सकाम बनकर सेवा बतलाते हैं—'हमें यह भोजन, ये वस्त्र, यह पुष्प प्रिय है।'

'फलत्यागः'--फल क्या ? जब हम कुछ काम बाहर करते हैं तब उसका प्रभाव हमारे मनपर पड़ता है। जैसे किसी दीनको दान किया तो मनमें प्रसन्नता आयी। किसीको गाली दी तो पीछे मनमें ग्लानि हुई। यह फल है। गाली देने या दान देनेका जो संस्कार चित्तपर पड़ा वह अहंके साथ जुड़ा--प्रतिफलित हुआ, वह फल है। अतः काम तो करो किन्तु आत्मतुष्टिके लिए मत करो, प्रभुको सन्तुष्ट करनेके लिए करो।

जब तुमसे कोई भूल हो जाय--तब उसे प्रभुको निवेदन कर दो। भूल बतानेसे भी वे सन्तुष्ट होते हैं। यह देखते रहो कि हम जो कुछ करते हैं वह अपने लिए है या प्रभुके लिए ! नौकरी हम करें किन्तु वेतनके स्वामी प्रभु बनें। ऐसी अवस्थामें नौकरी, व्यापार छोड़नेका प्रश्न ही भक्तके लिए नहीं उठता।

'तत्साधनं च कार्यमेव'––ईश्वरके लिए जो कार्य करते हो उसे करते ही रहना। अपने लिए कुछ न चाहना। ऐसा करनेसे धीरे-धीरे भक्ति आ जायेगी।

कोई तुमसे संसारकी चर्चा करे तो उसकी बातकी ओरसे मन हटा लो। इस सम्बन्धमें महात्माओंकी स्थिति भिन्न होती है। एक सन्त कहते हैं––'कोई संसारकी चर्चा करने लगे तो उसकी बात सुनो मत, कोई भगवान्‌की चर्चा छेड़ दो। कोई पुस्तक पढ़कर सुनाने लगो।'

श्रीहरिबाबाजी महाराजसे कोई लौकिक चर्चा करने लगे तो वे उठकर चल देंगे। न उसकी बात सुनेंगे, न उसे कुछ सुनावेंगे। कुछ महात्मा मना कर देते हैं––'संसारकी चर्चामें क्या रखा है! भगवान्‌की चर्चा करो!'

यह देखो कि जो तुम्हारे समीप आता है वह तुम्हारे चित्तमें श्रद्धा भरता है या शंका? यदि वह शंका, अविश्वास, द्वेष, घृणा भरता है तो वह शत्रु है। उसकी बात सुनकर दुःख पाओगे। दूकान-पर कोई ग्राहक आया है तो इतना तो देखो कि उसके साथ सौदा करनेपर लाभ होगा या हानि? तुम दूकानपर तो लाभ-हानि देखते हो किन्तु कोई मनुष्य बात करने आया तो नहीं देखते कि यह तुम्हारे हृदयको कैसा बनाने आया है? जो तुमको श्रद्धा, वैराग्य, भक्ति, भगवान्‌का अनुभव देता है वह लाभ देता है। इसके विपरीत जो भ्रान्ति, संशय, मोह, क्रोध, घृणा, राग देता है वह हानि देता है।

●

स्त्री, धन, नास्तिक तथा शत्रुकी चर्चा त्याज्य

● संगति

जब लोकव्यवहार त्याज्य नहीं है तब लोकव्यवहारमें कैसे रहना चाहिए यह बतलाना भी आवश्यक है। लोकव्यवहार करते हुए क्या करना, क्या नहीं करना, इसका संक्षिप्त निर्देश तीन सूत्रोंमें देते हैं। सबसे पहले यह बतलाते हैं कि लोकव्यवहारमें रहते हुए कौन सी चर्चा नहीं सुननी चाहिए क्योंकि नेत्रके मार्गसे संसार चित्तमें बहुत कम पहुँचता है। अधिक बातें चित्तमें कर्णके मार्गसे ही पहुँचा करती हैं। इसलिए श्रवणपर प्रतिबन्ध लगाना बहुत आवश्यक है।

स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं[1] न श्रवणीयम् ॥ ६३ ॥

स्त्रियोंकी चर्चा, धन तथा धनियोंके धनोपार्जनकी चर्चा, नास्तिककी चर्चा एवं शत्रुकी चर्चा नहीं सुननी चाहिए ॥ ६३ ॥

स्त्री-चरित्र न सुननेका अर्थ है कि स्त्रीका कामवर्धक चरित नहीं सुनना चाहिए। इसी प्रकार स्त्रियोंको पुरुषोंका कामवर्धक चरित नहीं सुनना चाहिए। स्त्रियोंमें भगवान् कपिलकी माता देवहूति, शबरी, श्रीजानकीजी, श्रीपार्वतीजी तथा गोपियोंका चरित नित्य पवित्र, नित्य मंगलमय है। सती, भक्तिमती, आचारपरायण स्त्रियोंके चरित-श्रवणका यहाँ निषेध नहीं है। यह निषेध है कामकी वृद्धिका।

---

१. पाठभेद—'स्त्रीधननास्तिकचरित्रं'

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६.२१)

'अपना विनाश करनेवाले ये तीन नरकके द्वार हैं--काम, क्रोध तथा लोभ। अतः इन तीनोंका त्याग कर दे।'

यहाँ देवर्षि नारदने इन्हीं तीनों नरकके द्वारोंके त्यागकी बात कही है। स्त्रीचरित अर्थात् कामवर्धक-चरित, धनचरित अर्थात् लोभवर्धक-चरित और वैरिचरित अर्थात् क्रोधवर्धक-चरित। शत्रुका कष्ट सुनकर कि वह भूखा, रोगी, पराजित, अपमानित है, जो प्रसन्नता होती है वह भी द्वेष ही है। जिससे हमारा द्वेष है वह विपत्तिमें पड़े तो हमारे चित्तको प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार रागसे भी दुःख होता है। जिससे हमारा राग है वह कष्टमें पड़े तो हमें दुःख होगा।

द्वारकामें परिहास करते हुए जब श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीरुक्मिणीजी-से कहा—'अपने अनुकूल किसी नरेशके पास चले जाओ!' तो उत्तर देते समय भी रुक्मिणीजीने कहा--

त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्त-
मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम्।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा
या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री॥

(श्रीमद्भाग० १०.६०.४५)

'जो स्त्री आपके चरणकमलका मकरन्द नहीं सूँघ पाती, उसका रस नहीं जानती वही अत्यन्त मूर्खा दाढ़ी-मूँछ, केश, रोम तथा नखसे युक्त चमड़ेमें सिले हुए मांस, हड्डी, रक्त, कीड़े, विष्ठा, बात, पित्त, कफ, वायुसे भरे जीवित शवको प्रियतम मानकर उसमें अनुरक्त होती है।'

पिंगला नामक वेश्याको जैसे शरीरमात्रसे वैराग्य हो गया था वैसे भक्तके मनमें काम-क्रोध-लोभसे वैराग्य होना चाहिए। जिनके

समीप बैठनेसे, जिनकी चर्चासे मनमें काम, क्रोध, लोभ संशय नास्तिकता बढ़े उनके संग, उनकी चर्चाका त्याग कर देना चाहिए।

पूरा नास्तिक तो संसारमें कोई हो नहीं सकता। क्योंकि नास्तिकका अर्थ ही है अपूर्ण। जो 'सम्पूर्ण सृष्टि और उसके अधिष्ठानको देखकर, पहचानकर कहे—मैंने सब देख लिया। ईश्वर कहीं नहीं है।' तब उसकी बात प्रामाणिक हो सकती है। सर्वके अभावके द्रष्टा बनो तब तुम स्वयं ब्रह्म हो जाओगे। इस प्रकार सर्वज्ञता प्राप्त करके ही 'नास्ति' कहनेका अधिकार होता है। खोज पूरी किये बिना तुम्हें 'नहीं है' कहनेका क्या अधिकार है? इसलिए नास्तिकका अर्थ है भटका हुआ—संशयग्रस्त। उसका चरित, उसकी चर्चा सुनोगे तो तुम्हारे चित्तमें भी संशय ही आवेगा।

अच्छे पुरुषका काम है विवेक करना। तुम भोजनमें विवेक करते हो कि क्या खाना चाहिए, क्या नहीं खाना चाहिए? एक चीनीने एक भारतीय मित्रको पार्सलसे अँचार भेजा। खोलनेपर उसमें मेंढकोंका अँचार निकला। वे लोग तो सर्वभक्षी हैं। क्या खाना, क्या नहीं– यह फिर भी उन्हें सोचना पड़ता है। इसी प्रकार वस्त्रोंके विषयमें, तुम सोचते हो—यह पहनना, यह नहीं। सूँघनेके विषयमें, स्पर्श करनेके विषयमें भी विचार करते हो। तब सुननेके विषयमें ही क्यों विचार नहीं करते? यह नियम क्यों नहीं बनाते कि 'एतन्न श्रवणीयम्'—यह नहीं सुनना चाहिए।

तुम्हारे मकानमें कोई अपनी गन्दी नाली डाले, अपना कचरेका टब तुम्हारे कमरेमें उलटना चाहे तो क्या उसे ऐसा करने दोगे? तब यदि कोई अपने चित्तकी समूची गन्दगी तुम्हारे कानोंके मार्गसे तुम्हारे चित्तमें उड़ेल देता है तो इसपर तुम प्रतिबन्ध क्यों नहीं लगाते? इसका अर्थ है कि तुम्हें अपने हृदयकी स्वच्छतासे उतना भी प्रेम नहीं है जितना अपने कमरेकी स्वच्छतासे है।

जब कोई वेदकी, ईश्वरकी, तुम्हारे इष्ट-गुरु या साधनकी निन्दा करने लगे तो शास्त्रकी आज्ञा है—

हरिहर निन्दा सुनै जे काना। होइ पाप गोघात समाना॥
काटिय तासु जीभ जो बसाई। स्रवन मूँदि नतु चलिय पराई॥

वहाँसे कान बन्द करके भाग जाना चाहिए। जिसे अपने हृदयके गन्दे होनेका ध्यान नहीं है वह साधन-मार्गमें कैसे चलेगा! जैसे दूकानसे कुछ खरीदते समय ठीक जाँच करके वस्तु लेते हो वैसे ही जाँचकर भोजन करो। हृदयके लिए भोजन पहुँचानेका सबसे बड़ा मार्ग कान है। नेत्रका मार्ग छोटा है। संसारमें तुम बहुत थोड़ी बातें देखते हो। बहुत बातोंके संस्कार चित्तपर सुनकर ही पड़ते हैं।

कान खुले रहते हैं। उनमें राह चलते शब्द पड़ जाते हैं। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे—'ध्यान मत देना।'

किसीने उनसे जाकर कहा—'महाराज! कुछ लोग आपकी निन्दा करते हैं।'

बोले—'मच्छर कानके पास भनभनाते हैं तो तुम उनकी बात समझते हो?'

'नहीं!'

'ऐसे ही निन्दकोंकी भाषा भी मत समझो! उसपर ध्यान मत दो।'

मैं गोरखपुरमें था तब शामको घूमनेके लिए रेलवे अधिकारियोंके बँगलोंकी ओर जाता था। वहाँ अँग्रेजोंके बच्चे मिलते और वे अँग्रेजीमें गाली देते। एक दिन एक अँग्रेजी जाननेवाले सज्जन मेरे साथ टहलने गये। बच्चोंने गाली दी तो उनसे समझने लगे! मुझे लगा—'इनसे तो हम अँग्रेजी न जाननेवाले ही अच्छे हैं।'

कोई तुम्हारी निन्दा करे, गाली दे तो समझो कि यह कोई दूसरे लोककी भाषा बोल रहा है! महत्माओंने तो कहा है—

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिनु पानी बिनु साबुनै, निर्मल करै सुभाय॥

एक अच्छे महात्मा थे। एक बार वे लखनऊ गये। वहाँ उनकी ससुराल थी। उनकी ससुरालके लोग उन्हें अपने घर बुला ले गये। वहाँ एक ब्राह्मण आये तो वे महात्माको फटकारने लगे—'तुम कैसे साधु हो, पूर्वाश्रमके सम्बन्धियोंके घर घूमते-डोलते हो!'

देरतक वे ब्रह्मण बोलते रहे, महात्माकी निन्दा करते रहे। जब चुप हो गये तो महात्माने कहा—'बस! मैं तो बड़े ध्यानसे आपकी बातें इसलिए सुन रहा था कि आप कोई ऐसा दोष मुझमें बतावेंगे जिसका मुझे पता न हो। आपने तो वही बातें कही हैं जो मैं पहलेसे जानता हूँ।'

भगवान् बुद्धको एकने बहुत गालियाँ दीं। जब वह चुप हो गया तो बुद्धने पूछा—'भन्ते! यदि तुम मुझे कोई वस्तु दो और मैं उसे स्वीकार न करूँ तो वह किसके पास रहेगी?'

वह बोला—'मेरे पास ही रहेगी।'

बुद्ध—'तुमने जो ये गालियाँ मुझे दीं उन्हें मैं स्वीकार नहीं करता।'

इसलिए हमें प्रत्येक दशामें देखते रहना चाहिए कि इस बातसे हमारा हृदय गन्दा होगा या शुद्ध। जो संसारको बनाना चाहता है वह विषयी है, जो हृदयको बनाना चाहता है वह साधक है। इसलिए सम्पूर्ण सृष्टिके मूल्यपर भी तुम अपने हृदयको मत बिगड़ने देना।

धन, भोग, संग्रह, स्त्री क्यों चाहिए? अपने मनको सुख देनेके लिए। इसलिए जो दुःख हो रहा हो उसे त्याग दो। समस्त विश्वकी सम्पत्ति–साम्राज्य मिलता हो और उसके मिलनेसे हृदय नरक बन जाता हो तो वह सम्पत्ति किस कामकी! किसी वस्तु एवं

कार्यका प्रयोजन देखना चाहिए। विषयी वह है जो अपने हृदयकी सुख-शान्ति मिटाकर वस्तुओंको चाहता है। साधक वह है जो वस्तुका त्याग करके भी हृदयकी शान्ति चाहता है। संसारी दो प्रकारके होते हैं। जो दूसरोंको दु:ख, अशांति देकर वस्तु-भोगको चाहता है वह पामर है। जो दूसरोंकी शान्ति भंग किये बिना सुख-वस्तु चाहता है वह विषयी है।

साधकको विषयकी चर्चा तथा विषयी पुरुषोंका संग त्याग देना चाहिए क्योंकि संसारासक्त पुरुष रागपूर्वक चर्चा करेगा, तो अर्थ या कामकी—धन अथवा स्त्रीकी चर्चा करेगा और द्वेषपूर्वक चर्चा करेगा तो शत्रुकी चर्चा करेगा। अपनी आस्थाकी चर्चामें वह ईश्वरके सम्बन्धमें सन्देह बढ़ानेवाली बातें ही कर सकता है। अत: स्त्री, धन, शत्रु और नास्तिककी चर्चा तो भक्तको सुननी ही नहीं चाहिए।

अभिमान और दम्भ आदि त्याज्य

● संगति

लोक-व्यवहारमें रहते बाह्याचरणोंमें क्या त्याज्य है यह बताकर अब बतलाते हैं कि आन्तरिक आचरणमें क्या त्याज्य है। दूसरे स्त्री, धन, नास्तिक शत्रुकी चर्चा करें तो उसे मत सुनो। जो अपनी ओरसे इनकी चर्चा करे वह तो साधक ही नहीं है। अब अपने आचरणमें कौन-कौन सी बातें नहीं आने देनी हैं, यह बतलाते हैं।

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम् ॥ ६४ ॥

अभिमान, दम्भ आदिका त्याग करना चाहिए ॥ ६४ ॥

जो सांसारिक वस्तुको प्राप्त करके हर्षित होता है उसे गर्व आता है और गर्व आनेपर धर्मका उल्लंघन होता है—हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममनुक्रामति।

अभिमान ही हमारे हृदयमें ईश्वरको नहीं आने देता। हम बड़े विद्वान्, बड़े तपस्वी, बड़े सुखी, बड़े धनी, बड़े अधिकार-सम्पन्न बड़े,बड़े, बड़े……'यह अभिमान है।

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम्॥

(श्रीमद्भाग० १.८.२६)

देवी कुन्तीने कहा—'उच्च कुलमें जन्म होनेसे, बहुत अधिकार मिल जानेसे, बहुत पढ़ लेनेसे अथवा बहुत धन होनेसे जिन पुरुषोंका

अभिमान बढ़ गया है वे तो अकिञ्चनोंको दर्शन देनेवाले आप (भगवान्)का नाम लेनेके भी अधिकारी नहीं हैं।'

अधिक भोगकी प्राप्तिका एक मद होता है। उस मदसे मतवाला होकर व्यक्ति सोचता है—'हमारे जैसा कौन है !'

किसीको कर्मका अभिमान होता है—'यह मैंने किया। यह मैंने बनवाया। मेरे बिना यह कार्य नहीं हो सकता था।'

'अरे न भोग साथ जानेवाले हैं, न कर्म। जिन बेटे-बहुओंसे छिपाकर, बचाकर लोग धन संग्रह करते हैं, मरनेपर वह धन उन बेटे-बहुओंके ही हाथ पड़ता है। जिन्होंने मदुराका मीनाक्षीमन्दिर और श्रीरंगम्-मन्दिर बनवाया उनके नाम भी कम ही लोग जानते हैं। उनके कर्मके सम्मुख तुम्हारा कर्म कितना है !

लोगोंको विद्याका–त्यागका अभिमान होता है। किन्तु जब हम शांकरभाष्य, अद्वैतसिद्धि जैसे ग्रन्थोंकी ओर देखते हैं, जिनकी एक पंक्तिका खण्डन भी आजके बड़े-बड़े विद्वान् नहीं कर पाते, तो आजके व्यक्तिका विद्याभिमान उपहासास्पद लगता है।

अभिमान एक घेरा, एक सीमा है। वह हमको 'यह' वाला बना देता है। ईश्वर घेरेमें नहीं आता। अभिमान अपनेसे भिन्नमें तादात्म्य करके होता है। इस प्रकार जब अन्यमें तादात्म्य करके हम परिच्छिन्न हो जाते हैं तब ईश्वर हमसे दूर हो जाता है।

चाखा चाहै प्रेमरस, राखा चाहै मान।
एक म्यानमें दो खडग, देखे सुने न कान॥

'अहं'के इस प्यालेमें न ईश्वर आता, न प्रेम। 'हम बड़े प्रेमी हैं', इस प्रकार प्रेमको अभिमानका आभूषण बनाना चाहोगे तो वह नहीं बनेगा। प्रेम तो अभिमानको गला देनेवाला रामरस है और अभिमान कड़ा पत्थर है। प्रेम आता ही तब है जब हृदय द्रवित हो। प्रेमके मार्गमें दम्भ नहीं चल सकता। यह तो ईमानदारीका मार्ग है।

श्रीकृष्णने जब लीला-संवरण कर लिया तब अर्जुनको बहुत पश्चात्ताप करना पड़ा। वे कहते हैं—

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते
सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं
भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम्॥

(श्रीमद्भाग० १.१५.२१)

'मेरा वही गाण्डीव है, वही दिव्यास्त्रवाले बाण हैं, वही अग्निका दिया नन्दिघोष रथ है, वे ही गन्धर्वराजसे मिले दिव्य घोड़े हैं और मैं भी वही महारथी हूँ जिसे बड़े-बड़े नरेश मस्तक झुकाते थे; किन्तु श्रीकृष्णके न होनेसे क्षणभरमें ये सब व्यर्थ—शक्तिहीन हो गये, ठीक उसी तरह जैसे राखमें डाली आहुति, कपटपूर्वक की गयी आराधना तथा ऊसर भूमिमें बीजका बोना—ये सभी व्यर्थ होते हैं।'

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने कहा है—

मोहि कपट छल छिद्र न भावा।

श्रीरामचरितमानसमें यह कहीं नहीं आया है कि—**मोहि काम-क्रोध-लोभ न भावा।** मनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आते हैं तो भगवान्‌के सामने आवें। प्रभुके सम्मुख होकर स्वीकार करो—'मुझमें यह दोष है।' किन्तु यह नहीं चल सकता कि मनमें कुछ और हो और दिखाओ कुछ और। कहा गया है—

गुरुसे कपट मित्रसे चोरी। की हो निर्धन की हो कोढ़ी॥

भगवान्‌के यहाँ कपट-दम्भ नहीं चलता। कपटको समझो। 'क'का अर्थ है हृदयकी द्रवता और 'पट'का अर्थ पर्दा। 'क' कहते हैं सुख-शान्तिको, ब्रह्मको, 'कं ब्रह्म' कहा गया है, उसपर—सच्चाईपर जो पर्दा डाल दे, सत्यको तिरोहित कर दे उसे कपट कहते हैं।

भगवान् कहते हैं—'जब एक पर्दा तुम डालते हो तो एक मैं भी डाल लेता हूँ।'

जीवने छिपाया तो क्या छिपावेगा? मुट्ठी भर गेहूँ। पर ईश्वरने छिपाया तब तो सभी कुछ छिप गया।

जल पय सरिस विकाय, देखहु प्रीतिकी रीति भली।
बिलग होय रस जाय, कपट खटाई परत हो॥

जैसे दूध-पानीकी मित्रता है वैसे ही जीव-ईश्वरकी मैत्री है! इस मैत्रीको दूर करनेवाला है कपट। ईश्वरके साथ कपट क्या! लोग ईश्वरके सामने चार आनेकी पूजा-सामग्री लेकर जाते हैं और प्रार्थना करते हैं—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

प्रार्थना तो की 'द्रविणं त्वमेव' और मनमें माँगते हैं—चाहते हैं भगवान्‌से चार हजार या चार लाख। इस प्रकार करो तो पता लगेगा कि वस्तुतः कामना ही कपट है थोड़ा देकर अधिक ठग लेनेका नाम ही कपट है और भगवान्‌से यही करने तो लोग जाते हैं।

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्॥

'दुष्ट पुरुषोंका स्वभाव यह है कि उनके मनमें एक बात है, कहते दूसरी बात हैं और करते कुछ तीसरा ही काम हैं। किन्तु सत्पुरुषोंके जो मनमें होता है वही वे कहते हैं और वैसा ही आचरण करते हैं।'

ईश्वरके साथ भला मनुष्यका कपट कैसे चले!

पर्दा काह भतार सों जिन देख्यो सब अंग।

यह दम्भ प्रेमके मार्गका बहुत बड़ा बाधक है। आप किसीके यहाँ गये। वे चाहते तो यह हैं कि आप उनके यहाँसे शीघ्र टलें तो अच्छा हो, किन्तु कहते हैं—'वाह! अच्छे दर्शन दिये! आइये! स्वागत! स्वागत!' क्या इस दिखावटमें प्रेम टिकेगा?

'अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्' यह कह तो दिया गया किन्तु इनका त्याग करना क्या अपने वशमें है? पहले तो अपनेको अपना दोष दीखता नहीं, अपनेसे आगे चलनेवालेका दोष दीखता है। धर्मका स्थान वक्षःस्थल है और अधर्म पीठपर रहता है। मनुष्य अपने गुणोंका थैला आगे लटकाकर–गुण छातीपर रखकर, सीना तानकर चलता है। किन्तु दोषोंको वह स्वयं देख नहीं पाता। जब कोई हमसे आगे चलता है तब उससे ईर्ष्या होती है। उसकी पीठ हमें दीखती है, इसलिए उसके दोष दिखायी पड़ते हैं। जब तुमको किसीके दोष दीखें तो समझो कि तुम उससे पीछे रह गये हो। तुम आगे होते तो तुम्हें ईश्वर दीखता, उसके दोष क्यों दीखते। जिसे हम पीछे छोड़ आये उसकी ओर लौटकर क्या देखना। जो आगे हैं, उन्नत हैं वे पीछेवालोंके दोष नहीं देखते।

जिसे अपने दोष दीखने लगें, समझो कि उसका कल्याण शीघ्र होनेवाला है। लोग बड़े प्रेमसे अपने दोष पूछते हैं—'आपको हममें जो दोष दीखें, बतला दीजिये।' उन्हें बताओ तो वे उसकी सफाई देने लगते हैं अथवा मान लेते हैं—'इनका हमसे प्रेम नहीं है।' अतः अपने प्रियसे प्रियको भी उसका दोष बतलाना ही चाहिए।

मनुष्यको अपने दोष स्वयं सोचना चाहिए। जैसे-जैसे बुद्धि निर्मल होती जायगी वैसे-वैसे अपने दोष दीखेंगे। ज्ञानी वह है जिसे अपने पूरे अज्ञानका पता है। जिसे अपने पूरे ज्ञानका पता है वह तो अज्ञानी है। अज्ञानको—अविद्या और उसके अधिष्ठानको जिसने पहचाना वह ज्ञानी है। ज्ञानका कोई द्रष्टा नहीं होता। अतः ज्ञानको जाननेवाला ज्ञानसे पृथक् हो गया। पहले जब सन्त-महात्मा हमारा दोष बताते हैं तो मन उसे नहीं स्वीकार करता। पीछे समझमें आता है कि वे ठीक कहते थे।

•

काम आदिका सम्बन्ध भी भगवान्से ही जोड़ें

● **संगति**

दम्भ-कपटके त्यागकी बात तो ठीक है; किन्तु अभिमान तथा काम-क्रोधादि दोष ऐसे नहीं हैं कि कोई इच्छा करते ही इनका त्याग कर दे। ये दोष हैं, ऐसा हम जानते हैं और इन्हें छोड़ना भी चाहते हैं; किन्तु छोड़ नहीं पाते। बलात् ये चित्तमें बार-बार आजाते हैं। ऐसी अवस्थामें क्या करना चाहिए? ●

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥६५॥

क्योंकि (अपने) समस्त आचार उस (परमात्मा)को अर्पित कर दिये हैं इसलिए काम, क्रोध, अभिमानादि भी उसीसे करना चाहिए ॥६५॥

अपने सब आचार भगवान्को अर्पण कर दिये हैं। हाथमें जल, अक्षत, कुश लेकर मन्त्र बोल देनेसे यह अर्पण नहीं होता। तुम जो कर्म करते हो उस प्रत्येक कर्मका कुछ-न-कुछ फल होता है। तुम क्या चाहते हो—वह फल तुम्हें प्राप्त हो या ईश्वरको?

शौच, स्नान, भोजन, शयन तुम क्यों करते हो? अपने लिए करते हो या ईश्वरके लिए? शौच-स्नान इसलिए कि शरीर शुद्ध-निर्विकार रहेगा तो भजन करेंगे। भोजन इसलिए कि भजनकी शक्ति बनी रहे। नींद इसलिए कि भजनमें आलस्य न आवे। इस प्रकार तुम्हारा प्रत्येक कार्य ईश्वरके लिए हो। उसको सुख

पहुँचानेके लिए, उसे प्राप्त करनेके लिए हो। जब हमारी एक-एक वृत्ति भगवान्‌के लिए उठे तब अखिलाचार उसको समर्पित हुआ।

तुमने कोई पूजन-देवाराधन किया। उस देवतासे क्या चाहते हो? चाहना यह है कि वह प्रियतमकी सेवा करे। गोपियाँ ईश्वरसे प्रार्थना करती थीं—'हमारे नन्दनन्दनकी रक्षा करना!'

संसारके सब प्रेमी ईश्वरको सेवक बनाकर ही रखते हैं। वे प्रार्थना करते हैं—'मुझे यह दो! मेरे बच्चेको स्वस्थ करो!' प्रेमी ईश्वरको अपने प्रियकी सेवामें नियुक्त ही करता रहेगा। अतः **'तदर्पिताखिलाचारः'**का अर्थ है कि प्रियतम ईश्वर हो। संसारमें कोई प्रियतम न हो। अपने सब आचरण ईश्वरके लिए हों।

अपने सब आचरण ईश्वरके लिए—तब मनमें काम, क्रोध, लोभ, अभिमानादि आवें तो हम क्या करें? **'तस्मिन्नेव करणीयम्'**—उनका सम्बन्ध भी ईश्वरके साथ ही जोड़ो। मनमें काम आया तो कबीर साहबकी भाँति कहो—

राम मेरे दूल्हा मैं रामकी दुलहिया।

अपने उस प्रेमास्पदसे कहो—'मेरे मनमें काम आता है। तुम या तो इसे मिटा दो अथवा मेरे साथ विवाह करो! मुझे दूसरेसे तो विवाह करना नहीं है।'

मनमें क्रोध आता है तो कहो—'भगवान्! अब तुम्हारी मेरी लड़ाई होगी।'

भगवान्—'क्यों? मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा?'

तुम कहो—'क्या यह कम बिगाड़ा कि मेरे मनमें क्रोधको आने देते हो। तुमने मेरे मनमें क्रोध भेजा तो मैं लड़ूँ किससे? संसारसे तो लड़ने जायँगे नहीं। क्योंकि संसारसे लड़ने जायँगे तो मनमें संसार आवेगा।'

काम और क्रोधकी यही विशेषता है कि वे जिसके प्रति होते हैं, मनमें वही आता है। काम-क्रोध सगर्भा वृत्तियाँ हैं। कामके

पेटमें स्त्री या पुरुष होगा और क्रोधके पेटमें शत्रु होगा। भक्त कहता है—'हम तो काम-क्रोधके समय भी वृत्तिमें ईश्वरको ही लेंगे।' अब है अभिमान—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

'मेरे बराबर कौन हो सकता है—मैं तुम्हारा हूँ।' इस प्रकार जिस अभिमानमें ईश्वर आवेगा उस अभिमानका पेट फट जायगा।

पहली और उत्तम बात यही है कि 'अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्'। ये मनमें आवें ही नहीं और यदि आते ही हैं तो ईश्वरके साथ इनका सम्बन्ध जोड़ो। इससे हृदय शुद्ध होगा।

भगवान् आधा नहीं लेते। वे पूरा लेते हैं। जिसे पूरा ले लेते हैं वह भगवान्में ही मिल जाता है। शरीरका आधा भाग संसारके त्रितापमें दग्ध होता रहे और आधा भाग भगवान्का होकर अमृत बन जाय यह सम्भव नहीं है। इसलिए भगवान् अधूरा नहीं लेते। कर्म करो और वह भगवान्को अर्पण कर दो। भगवान्को कर्मका अर्पण करनेसे उसका फल अनन्तगुणित हो जाता है।

कोई कहते हैं कि 'यदि अधर्म करके उसे भगवान्को अर्पण करोगे तो उसका भी फल अनन्तगुणित हो जायगा। इसलिए अधर्मका अर्पण मत करो।' प्रेमी भक्त कहते हैं—'अधर्मका फल दुःख है और कोई प्रेमी, अपने प्रेमास्पदको दुःख देना नहीं चाहता। इसलिए बुरे कर्म भगवान्को अर्पण मत करो।' तीसरा पक्ष यह है कि—'भगवान्को अच्छे कर्म अर्पित कर दो और बुरे कर्म निवेदित करो—बतला दो कि हमसे यह अपराध—यह बुराई हो गयी।'

गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा।

भगवान् कहते हैं—'जब किसीने अपनी सारी अच्छाई मुझे दे दी तो उसकी बुराईको अस्वीकार करना उचित नहीं है। जिसने

घरकी समस्त पूँजी ली, घरपर जो ऋण था; वह भी तो उसीके सिर जायगा।'

सांख्य और वेदान्तका कहना है—'कर्म गुणोंके अनुसार होते हैं। आत्मा कर्ता नहीं है। इसलिए अच्छे-बुरे दोनों प्रकारके कर्म प्रकृति या गुणोंके मत्थे मढ़कर तुम स्वयंको अकर्ता अनुभव करो।'

देवर्षि नारदजीका कहना है—'कर्म न गुण कराते और न प्रकृति करवाती। सबके भीतर बैठकर ईश्वर कर्म करवा रहा है।'

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(गीता १८.६१)

भगवान् कहते हैं—'अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें बैठा ईश्वर अपनी मायासे कठपुतलियोंके समान उनको घुमा—चला रहा है।'

अतएव—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

(पाण्डव गीता)

'मेरा धर्म क्या है, यह जानता हूँ। किन्तु उसमें लग नहीं पाता और अधर्म क्या है यह भी जानता हूँ किन्तु उससे बच नहीं पाता। हृदयमें बैठे हुए किसी देवके द्वारा जैसे लगा दिया जाता हूँ, वैसे ही करता हूँ।'

भगवती श्रुति कहती है—

स एव साधुकर्म कारयति यमुन्निनीषति।

'जिसे वह ऊपर उठाना—अपने पास बुलाना चाहता है उससे वही अच्छे कर्म करवाता है।'

जैसे राजा किसी लड़कीसे विवाह करना चाहता है तो पहले उसके उत्तम भोजन-वस्त्रकी, उसकी शिक्षाकी व्यवस्था भी करता है।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

(गीता ९.२८)

यदि भगवान् एक प्रकारके—केवल शुभ कर्मका समर्पण माँगते तो 'शुभाशुभ' दोनों प्रकारके कर्मोंसे छूटनेकी बात क्यों कहते हो ? अर्पण करो एक प्रकारके कर्म और छूटो दोनोंसे, ऐसा कैसे होगा ?

अतएव उचित यह है कि हम जो भी काम करें, ईश्वरके लिए—ईश्वरको ध्यानमें रखकर करें। इस अर्पणकी भी कई कक्षाएँ हैं। एक मनुष्य भोजन बनाता है। भोजन बनाते समय तो उसे भगवान्‌की स्मृति नहीं है किन्तु भोजन बनाकर भगवान्‌को भोग लगाता है। यह भी अर्पण है—अन्त भला सो सब भला।

दूसरा मनुष्य भोजन बनाना प्रारम्भ ही इसलिए करता है कि भगवान्‌को भोग लगाना है। उसे रोटी बनाते समय भी भगवान्‌की स्मृति रहती है।

'तदर्पिताखिलाचारः'का अर्थ है कि अर्थोपार्जनके समय, गेहूँ खरीदते-पिसवाते समय भी स्मरण रहे कि यह हम भगवान्‌के लिए कर रहे रहे हैं। सब क्रियाओंके समय स्मरण रहें भगवान्। यदि बीचमें भूलते हैं तो अपने प्रेममें कमी है। प्रेममें विस्मृति नहीं होती। प्रमाद ज्ञानमें चल सकता है, प्रेममें नहीं। सोते समय भी प्रेमी प्रभुके लिए सोता है।

प्रेमी भक्तकें चित्तमें भी काम-क्रोधादि आते हैं। बात यह है कि खीर खाते समय भी बीच-बीचमें चटनी चाहिए। बिना मध्यमें दूसरे रसका स्वाद आये, मुख्य रसका स्वाद नहीं आता। इसलिए भक्तके चित्तमें ये उसके प्रेम-रसका आस्वादन बढ़ानेके लिए ही आते हैं।

जहाँ भगवत्प्रेम है वहाँ काम-क्रोधादि आवें तो भगवान्‌के प्रति ही आवें। काम अपने आश्रय चित्तको मलिन करता है; किन्तु यदि कृष्णके प्रति काम हो तो वह चित्तको शुद्ध कर देगा।

गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो॥
(श्रीमद्भाग० ७.१.३०)

'श्रीकृष्णमें काम होनेसे गोपियोंका, भय होनेसे कंसका, द्वेष होनेसे शिशुपाल-दन्तवक्र आदि राजाओंका, सम्बन्ध होनेसे यदुवंशियोंका, स्नेह होनेसे पाण्डवोंका और भक्ति होनेसे नारदादिका कल्याण हुआ।'

कंसके मनमें भय था; किन्तु भय किससे? कृष्णसे। अतः वृत्तिमें श्रीकृष्ण आये। एक डाकूकी कथा आती है। उसका पुलिसने पीछा किया तो वह छिपनेके लिए एक स्थानपर कथा सुननेवालोंकी भीड़में घुसकर बैठ गया। उस दिन कथावाचक श्रीनन्दनन्दनका स्वरूप-वर्णन करते हुए उनके आभूषणोंका वर्णन कर रहे थे। डाकूके मनमें आया—'इस नन्दके लड़केको तो उसकी मैया करोड़ोंके आभूषण पहिनाती है। यदि इसे लूट सकें तो जीवनमें फिर डाका नहीं डालना पड़ेगा।'

कथा समाप्त हो गयी। जब सब लोग चले गये तो डाकू कथावाचक पण्डितजीके सामने जा खड़ा हुआ। पण्डितजी डरे। उन्होंने पोथी-पत्रा और जो फल चढ़े थे, सामने रख दिये। डाकू बोला—'मुझे तुम्हारे पोथी-पत्रेसे मतलब नहीं है। तुम कथामें जिस लड़केकी बात कह रहे थे उसका ठीक-ठीक पता बता दो। लेकिन झूठ बोले तो समझ लेना!'

पण्डितजी डर गये। उन्होंने बता दिया कि वृन्दावनमें यमुना-किनारे वह नन्दनन्दन गायें चराता है। डाकू वहाँसे चल पड़ा। यमुनाजीतक तो पहुँचा नहीं, बीचमें कोई नदी मिली, बन मिला तो उसको उसने यमुना-तटका वृन्दावन मान लिया। उसके मनमें तो प्रबल लोभ था। लोभवश वह मेघश्याम, पीताम्बरधारी, मयूरमुकुटी, वनमाली, पंकजनेत्र श्रीकृष्णका चिन्तन कर रहा था।

श्यामसुन्दर उसके लिए वहीं प्रकट हो गये। उनका दर्शन करके कहीं लोभ या माया टिकती है? डाकूका का जीवन धन्य हो गया।

श्रीकृष्णके प्रति काम हो या क्रोध, लोभ हो या द्वेष, वह व्याकुलता पर्यन्त जाकर हृदयको शुद्ध कर देगा। क्रिया पर्यन्त वह नहीं जायगा। योगमें क्रिया अन्तर्मुख करनेको होती है और भक्तिमें क्रिया उन्मुख—भगवन्मुख करनेके लिए होती है।

अभिमान मनमें आता है तो यह आवे कि हम उनके हैं—उनके आश्रित हैं। देखो, भगवन्नाम लेनेपर कोई पापी नहीं रह जाता। पाप तो तुमने देखा नहीं है। पाप तो क्रियाका परिणाम है। क्रिया हुई और भूतकालिक हो गयी। अब उस क्रियाके कारण तुम्हारे मनमें यह संस्कार होता है कि—'मैं पापी हूँ।' जैसे पापका संस्कार तुम्हारे मनमें आता है वैसे ही यह संस्कार क्यों नहीं आता कि—'भगवन्नाम लेनेसे वह पाप मिट गया'—इसका अर्थ है कि नाम-महिमापर तुम्हारा विश्वास नहीं है।

महाप्रसादे गोविन्दे नाम्नि ब्रह्मणि वैष्णवे।
स्वल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते॥

'जिनके पुण्य बहुत कम अर्थात् जो पुण्यहीन हैं उनको भगवत्प्रसाद, भगवान्, भगवन्नाम, ब्राह्मण तथा भगवद्भक्तोंपर विश्वास नहीं होता।'

एक बार किसीने गाली दी तो दुःख हुआ। फिर स्मरण आया—'अमुक पत्रमें अपनी प्रशंसा छपी है' तो सुख हुआ। इस प्रकार गाली तथा प्रशंसाका प्रभाव मनपर पड़ता है। हमारा मन दुःखके कारणको अधिक ग्रहण करता है, सुखके कारणको कम। इसी प्रकार संसार तथा भगवान् भी हैं। तुम मनसे जिसे ग्रहण करते हो उसका मनपर प्रभाव पड़ता है। अभ्यास करो कि मन सुखके कारणको—ईश्वरको ग्रहण करता रहे। जीवन कितना बड़ा है। उसमें रोग-दर्दके घण्टे कितने हैं? तुम पच्चीस वर्षका

स्वास्थ्य सोचकर सुखी नहीं होते, आधे घण्टे का दर्द सोचकर दुखी होते हो !

जो पुरुष स्वयं तो पत्नीव्रती नहीं बनता किन्तु पत्नीको पतिव्रता बनाये रखना चाहता है वह दुखी होगा। जो स्त्री स्वयं पतिव्रता नहीं बनना चाहती पर पतिको अपनेमें निष्ठावान् चाहती है वह दुखी होगी। जो आदर्श पिता नहीं बनता पर चाहता है कि पुत्र आदर्श पितृभक्त हो वह दुखी होगा। इसी प्रकार हम स्वयं ईश्वरभक्त नहीं बनते, ईश्वरको छोड़कर संसारको सोचते हैं और चाहते हैं कि ईश्वर सदा हमारे अनुकूल रहे, इसलिए दुःख पाते हैं। ईश्वरको हृदयसे निकालनेके कारण ही सब दुःख, दारिद्र्य, दौर्भाग्य आते हैं।

काम-क्रोध, लोभ, अभिमान मनमें आते हैं और तुम्हें दुखी करते हैं। किन्तु ये उठते हृदयमें और जुड़ते बाहर किसी अन्यसे हैं। इनको और किसीसे नहीं, भगवान्‌से जोड़ो, तब ये तुम्हें दुखी नहीं करेंगे।

एक बार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कीर्तन करनेवालोंपर बहुत झुंझलाये—'क्या 'ईश्वर-ईश्वर' तुम लोगोंने लगा रखा है ! कहाँ है तुम्हारा ईश्वर ? बजाते-बजाते झाँझ फोड़ डाली, मृदंग बजा-बजाकर नाच-नाचकर ईश्वर-ईश्वर करते हुए कान फोड़ दिये। दिन रात चिल्लाना !'

उस समय कोकिल साइँ आश्रममें आये थे। उन्होंने पूछा—'आज आपकी ईश्वरके साथ लड़ाई हुई है क्या ?'

तब बाबाने बतलाया कि वे अस्पताल देखने गये थे। पंक्तिबद्ध रोगियोंको खाटोंपर पड़े, कराहते देखकर मनमें ऐसी करुणा उमड़ी कि ईश्वरपर क्रोध आगया। इस प्रकार क्रोधादि आवे तो उसे ईश्वरसे ही सम्बन्धित करो। •

भगवान्‌से प्रेम ही करना कर्तव्य

• संगति

काम-क्रोध-अभिमान मनमें न आवें तो सर्वोत्तम, और आवें ही तो उनका सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ दो, यह भी निषेधपरक बात ही हुई। करना क्या चाहिए ?

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यम्, प्रेमैव कार्यम् ॥६६॥

तीन रूपों (सत्त्व, रज, तमकी गुणात्मक अथवा आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी भक्तिके रूपों) को भंग करके नित्य दासभावसे, नित्य कान्ताभावसे अथवा किसी (सख्य, वात्सल्यादि) भावसे (भगवान्‌से) भजनस्वरूप प्रेम करना चाहिए। प्रेम ही करना चाहिए ॥ ६६ ॥

करना तो केवल प्रेम ही चाहिए, किन्तु उसमें स्वार्थकी गन्ध न हो। प्रेम कैसे हो ? इसके लिए माहात्म्यज्ञान होना चाहिए। भगवान्‌के गुण; प्रभाव, कृपा, रहस्य और तत्त्वका ज्ञान होनेपर उनकी ओर मनका झुकाव होता है। फिर भगवान्‌के साथ अपने सम्बन्धका ज्ञान होना चाहिए। भगवान्‌से सब प्रकारका सम्बन्ध हो सकता है। इसके पश्चात् सेवाका ज्ञान चाहिए। माहात्म्य-ज्ञान, सम्बन्ध-ज्ञान और सेवा-ज्ञानसे प्रेमकी पुष्टि होती है।

'त्रिरूपभङ्गपूर्वकम्' – इसमें त्रिरूप-भंग क्या ? इसी सूत्रग्रन्थमें पहले देवर्षिने कहा है –

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा।

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके भेदसे अथवा आर्त, जिज्ञासु एवं अर्थार्थीके भेदसे गौणीभक्ति तीन प्रकारकी होती है। इस गौणी भक्तिके रूपोंको भंग करके सत्त्वगुणमयी, रजोगुणमयी तथा तमोगुणमयी भक्तिसे ऊपर उठकर निर्गुण प्रेमा-भक्तिको अपनाना चाहिए। आर्त, जिज्ञासु एवं अर्थार्थी भावका त्याग करके निष्काम भक्ति करनी चाहिए।

'त्रिरूपभङ्गपूर्वकम्'—गलाये सोनेको एक साँचेमें ढालना पड़ता है। जब वह जम गया, तब उसे चाहे जो रूप दो। प्रेम, प्रेमी और प्रियतमको पृथक्-पृथक् मत करो। द्रवावस्थाको प्राप्त 'प्रेम' नामकी एक ही वस्तु है। उसमें अपना, ईश्वरका और सेवाका रूप सुनिश्चित मत करो।

एक गुरुके पास दो शिष्य थे। एकका काम रोटी बनाना था और दूसरेका काम जल पिलाना। एक दिन गुरुजीको प्यास लगी। पानी पिलानेवाला शिष्य कहीं गया था। रोटी बनानेवालेसे जल माँगा तो बोला—'यह मेरा काम नहीं है। इस सेवाको बँधा-जड़-भूत रूप कहते हैं। इसमें सेवा मुख्य नहीं है, सेवाका रूप मुख्य है। इस रूपको तोड़ना होगा। यह प्रथम रूपभंग हुआ। सेवाके रूपमें आग्रह, कर्ममें जड़ता है। हम सेवा करेंगे—जब जो सेवा प्रभु लेना चाहेंगे वह सेवा करेंगे।

अब सेवकके रूप-भंगपर विचार करें। श्रीराधाका श्रीकृष्णसे बहुत प्रेम है। पर सदा स्त्री बने रहनेका उन्हें कोई आग्रह नहीं है। श्रीबलरामजी उन्हींके रूप हैं। वनमें गोचारणके समय वे दाऊजीके रूपमें साथ जाते हैं 'मेरे बिना वनमें श्यामसुन्दरको सुख नहीं मिलेगा' यह सोचकर उन्होंने अपना स्वरूप छोड़ा। यह स्व-स्वरूप-भंग हुआ।

भक्त किसी रूपमें नहीं बँधता। भगवान्‌का जैसा मन होता है वैसे उन्हें सुख देनेको वह बन जाता है। कभी उनका बालक

बनकर उन्हें लालन करनेका सुख देता है, कभी पिता बनकर उन्हें वात्सल्य देता है, कभी सखा बनकर साथ खेलकर उन्हें सन्तुष्ट करता है। भगवान्‌ने कहा--

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत (गीता १८.२२)

एक ही भक्तका सर्वभाव यहाँ कहा गया है। प्रीति जहाँ पूर्ण होती है वहाँ भगवान्‌का स्वरूप, भक्तका स्वरूप तथा भक्तिका स्वरूप बदलता रहता है। भगवान् तथा भक्तका रूप जड़ नहीं है। प्रत्येक क्रियासे, प्रत्येक भावसे, प्रत्येक रूपसे भक्त भगवान्‌की सेवा करना चाहता है।

'शंकरजीने देखा कि आराध्यने 'नरवपु' धारण किया है तो वे सेवाके लिए बानर--हनुमान् बन गये।'

जेहि सरीर रति रामसों सोइ आदरहिं सुजान।
रुद्र देह तजि नेह बस संकर भे हनुमान॥

(दोहावली १४२)

भगवान् जब शेषशायी बनकर रहते हैं तब ऋषि-मुनि उनकी स्तुति करते हैं। किन्तु जब भगवान् वृन्दावनमें गोपाल बनकर आ गये तब ऋषि-मुनि वृन्दावनमें पक्षी, भ्रमर, वृक्ष, लता बनकर उनकी सेवा करने आये। भक्तको अपने किसी रूपसे प्रेम नहीं होता, उसे तो भगवान्‌की सेवा--उनके सान्निध्यसे प्रेम होता है।

भगवान्‌को भी निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, पशु-पक्षी, मछली-कछुआ या मनुष्यादि किसी आकार-विशेषमें कोई आग्रह नहीं है।

भक्त वह क्रिया करेगा जिससे भगवान् प्रसन्न होंगे, अथवा वह क्रिया जो उसे अधिक रुचेगी? उसका आग्रह क्रियामें नहीं, भगवान्‌को प्रसन्न करनेमें है।

नारदभक्ति-दर्शनकी इस सूत्रकी व्याख्याओंमें कोई 'त्रिरूपभङ्ग' का ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र रूपको भंग करना अर्थ करते हैं; कोई सत्त्व,

रज, तम इन गुणोंको नष्ट करना। कोई त्रिपुटीके भंगकी बात कहते हैं।

वेदान्तके प्रसङ्गमें त्रिपुटी—द्रष्टा-दर्शन-दृश्यरूपा मिटायी जाती है। एकेश्वरवादमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन तीन रूपोंका निषेध किया जाता है। समाधि लगानी हो तो सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंसे ऊपर उठना होता है। पर यह तो भक्तिका प्रसंग है। इसमें तो एक प्रियतम है और वही हमारा सर्वस्व है। उसे हम कहते हैं —

त्वमेव माता च पिता त्वमेव।

यह रूप-भङ्ग हुआ या नहीं? लोकमें एक ही माता भी और पिता भी हो, क्या सम्भव है? पर वह एक ही माता भी है और पिता भी। भगवान् भक्तके लिए माता, पिता, भाई--सब कुछ है। प्रेमने ईश्वरके एक रूपको मिटाकर उसे सर्वरूप कर दिया।

नेत्र बन्द करके हृदयमें अथवा बाहर मूर्तिमें भगवान्‌के दर्शन करके आनन्द लेना प्रेम नहीं है। इसमें दर्शन है किन्तु प्रेम नहीं। प्रेम होता है सम्बन्धसे। पहले भगवान्‌से हमारा एक सम्बन्ध था कि हम दास हैं और वे स्वामी हैं। सभी देहधारी, सूर्य-चन्द्र, जल-वायु, पृथ्वी-आकाश आदि ईश्वरके आज्ञानुवर्ती हैं। पञ्चभूत ईश्वरकी आज्ञामें--ईश्वरके अधीन हैं। अतः पञ्चभूतोंसे बने जितने पिण्ड – जितने देहधारी हैं वे सब ईश्वरकी आज्ञामें हैं। सम्पूर्ण विश्व उसके आदेशसे ही संचालित है। अतएव उपाधिमें बैठे— उपाधिको स्वीकार करनेवाले सब उसके नित्यदास हैं—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।

ईश्वर समस्त उपाधियोंका नियन्ता--सञ्चालक है। उपाधिको पकड़कर हम जिस झूलेमें बैठे हैं उस झूलेको झुलानेवाला ईश्वर है। अतएव जीवभावमें स्थित सब प्राणी नित्यदास हैं।

एक बार किसीने श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे कहा—'आप तो सदा ब्रह्मकी बात करते हैं,—जीवको ब्रह्म बतलाते हैं। तब जीवको दास कैसे कहते हैं ?'

बाबा बोले—'हम जीवको नहीं, साक्षीको ब्रह्म कहते हैं। जो कर्ता-भोक्ताकी उपाधिसे युक्त है, वह जीव है। जो साक्षी—कर्तृत्व-भोक्तृत्व दोनोंका द्रष्टा है, वह ब्रह्म है। आभास ब्रह्म नहीं है, कूटस्थ ब्रह्म है। आभासका तो बाध हो जाता है।'

जीव और ईश्वर दोनोंका साक्षी ब्रह्म है। पर जो कर्ता, भोक्ता, देहाभिमानी है वह जीव है। जीवको अपनी इस दासताको समझ लेना चाहिए कि ईश्वर हमें नचाता है और हम उसके सामने नाच रहे हैं।

जब सेवा--दास्यभाव प्रगाढ अवस्थाको प्राप्त होता है तब वही कान्ताभाव बन जाता है। जहाँ ऐश्वर्यपूर्वक परमात्माका चिन्तन है वहाँ नित्य दासभाव होगा। जहाँ माधुर्यपूर्वक ईश्वरका चिन्तन है वहाँ नित्य कान्ताभाव होगा। एक ऐश्वर्य-मिश्रित ईश्वरके रूपसे सम्बन्धित है और एक ऐश्वर्यरहित ईश्वरके रूपसे प्रेम करता है।

'त्रिरूपभङ्ग' का अर्थ है कि भगवान्के रूपमें जड़ता मत आने दो। वृन्दावनमें दो श्रीकृष्णोपासक सम्प्रदाय रासलीलाभिनय करते हैं। एक सम्प्रदायके लोगोंका कहना है कि भगवान्का मुकुट दाहिनी ओर झुका रहना चाहिए। दूसरे बायीं ओर मुकुट झुका रहनेके पक्षमें हैं। रासलीलाके स्वरूपमें मुकुट किधर झुके इसको लेकर दोनों सम्प्रदायोंमें झगड़ा हुआ, मारपीट हुई, मुकदमा चला। उस समय अंग्रेज न्यायाधीश था। उसने निर्णय दिया—मुकुट दाहिने या बायें मत झुकाओ। सीधा रखो!

उस निर्णयको तो कोई नहीं मानता। दोनों सम्प्रदाय अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार मुकुट झुकाते हैं। किन्तु यह हठ स्वरूपमें

जड़ता लाता है या नहीं ? यदि भगवान् सदा एक जैसे खड़े हों, एक जैसा मुकुट बाँधे, एक ही भंगीमें रहें तो मूर्ति और चेतनमें क्या अन्तर हुआ !

भगवान् अपना ऐश्वर्य पृथक् रखकर प्रेमीके संकल्पके अनुसार व्यवहार करते हैं। उनमें रूपका आग्रह नहीं है। तुम अपने रूप अपनी सेवाके प्रकारका हठ मत करो। केवल प्रेम करो। प्रेम जिस रूपमें तुम्हें रखे, रहो। उस प्रेमका आस्वादन करने भगवान् जिस रूपमें आवें उस रूपमें उन्हें प्रेम दो। जिस क्रियासे वे प्रसन्न हों वह क्रिया अपनाओ **जा भेषां म्हारा साईं रीझै सोई भेष धरौंगी।**

जब प्रेमसे चित्त द्रवित हो तब उसे चाहे जैसा बना लो। भगवान् तो अपने हैं, उनसे चाहे जैसे खेलो। एक कथा है कि श्रीविल्वमंगलजी अयोध्या गये। वे प्रसिद्ध श्रीकृष्ण-भक्त थे। अयोध्यामें जब दर्शन करने मन्दिरमें गये तो किसी साधुने व्यंग्य किया – 'तुम अपने मुरलीवाले चरवाहेको छोड़कर हमारे धनुर्धर महाराजाधिराजकी शरण आये हो ?'

बिल्वमंगलजीने कहा— 'मुझे तो वे अपने गोपाल ही लगते हैं। तुम्हें नहीं लगते तो मैं क्या करूँ ? पर तुम चाहते हो कि मैं वंशीधर रूपमें ही इन्हें प्रणाम करूँ तो ऐसा ही सही। भगवान्से बोले –

विहाय कोदण्डशरान् मुहूर्तं गृहाण पाणौ मणिचारुवेणुम्।
मायूरबर्हं च निजोत्तमाङ्गे सीतापते त्वां प्रणमामि पश्चात्॥

'श्रीसीतानाथ ! एक क्षणके लिए आप यह धनुष-बाण एक ओर रख दीजिये और अपने कमलकरमें मणिजटित वंशी ले लीजिये। मस्तकपर-से यह रत्नजटित मुकुट उतारकर मयूरपिच्छ धारण कर लीजिये। इसके बाद मैं आपको प्रणाम करूँगा।'

मर्यादा-पुरुषोत्तम, भक्तवत्सल भगवान् श्रीरामने कोई हठ नहीं किया। उन्होंने धनुष-बाण त्यागकर मुरली धारण कर ली।

मस्तकपर-का रत्नमुकुट लुप्त हो गया और वहाँ मयूरपिच्छ लहराने लगा। सीधे चरण टेढ़े होकर ललित त्रिभंगीमें आ गये।

ऐसी ही कथा इसके पर्याप्त पीछेकी गोस्वामी तुलसीदासजीकी है। गोस्वामी तुलसीदासजी बिल्वमंगलसे कई सौ वर्ष पीछे हुए हैं। कथा है कि वे व्रजमें और निम्बार्क-सम्प्रदायके एक मन्दिरमें दर्शन करने गये तो वहाँ निम्बार्क-सम्प्रदायके महात्मा श्रीपरशुरामजीने कहा—

अपने-अपने इष्टको नमन करत सब कोय।
परसुराम अन्य इष्टको नमै सो मूरख होय॥

गोस्वामी तुलसीदासजी मुस्कराये और भगवान्‌की ओर देखकर बोले—

कहा कहौं छबि आजकी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष-बान लो हाथ॥

श्रीकृष्णने भी अपना रूप बनाये रखनेका कोई आग्रह नहीं किया—

मुरली मुकुट दुराय कै, धनुष-बान लिय हाथ।
तुलसिदासके कारन, ब्रजनाथ भये रघुनाथ॥

अपने रूपका, अपने सेवाके रूपका अथवा अपना इष्ट इसी रूपमें रहे, यह हठ अभिमानके कारण होता है और भगवान् गर्वहारी हैं। गर्व तो उनका आहार है। भक्तमें कोई भी अभिमान वे रहने नहीं देते। इस सम्बन्धकी एक कथा है।

द्वारकामें महारानी सत्यभामाजीको अपने रूपका बड़ा गर्व था। गरुड़जीको अपनी शक्ति तथा तीव्र गतिका गर्व था। चक्रको अपनी शक्तिका गर्व था। श्रीकृष्णचन्द्रने तीनोंके गर्वको दूर करनेका निश्चय किया। उन्होंने गरुड़को श्रीहनुमान्‌जीको बुलाने भेजा। गरुड़ हनुमान्‌जीके पास मन्दराचलपर पहुँचे और बोले—'आपको श्रीद्वारकानाथ बुला रहे हैं।'

हनुमान्‌जी परमभक्त हैं। वे समझ गये कि प्रभु कोई लीला करना चाहते हैं। बोले—'मुझे द्वारका या द्वारकानाथसे क्या काम, मैं तो श्रीअयोध्यानाथका सेवक हूं। मैं द्वारकानाथके पास नहीं जाता।'

गरुड़ लौट आये। उनकी बात सुनकर श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—'उनसे कहो कि श्रीअयोध्यानाथ बुला रहे हैं।

गरुड़ दुबारा गये और बोले—'श्रीअयोध्यानाथजी आपको द्वारका बुला रहे हैं। मेरी पीठपर बैठ जाइये। वे आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं आपको शीघ्र पहुँचा दूंगा।'

हनुमान्‌जी समझ गये कि गरुड़को क्या गर्व है और प्रभु क्या चाहते हैं। बोले—'आप चलिये। मैं मार्गमें आपको मिलता हूं।'

गरुड़—'मैं चल पड़ूंगा तब मुझे तुम मार्गमें कैसे मिलोगे? मेरी पीठपर बैठो अन्यथा मैं पकड़कर ले जाऊँगा। प्रभुने मुझे ले आनेकी आज्ञा दी है।'

हनुमान्‌जीने गरुड़को पकड़कर फेंक दिया। कई सौ योजन दूर गरुड़ समुद्रमें जाकर गिरे। पवनकुमार चल पड़े द्वारकाकी ओर। नगरके प्रवेश-द्वारपर चक्र मिला। भगवान्‌के आयुध तो चेतन होते ही हैं। उसने रोका—'कौन नगरमें जा रहा है?'

हनुमान्‌जीने नाम बतलाकर कहा—मुझे प्रभुने बुलाया है।'

चक्र—'प्रभुका आदेश मुझे नहीं मिला है। बिना आदेशके मैं किसीको नगरमें जाने नहीं देता।'

हनुमान्‌जीको तो शीघ्रता थी। प्रभुने बुलाया है तो वहाँ तत्काल पहुँचना है। उन्होंने चक्रको पकड़कर मुखमें रख लिया और भीतर चले गये।

उधर गरुड़को भेजनेके पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्रने सत्यभामाजीसे कहा—'आज मैंने हनुमान्‌जीको बुलाया है। वे श्रीरामके भक्त हैं। धनुष-बाण लेकर मुकुट बदलकर मैं तो राम बन जाऊँगा, किन्तु

श्रीजानकीका स्थान कौन लेगा, उनके जैसा अलौकिक सौन्दर्य कहाँसे आवेगा ?'

सत्यभामाने बड़े गर्वसे कहा—'आप चिन्ता मत करें मैं सीताका वेश बना लेती हूँ। मुझसे अधिक सुन्दर वे नहीं रही होंगी।'

स्त्रीका स्वभाव है कि वह अपनेसे अधिक सुन्दर अन्य स्त्रीको नहीं मानती। पाश्चत्य कहावत है कि शैतान एक बार एक स्त्रीपर प्रसन्न होकर प्रकट हुआ और बोला—'वरदान माँगो!'

स्त्रीने कहा—'तुम्हारे मनमें आये, वह दे दो!'

शैतान—'मैं तुम्हें अधिक सुन्दर बना देता हूँ!'

यह सुनते ही स्त्रीने शैतानको थप्पड़ मारा—'तू मुझे कुरूप समझता है? मेरा अपमान करता है?'

श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीराम-रूप धारण किया और सिंहासनपर बैठ गये। सत्यभामा आकर वाम भागमें बैठीं। श्रीहनुमान्‌जी आये और उन्होंने प्रभुके चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणाम किया; किन्तु सत्यभामाकी ओर देखा तक नहीं।

भगवान्‌ने पूछा—'हनुमान्‌जी! आपका मुख क्यों फूल रहा है?

हनुमान्‌जीको ध्यान आ गया। उन्होंने चक्रको मुखमें से निकालते हुए कहा—'यह मुझे द्वारपर रोक रहा था तो मैंने मुखमें दबा लिया।'

भगवान्—'आपको बुलाने भी तो कोई गया था?'

हनुमान्—'बड़ा मन्दगति है वह पक्षी। आता होगा, वह अब आपके समीप।'

गरुड़जी समुद्रके जलमें भींगे, थके-हाँफते उसी समय पहुँचे। हनुमान्‌जीके शब्द उन्होंने सुन लिये। लज्जासे उनका मस्तक झुक गया। अब हनुमान्‌जीने हाथ जोड़कर कहा—'प्रभु सर्वसमर्थ हैं, किन्तु एक जिज्ञासा है कि श्रीमहारानीजीका स्थान आज प्रभुने यह किस दासीको देनेका अनुग्रह किया है?'

सत्यभामाजीका सौन्दर्य-गर्व गल गया। लज्जाके मारे वे उठकर तत्काल वहाँसे चली गयीं।

भक्तिमें अभिमान नहीं है, अतः रूपका आग्रह नहीं है। आग्रह तो अभिमानमें होता है। भगवान् यदि कहें—'तुम अपने मुखमें कालिख पोत लो, मैं तुम्हें देखकर हँसूँगा।' तो भक्तको इसमें क्या आपत्ति है? भक्त वह जो अपने आकारका अभिमान भंग कर देता है। वैसे प्रारम्भमें भक्तिकी दृढ़ताके लिए इष्टका रूप, सेवाका रूप और अपना सेवक रूप भी दृढ़तासे पकड़ना पड़ता है।

चैतन्य-चरितामृतमें एक बड़ा महत्त्वपूर्ण निरूपण है। श्रीचैतन्य महाप्रभु जगन्नाथपुरीमें रहते थे। उनके पास भक्तश्रेष्ठ रामानन्द राय आये। वे मूर्तिमान् प्रेम ही थे। महाप्रभुने पूछा—'भक्तिका स्वरूप क्या है?'

रामानन्द राय—'जब भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीलाको सुनकर, स्मरण करके चित्त आनन्दसे परिपूर्ण हो जाय और संसारके रूप-रस आदिमें आनन्द न आवे तब 'चित्तमें भक्ति आयी है' ऐसा मानना चाहिए।'

महाप्रभु—'यह तो भक्तिका सामान्य रूप है। और उत्कृष्ट रूप बताओ।'

राय—'देखकर तो पराये पुरुषको, दूरस्थ चन्द्रमाको भी आनन्द आता है, अतः जब भगवान्‌से अपना सम्बन्ध हो जाय, वे अपने बन जायँ, तब चित्तमें भक्ति आयी।'

महाप्रभु—'और उत्कृष्ट रूप?'

राय—'सम्बन्ध हमारा बहुतोंसे होता है; किन्तु प्रीति सबसे नहीं होती। भक्ति तब समझनी चाहिए जब हमें सेवा करनेमें सुख मिले। उन्हें सुख देकर हम सुखी हों।'

महाप्रभु—'और उत्कृष्ट?'

राय—'जब भगवान्से हमारा ऐसा प्रेम हो जाय कि यही हमारे प्राण हैं। उनपर अपना इतना स्वत्व हो जाय कि हम उनसे रूठ सकें, मान कर सकें। जैसे गोप सखाओंका प्रेम श्यामसुन्दरसे था।'

महाप्रभु—'और उत्कृष्ट?'

राय—'जब कुछ पानेकी कामना न रहे। माता जैसे बच्चेको स्नेह-प्यार देती ही देती है, वैसे जब प्रभुके प्रति वात्सल्यका उदय हो।'

महाप्रभु—'और उत्कृष्ट?'

राय—इससे आगे तो गोपियोंका प्रेम है—'हृषीकेण हृषीकेशसेवनम्।' प्रेयसीका प्रेम जैसे प्रियतमके प्रति होता है।'

महाप्रभु—'और उत्कृष्ट?'

राय—'प्रेमका अगाध सागर है। केवल प्रेम ही प्रेम है। एक तरंग उठती है और श्रीकृष्णाकार बनती है। दूसरी तरंग उठकर श्रीराधाका रूप ले लेती है। दोनों तरंगें मिलती हैं। दोनों फिर लीन होती हैं। उनके रूप परस्पर परिवर्तित होते रहते हैं। त्रिरूप भङ्ग हो गया। स्त्री-पुरुषका आकार भी मिट गया। अखण्ड-अविनाशी मिलन!'

महाप्रभुने श्रीरायको रोक दिया—'बस! अब आगे मत बोलना!'

'त्रिरूपभङ्गपूर्वकम्'का अर्थ है कि प्रभुकी जैसी इच्छा हो वैसे वे स्वयं रहें, उस प्रकार हमें रखें और वैसी सेवा लें। गोपालतापिन्युपनिषद्में आता है—

किं नाम भजनं? भजनं नाम रसनम्।

'भजन किसे कहते हैं? भजन कहते हैं रस लेनेको।' जैसे गाय-बैल पहले घास-भूसा खा लेते हैं और फिर बैठकर जुगाली करते हैं। इसी प्रकार कथा-श्रवण तो खाने जैसा है और घर जाकर

उसका बार-बार स्मरण करके रस लो, यह भजन है। भगवान्‌को मजदूरीके रूपमें पानेका प्रयत्न मत करो कि इतनी मालाएँ जप किया, इतनी पूजा की, अतः भगवान्‌को मिलना चाहिए। तुम तो वीणा बनकर गाओ और भगवान् सुनकर आनन्दित हों। तुम पुष्प बनो, भगवान् सूँघें। भगवान् भोक्ता हैं और तुम भोग्य। जब भगवान् तुम्हारा रस लेकर प्रसन्न हों, तब भक्ति है। 'तस्मिस्तत्सुख-सुखित्वम्'— उस आनन्दघनकी प्रसन्नतामें प्रसन्न रहना ही प्रेम है।

अनन्य भक्त श्रेष्ठ

• संगति

मुख्य भक्त कौन हैं? अर्थात् सर्वोत्तम भक्त किन्हें कहना चाहिए?

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः ॥ ६७ ॥

अनन्य भक्त श्रेष्ठ हैं ॥ ६७ ॥

भक्त वह जो भगवान्‌का भाग बन गया—भगवान्‌के हिस्सेमें आ गया। यज्ञमें कहा जाता है—'यह इन्द्रका भाग है, यह मरुत्‌का भाग है, यह वरुणका भाग है, यह रुद्रका भाग है। ऐसे ही भक्त भगवान्‌का भाग है। वह संसारसे छूट गया—संसारकी मायारूपी जो भूसी थी वह छूट गयी और चावल बन गये। भक्तिने पकाया। फलतः अभिमानकी कणिका गल गयी; किन्तु पृथक्त्व बना है। गल जाना तो अद्वैत हो जाना है। धानका बीज पानीमें पड़ता, पानीमें बढ़ता और चावल पानीमें पकता है। ऐसे ही भक्तका निर्माण रसमें होता है। ऐसे भक्तके भोक्ता भगवान् हैं।

'मुख्याः'—मुँह लगे हो जाना, प्रमुख हो जाना। भक्ति 'मैं-मैं' नहीं है। अजा-माया-बकरीका शब्द है 'मैं-मैं'। भक्तमें अजाका लेप नहीं है। 'एकान्तिनो'—वे भगवान्‌से एकान्तमें मिलते हैं। भगवान् और भक्तके अतिरिक्त कोई तीसरा नहीं है वहाँ। प्रभुसे एकान्तके सिद्धान्तमें मिलना, जहाँ प्रभुसे अपनी बुद्धि, मन तथा क्रिया मिलकर एक हो जाय।

एकान्त—एक सिद्धान्त। तुम दोनोंका सिद्धान्त एक है या पृथक्-पृथक्? भगवान्‌को जो प्रिय, वह भक्तको प्रिय। प्रियता, मत,

क्रिया सब एक हो चुके हैं । एक भक्तके घरमें आग लगी । लोग बुझाने दौड़े तो उन्होंने मना कर दिया और अग्निमें इंधन डालने लगे । थोड़ी देरमें आग अपने आप बुझने लगी तो वे उसपर पानी डालनेमें लग गये । लोगोंने पूछा – 'अब आप बुझा क्यों रहे हैं ? पहले तो सबको बुझानेको मना कर रहे थे ।'

भक्त – 'भगवान् आग लगाना चाहते थे तब हम भी उसमें इंधन डाल रहे थे । अब वे बुझाना चाहते हैं तो हम भी जल डाल रहे हैं ।'

एक सन्त एक नौकापर जा रहे थे । नौकामें अचानक पानी भरने लगा । उसमें बैठे लोग घबड़ाये और जिसे जो बर्तन मिला उससे नौकाका पानी बाहर उलीचने लगा, किन्तु सन्तने नदीसे कमण्डलु भर-भरकर पानी नौकामें डालना प्रारंभ कर दिया । लोगोंने डाँटा--'यह क्या करते हो ?'

सन्त - 'देखते नहीं हो, भगवान् नौकाको डुबाना चाहते हैं ? मैं उनकी सहायता कर रहा हूं ।'

पानी उलीचनेवाले बहुत थे । नौका तटके पास पहुँचने लगी । उसका पानी बहुत-कुछ लोगोंने उलीच दिया था । अब सन्त भी कमण्डलु भर-भरकर नौकाका पानी बाहर डालने लगे । लोगोंने पूछा 'अब यह क्या करने लगे ?'

सन्त--'भगवान्की ही तो सहायता कर रहा हूं । अब लगता है कि वे नौकाको बचा देना चाहते हैं, अतः मैं भी इसका पानी बाहर फेंक रहा हूं ।'

भगवान् और भक्त एकान्ती अर्थात् उनकी कृति, गति, मति रसानुरति (प्रेम), स्थिति (समाधि) सब एक हो गयी हैं । दोनों एक काम करते, एक ओर चलते, एक-सा सोचते और एक-सी चाह करते हैं ।

जोइ जोइ प्यारो करै सोइ सोइ मोहि भावै ।
जोइ मोहि भावै सोइ सोइ करै प्यारो ॥

मोको तो भावतो बास प्यारेके नैननि मैं।
प्यारो भयो चाहै मेरे नैननिको तारो ॥

ठाकुरने कहा—'आज प्रलय करना है।'

भक्तने कहा—'मैं इसी क्षण मरनेको प्रस्तुत हूँ।'

वह तुम्हारी देहमें धूलि लगाना चाहता है और तुम अपने शरीरमें चन्दन लगाना चाहो तो प्रेम कैसे निभेगा!

राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है।
याँ यूँ भी वाह वा है औ त्यूँ भी वाह वा है ॥

श्रीस्वामी हरिदासजीने कहा—

जैसे राखहु तैसेहि रहिहौं ॥

'एकान्तिनो—भगवान्से एकान्तमें मिलनेका अर्थ क्या? तुम देखो कि जब तुम एकान्तमें होते हो तब तुम्हारा मन क्या करता है। एक महात्मा कहते थे—'सोते समय देखो कि तुम्हारा मन क्या सोचते सोता है और जागते समय देखो कि मन जागते ही क्या सोचता है। तुम सोते-जागते हृदयके एकान्तमें किसका स्मरण करते हो।'

पति-पत्नीके समान भक्त और भगवान् हृदयके एकान्तमें ही मिलते हैं। किन्तु एकान्तका अर्थ अपनी बुद्धिके अनुसार चलना नहीं है। क्योंकि अपनी बुद्धिसे किया पुण्य भी अभिमानका कारण होकर पतनका हेतु बन जाता है और दूसरेकी रायसे किया पाप कारित होनेसे हल्का माना जाता है। इसीलिए जो गुरु तथा शास्त्रकी सम्मतिसे चलता है उसीकी उन्नति होती है।

यह प्रेम कौ पंथ करारो महा, तरवारकी धार पै धावनो है।

'एकान्तिनो'—अनन्य—इस अनन्यका अर्थ भी समझने योग्य है। जहाँ अन्य न हो वह अनन्य। एक व्यक्तिके पत्नी है, पुत्र है, स्वामी है, सरकार है, दूसरे भी बहुत-से स्वजन-सम्बन्धी, मित्रादि हैं और प्रभु भी हैं। कभी उसे किसीका स्मरण होता है, कभी

किसीका। कभी भगवान्‌के आज्ञानुसार चलता है तो कभी मायाके आज्ञानुसार।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥
(दुर्गा-सप्तशती १.५५-५६)

'वे देवी भगवती महामाया बलपूर्वक ज्ञानियोंके चित्तको भी खींचकर उसे मोहको दे देती हैं कि—अब तुम इसे सम्हालो!'

जैसे धर्मशालामें दस-बीस यात्री आकर टिके हों वैसे तुमने अपने हृदयको धर्मशाला बना लिया है और उसमें बहुतोंको ठहरा रखा है। अब चाहते हो कि भगवान् भी उनके साथ वहीं आकर रहने लगें। भगवान् ऐसी धर्मशालामें नहीं ठहरा करते। अनन्य तुम तब होते हो जब प्रभु और तुम होते हो, दूसरा कोई नहीं रह जाता।

प्रभुर्हि केवलः एक एव। स एव नियन्ता। स एव मम स्वामी। तदतिरिक्तः कश्चित्स्वामी नास्ति। नियामको नास्ति।

'एकमात्र भगवान् ही सबके और अपने स्वामी तथा नियन्ता हैं। उनके अतिरिक्त कोई स्वामी नहीं। कोई हमारा नियामक नहीं।' संसारमें लोग बहुत हैं, देवी-देवता भी बहुत हैं किन्तु नियन्ता और स्वामी वही हैं। सरकार और सेठको हम छोड़ सकते हैं? सच्चे स्वामी वही हैं, यह स्वामीविषयक अनन्यता हुई।

संसारमें दूसरे लोग तो बहुत हैं किन्तु मेरे तो एक वही हैं। जैसे सड़कपर लोग तो बहुत चलते हैं किन्तु वे अपने तो नहीं हैं। इसी प्रकार दूसरा कोई मेरा नहीं है। केवल प्रभु ही मेरे हैं। यह ममत्वविषयक अनन्यता हुई—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई। (मीरा)

न तुम किसीके, न कोई तुम्हारा। न तुम किसीके रखनेसे रहोगे और न तुम्हारे रखनेसे कोई रहेगा। यह दूसरोंको अपना मानना ही तो भ्रम है।

भगवतः अन्यत् किञ्चिन्नास्ति।

'भगवान्को छोड़कर कुछ है ही नहीं।' यह तत्त्वविषयक अनन्यता हुई। सोनेसे भिन्न न कड़ा है, न कुण्डल और न हार। यह एकान्त हो गया।

'भगवतः अन्यत् अहमपि नास्मि' यह भक्तिकी अनन्यता है और 'मत्तः अन्यत् भगवानपि नास्ति' यह तत्त्वज्ञानकी दृष्टि है।

तस्यैवाहं ममासौ च त्वमेवाहमिति त्रिधा।

भक्तोंका साधनाभ्यास इन तीन क्रमोंसे भगवत्-शरणागत होनेपर बढ़ता है। प्रथम यह कि 'मैं उनका ही हूँ', दूसरे 'वे मेरे हैं' और अन्तमें 'मैं तुमसे पृथक् नहीं हूँ।'

'मैं भगवान्से पृथक् नहीं हूँ' यह सगुण ईश्वरकी प्रतिपत्ति हुई। इसीको सायुज्यमोक्ष कहते हैं। निर्गुण ईश्वरकी प्रतिपत्ति है—

मत्तः अन्यः ईश्वरोऽपि नास्ति।

भगवान्ने गीतामें कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(९.२२)

'स्वयम् अनन्याः सन्तः मां चिन्तयन्तः'—स्वयं अनन्य होकर-अन्य सबको छोड़कर मेरा चिन्तन करते हैं। चिन्तनकी प्रणाली क्या है? 'पर्युपासते–सर्वतः उपासते'—देश या पदार्थ किसीसे भगवान् कट न जायँ—परिच्छिन्न न हों, सब देश, सब पदार्थोंमें उनका ही चिन्तन किया जाय। 'पर्युपासते'में देशसे अपरिच्छिन्न—सर्वत्र चिन्तन बताया गया है।

'नित्याभियुक्तानां'—भगवान्के चिन्तनकी काल-अपरिच्छिन्नता इसमें सूचित की, सदा-सर्वदा सब कालमें भगवान्का चिन्तन हो। 'अनन्याः' यह वस्तुसे अपरिच्छिन्नता सूचक है। दूसरी किसी वस्तुसे चिन्तन परिच्छिन्न न हो। सब देशमें भगवान् हैं। 'पर्यु-

पासते'—सब कालमें भगवान् हैं। 'नित्याभियुक्त'—सब वस्तु रूपमें भगवान् ही हैं। 'अनन्याः'—दूसरा विषय नहीं है। यही बात गीतामें अन्यत्र भी भगवान्ने कही है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८.१४)

'अनन्यचेताः'—चित्तमें दूसरा कोई विषय नहीं आता। भगवान् विषय—परिच्छेद-रहित चित्तमें विराजमान होते हैं। 'सततं'—व्यापकरूपसे चिन्तन—देश-परिच्छेदहीन चिन्तन चलता है और 'नित्यशः'—सर्वकालमें-काल-परिच्छेदरहित चलता है। ऐसे अनन्य भक्त मुख्य—प्रधान हैं।

भक्तोंकी भगवच्चर्चासे कुल और भूमण्डल पवित्र होते हैं

● संगति

मुख्य भक्तोंका स्वरूप बतलाकर अब उनकी महिमा बतलाते हैं कि वे स्वयंको ही पवित्र नहीं करते, अपने कुलकी तो चर्चा क्या, पूरी पृथ्वीको पवित्र करते हैं। ●

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमाना पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ॥६८॥

(ऐसे अनन्य भक्त) परस्पर (भगवान्‌की) चर्चा करते समय कण्ठावरोध, रोमाञ्च तथा अश्रुयुक्त होकर (अपने) कुलोंको एवं पृथिवीको भी पवित्र करते हैं ॥ ६८ ॥

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्क० पुरा० माहे० खं० कौ० खं० ५५.१४०)

'अपार ज्ञानानन्दसिन्धु परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णमें जिसका चित्त लीन हो गया है उस अनन्य भक्तका कुल पवित्र हो गया। वह माता भक्त पुत्रको जन्म देकर कृतार्थ हो गयी। पृथ्वी उस भक्तको पाकर सौभाग्यशालिनी हुई (धन्य है वह कुल जिसमें भगवद्भक्त उत्पन्न हुआ)!'

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(श्रीमद्भाग० ११.१४.२४)

भगवान् कहते हैं—'जिसकी वाणी गद्गद हो रही है, चित्त द्रवित है, कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी लज्जा त्यागकर गाता है और नाचता है, ऐसा मेरी भक्तिसे युक्त भक्त त्रिभुवनको पवित्र करता है।'

स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता।

'जैसे लम्पट पुरुष बार-बार रस लेकर स्त्रियोंकी ही चर्चा करते हैं वैसे ही साधु पुरुष रसपूर्वक बार-बार भगवान्की ही चर्चा करते हैं।'

संसारके विषयोंकी प्राप्ति—भोग और आनन्दके लिए श्रम करना पड़ता है तथा धन एवं मन देना पड़ता है। उसमें फँसना पड़ता है। हृदयसे बाहर जाना पड़ता है। किन्तु भगवान् अपने भीतर ही हैं। उनका गुणानुवाद गाने लगे तो वाणी गद्गद हो गयी। नेत्रोंमें अश्रु आ गये। हृदय आनन्दसे भर उठा। तुम्हें इधर-उधर ही भटकना था तो भक्तिमार्गपर क्यों आये ?

जौं मैं ऐसा जानती, प्रीति किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रीति करै जनि कोय॥ (मीरा)

तुम संसारके लिए कितने निर्लज्ज बनते हो! किसीसे कुछ माँगना हो तो वह गाली देता है, तिरस्कार करता है। स्त्री-पुरुष, माता-पुत्र परस्पर लज्जाका त्याग करते हैं या नहीं? किन्तु भगवान्का नाम लेते तुम्हें लज्जा आती है! भक्त तो विलज्ज उद्गायति—लज्जा त्यागकर गाता है; क्योंकि भगवान् भक्तका संगीत सुनने आते हैं। उन्होंने कहा—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥ (आदिपुराण)

'नारदजी ! न मैं वैकुण्ठमें रहता, न योगियोंके हृदयमें बसता। आप-जैसे मेरे भक्त जहाँ गाते हैं वहीं मैं रुका रहता हूँ।'

भगवान्‌को राग और भोग प्रिय है। भक्तिमें राग-राग तथा भोग-भोगकी प्रधानता है। राग—भगवान्‌में प्रेम और राग—भगवान्‌के गुण, नाम, लीलादिका गायन करो। भोग—भगवान्‌की पूजा करके उन्हें भोग लगाओ तथा भोग—भगवान्‌के लीला-विहारका चिन्तन करो।

प्रेमकी महिमा सर्वोपरि है। प्रेममें निकट-दूर होनेका, अभी या दस वर्ष बाद मिलनेका, वस्तुके लेने-देनेका अर्थात् देश, काल, वस्तुका कोई महत्त्व नहीं है। प्रेम जिस हृदयमें रहता है उसका भला करता है। जिससे प्रेम किया जाता है, उसका हित तो प्रेम चाहता ही है।

जब हृदयमें किसीके भी प्रति, किसी भी कारणसे कटुता आवे, तब समझो कि तुम्हारे प्रेममें ह्रास आ रहा है। प्रेम मधुर है। जिसके हृदयमें प्रेम आया उसके व्यक्तित्वको मधुर कर देता है। प्रेम स्वयं पवित्र है। जिस हृदयमें प्रेमकी गंगा बहने लगी उसके हृदयमें सबके लिए पवित्रता, मधुरता आ जाती है। प्रेमी जिसे स्मरण कर ले, जिसपर उसकी दृष्टि पड़ जाय, जिसे वह स्पर्श कर ले, वह भी भवित्र हो जाता है।

जो प्रेमी भी बनते हैं और किसीसे द्वेष भी करते हैं वे तो प्रेमका उपहास करते हैं। कर्मके द्वारा व्यक्तित्व स्फूर्तिमय, परिश्रमी बनता है। योगसे व्यक्तित्व निर्विकार, शान्त बनता है। ज्ञान व्यक्तित्वमें परिवर्तन नहीं करता, वह केवल वस्तुको प्रकाशित करता है। ज्ञानसे व्यक्तित्व गम्भीर बनता है। भक्तिसे व्यक्तित्व मधुर बनता है।

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान् वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति॥

यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम्।
मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः॥
तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धनस्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्॥

(श्रीमद्भाग० ७.७.३४-३६)

जिनकी कहीं तुलना नहीं ऐसे भगवान्के गुण तथा अवतार लेकर किये हुए उनके कर्म एवं चरित सुनकर जब मनुष्यको अत्यन्त हर्षके कारण रोमाञ्च हो जाता है, आँसू झरने लगते हैं, वाणी गद्गद हो जाती है, कण्ठ भर आता है, वह खुलकर उच्च स्वरसे कभी गाता है, कभी रोता है, कभी नाचता है, बार-बार दीर्घ श्वास लेकर 'हरे! जगत्पते! नारायण!' इस प्रकार बोल उठता है, भगवान्में बुद्धि लगनेसे लज्जा छूट जाती है, तब उस पुरुषके सब बन्धन छूट जाते हैं, भगवद्भावके कारण उसका चित भगवदाकार हो जाता है, कर्म-संस्कारके सब बीज जल जाते हैं और वह महान् भक्तिके आश्रयसे अपने भीतर ही स्थित परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

पहले मैं बड़े प्रेमसे 'कृष्ण-कृष्ण' बोला करता था। एक बार एक धर्मशालामें ठहरनेके लिए गया तो उसके चौकीदारने कहा—'यहाँ अकेले मनुष्यको नहीं ठहराया जाता। तुम्हारे पास न तो बिस्तर है, न कोई सामान। तुमको हम नहीं ठहरावेंगे।'

मैंने 'कृष्ण-कृष्ण' कहा। चौकीदार कुछ सोच्कर बोला—'तुम बोलते तो बहुत अच्छा हो। ठहर जाओ।'

उसने मुझे एक आलमारी दे दा। बरामदेमें पड़े रहनेको कह दिया। उसके बाद तो उस धर्मशालाके मैनेजर, चौकीदार जो अबतक बदलते गये हैं, सब मेरे भक्त हो गये।

'कृष्ण-कृष्ण' कहनेसे सब कामना पूर्ण होती है। यह सिद्ध नाम है। महापुरुषोंने जिन भगवन्नामको अपनाया, जिनसे उनका संकल्प जुड़ गया, वह नाम सिद्ध हो गया।

भगवान्‌का नाम तथा उनकी लीला सुनकर हृदयमें हर्ष हुआ। भावचन्द्रकी चन्द्रिका पड़ी तो हृदय खिल गया। नाभिसे बारह अंगुल ऊपर अधोमुख हृदयकमल है। भावचन्द्रिकासे वह ऊर्ध्वमुख होकर खिल जाता है।

कुछ लोगोंको सुननेका व्यसन होता है। एकान्तमें वे सुने हुएपर विचार नहीं करते। उसका स्मरण नहीं करते। अतः उन्हें श्रवणका रस नहीं मिलता। भजनके बिना श्रवणका रस प्रकट नहीं होता। भजनका अनुभव भगवान्‌से स्पष्ट होता है और श्रवणमें रस भजन करनेसे आता है।

कलकत्तेमें मेरे परिचित एक कसेराजी थे। बड़े धार्मिक और धनी थे। किसी मुकदमेमें एक बार उन्हें न्यायालय जाना पड़ा। वहाँ उनके मनमें कुछ ऐसा प्रेम उमड़ा कि चिल्ला पड़े—'हे प्रभु दीनदयाल हरे!'

न्यायाधीश अंग्रेज था। वह बोला—'यह क्या असभ्यता करते हो! यहाँ चिल्लानेका नियम नहीं है।'

कसेराजी—'मैंने समझा था कि यह कंस-रावणका नहीं, भगवद्भक्तका न्यायालय है।'

जज—'अच्छा, तुम भगवद्भक्तका न्यायालय समझकर बोले, बहुत अच्छी बात है।'

'प्रोत्कण्ठ उद्गायति'—भक्त खुले कण्ठसे भगवद्गुण गाता है। 'रौति'—जब लगता है कि भगवान् दूर जाने लगे तो रोने लगता है। 'नृत्यति'—जब वे हृदयधन समीप आने लगते हैं तो नाचने लगता है।

अपने जीवनमें कामके वश होकर तुमने कितनी बार पागलपन किया? क्रोधके आवेशमें कितनी बार पागल बने? उस समय तुम चिल्लाये, गालियाँ दीं, क्या-क्या किया, उसे स्मरण करो। लोभके वश तो लोगोंमें पागलपन प्रतिदिन देखनेमें आता है।

सट्टाबाजर या शेयर बाजारमें जाकर देखो तो बड़े-बड़े लोग पागलोंके समान गला फाड़कर 'लिया-लिया', 'दिया-दिया' चिल्लाते हैं। एक दिन भगवान्‌के प्रेमवश भी तो पागलपन आने दो। यह पागलपन आया तो जीवन सफल हो गया।

कभी हँस रहे हैं, कभी रो रहे हैं, कभी चिल्लाकर गा रहे हैं, कभी नाच रहे हैं। कभी सामने आनेवाले प्रत्येककी वन्दना कर रहे हैं—'तुम्हीं तो भगवान् हो!' इस प्रकार बुद्धि परमात्मामें लग गयी। संसारकी लज्जा छूट गयी। पिघले स्वर्णको जैसे साँचेमें डालो वैसे आकारका बन जाता है, वैसे ही द्रवित हृदय भगवद्भावसे भगवदाकार हो गया। वही नवघनसुन्दर छवि, मुस्कान जब नेत्र बन्द करते हैं तभी हृदयमें दिखायी पड़ती है। इतना अवश्य होना चाहिए। संसारमें कष्ट, विपत्ति, रुदन, मृत्यु, कुछ भी हो, नेत्र बन्द करनेपर हृदयमें वही दिखलायी पड़े।

'पावयति कुलानि पृथिवीं च'—जिसकी स्थिति ऐसी हो गयी उसके पिताका कुल, माताका कुल और पत्नीका कुल पवित्र हो गया। इन तीनों कुलोंके लोगोंका उद्धार हो गया।

भक्तिमें वह शक्ति है जिससे भगवान् भी पवित्र होते हैं। जब संसारी लोग अपना पाप-ताप, शुभ-अशुभ भगवान्‌को निवेदित करते हैं तब भगवान् उस मलिनतासे पवित्र होनेके लिए अपने भक्तकी पदधूलि धारण करते हैं।

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।

(श्रीमद्भाग० ११.१४.१६)

भगवान् कहते हैं—'मैं नित्य भक्तोंके पीछे इसलिए चलता हूँ कि उनकी चरणधूलि मुझपर पड़े तो मैं पवित्र हो जाऊँ।'

भक्तके उत्पन्न होनेसे भगवान्‌का कुल भी पवित्र हो जाता है (हम सब 'अच्युतगोत्रीय जन' भगवान्‌के ही कुलमें तो हैं।) हमारी माता पृथिवी भी भक्तके संस्पर्शसे पवित्र होती है। •

भक्त ही तीथको तीर्थ कर्म सुकर्म और शास्त्रको सच्छास्त्र बनाते हैं

● संगति

भक्तकी महिमाका वर्णन करते हैं कि उसका सम्पर्क कितना पवित्र है।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ॥ ६९ ॥

(भगवद्भक्त) जो तीर्थ नहीं हैं उन्हें भी तीर्थ बना देते हैं, कर्मोंको सुकर्म बना देते हैं और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बना देते हैं ॥ ६९ ॥

'तीर्थीकुर्वन्ति, अतीर्थान्यपि तीर्थानि सम्पादयन्ति इति तीर्थीकुर्वन्ति'—'वे अतीर्थको भी तीर्थ बनाते हैं।' तीर्थ उसे कहते हैं जिसका आश्रय लेकर मनुष्य संसारसागरको तर जाय।

तीर्थयात्रा करने निकले तो घरकी चिन्ता और भोग छूटा। पहले बद्रीनाथजीकी यात्रा पैदल होती थी। यात्रीको महीने दो महीने संसारमें क्या हो रहा है, इसका पता ही नहीं लगता था।

संसारसे पार जानेके साधनका नाम तीर्थ है। शास्त्रने गुरु, माता-पिता, गंगा, बद्रीनाथ, वृन्दावन आदिको तीर्थ बताया है। भगवान् जहाँ-जहाँ प्रकट होते हैं, जहाँ लीला करते हैं, वे स्थान नवीन तीर्थ हो जाते हैं। भक्त-संत जहाँ साधन-भजन करते हैं, जहाँ बैठ जाते हैं, वह स्थान तीर्थ हो जाता है।"

प्राचीन तीर्थ जब कालके प्रभावसे लुप्त हो जाते हैं तब उनका पुनरुद्धार करके महात्मा ही उन्हें फिरसे तीर्थ बनाते हैं। महाराज विक्रमादित्यके समयमें अयोध्याका पता नहीं था। शकोंको पराजित करके वे सेनाके साथ लौट रहे थे। सरयू किनारे एक निर्जन वनमें पड़ाव किया वहाँ उन्हें एक योगी महात्माने बताया– 'यह अयोध्यापुरी है। जहाँ-जहाँ बैठनेसे तुम्हारे चित्तमें श्रीरघुनाथ जीकी जिस लीलाका स्मरण हो उस स्थानको वह लीलास्थली समझना।'

इसके अनुसार महाराज विक्रमादित्यने अयोध्यामें मन्दिर आदि बनवाये। इसी प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभुसे पूर्व वृन्दावनमें कौन-सी लीलास्थली कहाँ है, इसका पता नहीं था। महाप्रभुने श्रीरूप एवं श्रीसनातनको आशीर्वाद देकर भेजा कि 'तुम्हें श्याम-सुन्दरके लीलास्थलोंकी स्फुरणा होगी।' वर्तमान वृन्दावनके लीलास्थानोंका निश्चय श्रीरूपसनातनने किया है।

श्रीवल्लभाचार्यजी गिरिराजसे थोड़ी दूर चन्द्रसरोवरके समीप जहाँ परसौली ग्राम है वहाँ वृन्दावन मानते हैं। एक वृन्दावन सारस्वत कल्पका है और एक पाद्म कल्पका। अतः दोनों स्थान कल्पभेदसे ठीक हैं।

श्रीशंकराचार्यजीने नारदकुण्डमें प्रवेश करके श्री बद्रीनाथजीकी मूर्ति निकालकर प्रतिष्ठित की है। भक्त न होते तो तीर्थं कैसे बनते? पुण्डरीक न हुए होते तो पण्ढरपुर क्या तीर्थं होता? गोपियाँ न होतीं तो वृन्दावन क्या होता? दशरथ-कौसल्या न होते तो अयोध्याकी क्या महत्ता थी? भक्त जहाँ बैठ गये, जहाँ स्नान कर लिया, वह स्थान तीर्थं हो गया।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तस्थेन गदाभृता। (श्रीमद्भागवत)

'भक्तोंके हृदयमें भगवान् प्रत्यक्ष विराजमान रहते हैं। अतः भक्त जहाँ आते हैं वह स्थान पवित्र हो जाता है।'

आजकल लोग तीर्थमें जाते हैं तो स्नान किया, मन्दिरमें गये, दो-चार रुपया चढ़ाया और मान लिया कि तीर्थ-यात्रा हो गयी। नियम यह है कि तीर्थमें जाओ तो पहले उस तीर्थका माहात्म्य सुनो कि वह स्थान कैसे तीर्थ बना। तुम्हें पता लगेगा कि पहले वहाँ कोई भक्त हुआ होगा। उस भक्तको दर्शन देनेके लिए भगवान् प्रकट हुए होंगे। भक्त और भगवान्के मिलनके बिना तीर्थ नहीं बनता। गङ्गा कैसे प्रकट हुई? अयोध्या, वृन्दावन कैसे और क्यों तीर्थ हैं? यदि किसी तीर्थके विषयमें यह जान लो कि यह तीर्थ कैसे बना तो तुमको भक्तका, उसकी भक्तिका एवं भगवान्की कृपाका माहात्म्य सुविदित हो जायगा। इससे तुम्हारे हृदयमें भक्ति आवेगी।

अब भी प्रत्येक तीर्थमें उच्चकोटिके महात्मा रहते हैं। कहीं वे प्रकट रहते हैं, कहीं गुप्त रूपसे। तीर्थमें जाकर निन्दाका भाव मनमें मत लाना। हाँ, वहाँ स्वच्छताकी, जलकी व्यवस्था करा दो; धर्मशाला, पाठशाला, अन्नसत्र खुलवा दो।

तीर्थमें जाकर वहाँ दोष-दर्शन करना, एक तीर्थमें जाकर अन्य तीर्थके माहात्म्यका स्मरण करना—वर्णन करना, असंयम करना, ये दोष हैं। तीर्थयात्राका लाभ इन दोषोंसे बचनेपर ही होता है।

नये-नये तीर्थ बनते जाते हैं और बनते रहेंगे, क्योंकि तीर्थोंको तीर्थ तो बनाया है भगवान्के भक्तोंने। भगवान्के भक्त जहाँ-जहाँ उत्पन्न होंगे, साधन-भजन करेंगे, वहाँ-वहाँ नवीन तीर्थ बनते ही जायँगे।

'सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि'—कर्म तो सब करते हैं और अच्छे बुरे दोनों प्रकारके कर्म करते हैं; किन्तु अच्छे कर्मको भी लोग अपने भाव-दोषसे बुरा बना देते हैं। एक मनुष्य प्रातःकाल उठता है, गङ्गास्नान करता है और वहाँ किनारे बैठकर जप करता है।

उसका कर्म तो अच्छा है; किन्तु उसके मनमें है—'कोई यजमान आवे तो कुछ प्राप्त हो।' इस भावने उसके जपको दूकानदारी बनाकर दूषित कर दिया है।

एक व्यक्ति पैर दबाता है। यह सेवा कार्य उत्तम है किन्तु मनमें कोई स्वार्थ है, पैर दबाकर, प्रसन्न करके कुछ पाना चाहता है तो यह सेवा दूषित हो गयी। हृदय स्वच्छ हो तो कर्ममें त्रुटि रहनेपर वह सुधर जाती है किन्तु हृदय स्वच्छ न हो तो शुद्ध कर्म पूरो निपुणतासे सम्पन्न होनेपर भी दूषित हो जाता है। इसलिए कर्मको सत्कर्म बनानेका उपाय यही है कि हृदयमें भगवान्‌की भक्ति आवे।

भक्त सब काम भगवान्‌के लिए करता है इसलिए उसके कर्ममें कुछ त्रुटि भी हो तब भी वह सत्कर्म हो है, भाव शुद्ध होना चाहिए। एक मनुष्य आपसे वेतन लेता है और आपके घरका काम करता है। अब यदि चाय बनाते समय उससे असावधानीमें प्याला टूट जाय तो आप डाँटेंगे। किन्तु एक व्यक्ति आपके घर आया और प्रेमसे आपके लिए चाय बनाने लगा। उससे प्याला टूट जाय तो आप डाँटनेके स्थानपर पूछेंगे—'कहीं चोट तो नहीं लगी? जले तो नहीं?' इस प्रकार वेतनिक सेवक तथा प्रेमीके काममें अन्तर हो जाता है?

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।

कर्मकी तो कथा ही क्या, निरञ्जन—निर्मल ज्ञान भी अच्युतकी भक्तिसे रहित 'अलं न शोभते' पर्याप्त शोभित नहीं होता 'शोभते किन्तु अलं न शोभते।' ज्ञान हो गया, अभिधाकी निवृत्ति हो गयी, यह तो ठीक है, किन्तु वृत्ति कैसी रहती है? वृत्ति निरन्तर ब्रह्ममयी रहती है या नहीं? ब्रह्मज्ञान होनेपर भी कभी रोता है, कभी दुखी होता है, जो भी यह सब है अनात्मामें हो, किन्तु यह

ज्ञानकी शोभा नहीं है। सर्वस्वत्यागी जीवन्मुक्तके चित्तमें दुःख आवे, यह उसके ज्ञानको शोभा नहीं देता।

कर्म तो शश्वदभद्र—सदा बन्धनमें डालनेवाला है। वह कभी पूर्ण नहीं होता। एक काम करो तो दूसरा सामने प्रस्तुत। कर्मको पूरा करके उससे छुटकारा नहीं होता। उसे कभी-न-कभी काटना—जहाँ-का-तहाँ छोड़ना ही पड़ता है। संसारमें सभी वियुक्त होते हैं। कभी हमारे मरनेसे वे और कभी उनके मरनेसे हम वियुक्त होते हैं। यहाँ तो एक दिन पिता-पुत्र, धन-भवन, अपनी देहतक छूट जाती है। एक दिन आवेगा जब तुम्हारे ही ये हाथ-पैर तुम्हारे उठाये नहीं उठेंगे, जीभ नहीं हिलेगी। जब हमारे शरीरकी यह दशा है तब शरीरसे कर्म करते-करते हम कबतक निर्वाह कर सकते हैं। कर्म हमको कहाँतक ले जायगा? संसारसे थोड़ी विरक्ति होती है तब भक्ति आती है। जो संसारसे राग करते हैं वे यदि भगवान्‌के भजनमें लगते भी हैं तो वहाँ भगवान्‌से भी नोटकी गड्डी, कोठी, ऊँची कुर्सी माँगते हैं। किन्तु भगवान्‌का भक्त लौकिक कर्म भी करता है तो भगवान्‌के लिए करता है। अतः उसके सब कर्म सत्कर्म बन जाते हैं।

'सच्छास्त्रीकुर्वन्ती शास्त्राणि'—शास्त्र बहुत होते हैं। ऐसे भी शास्त्रीय-ग्रन्थ हैं कि पूरा जीवन उनकी पंक्तियोंका अर्थ समझनेमें लग जाता है। शास्त्र और सत्शास्त्र ये दो हैं।

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः॥
(श्रीमद्भाग० १.५.१०)

'जिस विचित्र पदवाली वाणीमें जगत्‌को पवित्र करनेवाला भगवान्‌का सुयश कहीं नहीं है, वह तो उस कौओंके स्नान करने-

वाले गड्ढेके समान है जिसमें अत्यन्त सुशिक्षित मानसरोवर-विहारी हंस क्रीड़ा नहीं करते।'

लोग बोलने या लिखनेमें बड़ी चित्र-विचित्र लच्छेदार भाषाका प्रयोग करते हैं। 'जन मन रंजन भंजन खंजन' जैसा तुक मिलानेमें—अनुप्रासके प्रयोगमें ही अपनेको धन्य मान लेते हैं। कोई कहते हैं—'बेतुके—अमिताक्षरमें नैपुण्य है।'

मजा तो तब है जब एक कहे औ दूसरा समझे।
गर अपना कहा आप ही समझे तो क्या समझे॥

कुछ तो ऐसे भी लिखते-बोलते हैं कि—

खुदा सौ बार सिर मारे तो शायद वह कभी समझे।

बात बड़ी कही गयी। काव्य-बन्ध, यमक-अनुप्रास, उत्प्रेक्षा-वक्रोक्ति-अलंकृत वाणी बोली गयी; किन्तु उसे सुनकर हृदयमें क्या आया? आनन्द आया, सो तो ठीक; किन्तु हृदयमें रूप कौन-सा आया? यदि उसे सुनकर हृदयमें भगवद्रूप नहीं आता तो वह काक-क्रीड़ा-तीर्थ है। उसमें हंस विहार नहीं करता।

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥

(श्रीमद्भा० १.५.११)

'उस वाणीका उच्चारण जनताके पापका प्रलय है जिसमें श्लोक-छन्द-अलंकार न होनेपर भी भगवान् अनन्तके यशसूचक वे नाम हों जिन्हें साधुजन सुनते, गाते तथा दूसरोंको सुनाते हैं।'

जिसके हृदयमें मोहका पाश लगा है उसको जीना-मरना दोनों बुरा है। जीवित रहते भी वह जगत्को पीड़ा तथा पाप देगा, और ऐसे दुष्टकी मृत्यु भी जगत्को अकल्याणकी ओर ही ले जायगी। उसका मांस खानेवाले पशु-पक्षी भी दुष्टताके संस्कार पावेंगे।

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥
(श्रीमद्भाग० १२.१२.४९)

'वही वाणी रमणीय है, सुन्दर है, नित्य नवीन है, सदा मनको आनन्द देनेवाली तथा मनुष्यके शोकसागरको सुखा देनेवाली है जिसमें बराबर उत्तम श्लोक भगवान्का यश गाया जाता है ।'

आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ।
वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ॥

भक्तिके सम्बन्धसे शास्त्र सच्छास्त्र बन जाता है। एक भक्त कोई सुन्दर वस्तु देखते तो बड़े ध्यानसे देखने लगते। कोई पूछता—'क्या कर रहे हैं ?'

उत्तर देते—'नेत्र पका रहा हूँ ।'

उनका तात्पर्य होता था कि भगवान्को नेत्र-मार्गसे हृदयमें बैठा रहा हूँ। भक्तमें इतनी सामर्थ्य कहाँसे आयी ? भक्तिके द्वारा आयी । मातृ-भक्ति, पितृ-भक्ति, पति-भक्तिसे घर तीर्थ बन जाता है। पर देशके ये सब बड़े-बड़े तीर्थ उन्होंने बनाये हैं जिन्होंने भगवान्की भक्ति की है । पिता-माता, पति-गुरु सबकी भक्ति ईश्वर-भक्तिके अन्तर्गत आजाती है क्योंकि ईश्वर सबका माता-पिता, तथा गुरु है। देवताओंका भी देवता ईश्वर है अतः ईश्वर-भक्तिमें सब देवताओंकी भक्ति आजाती है । आजकल देश-भक्तिकी चर्चा तो है किन्तु अब विचारवान् लोग राष्ट्रवाद–राष्ट्र-भक्तिको त्यागकर विश्वमानवताकी बात करने लगे हैं क्योंकि परमाणुबमके आविष्कारके कारण राष्ट्रोंका संघर्ष महानाश कर सकता है। अब जब दो ग्रहके निवासियोंमें युद्ध होंगे तब लोग कहेंगे–'सबमें एक ही ईश्वर है, अतः परस्पर युद्ध मत करो ।' इस प्रकार ईश्वर-भक्ति, राष्ट्र-भक्ति, मानव-भक्तिसे भी बड़ी है। जो ईश्वरकी भक्तिमें लगे हैं वे जिस शास्त्रको प्रमाण मान लेते हैं वह शास्त्र समाजमें सत्शास्त्र माना जाने लगता है । ●

भक्त भगवन्मय होते हैं

● संगति

भक्तमें तीर्थोंको तीर्थ बनाने, कर्मको सुकर्म बनाने, शास्त्रको सत् शास्त्र बनानेकी शक्ति-सामर्थ्य क्यों है ? ●

तन्मयाः ॥७०॥

(क्योंकि वे भगवान्के भक्त) तन्मय होते हैं ॥७०॥

यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत् सनातनम् ॥

'जिसमें मनुष्यका चित्त लगा है वह मनुष्य उसका ही स्वरूप है, यह सनातन रहस्य है ।'

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः । (गीता)

'यह पुरुष श्रद्धामय है । जो जिसपर श्रद्धा करता है वह उसीका स्वरूप है ।'

भगवान्का भक्त भगवन्मय होता है । जिसकी धनमें श्रद्धा-आसक्ति है उसका अन्तःकरण धनमय है । जैसे मिट्टीसे बना घड़ा मृन्मय है वैसे भगवच्चिन्तनसे बना भक्त भगवन्मय है । भक्त तो वह बना ही भगवच्चिन्तनसे है । भगवान्का चिन्तन किये बिना कोई भक्त बन ही नहीं सकता ।

चित्तमें कोई एक न होकर बहुत हों तो आश्रय-रोग होता है । कोई न हो तो मय अर्थात् मायाकी रचना नहीं रह जाती है । तुम भगवन्मय नहीं बनोगे तो मायामय बने रहोगे ।

भक्तने तीर्थको तीर्थ, कर्मको सुकर्म, शास्त्रको सत्-शास्त्र बनाया तन्मय होनेके कारण । भक्त जहाँ गया उसके साथ भगवान् गये । भक्तकी वाणीमें भगवान् बोलते हैं । भक्त कर्म करता है तो भगवान् उसे अपना कर्म मानते हैं । इसलिए भक्तका स्थल, भक्तके कर्म, भक्तकी वाणी—सब भगवान्के सम्पर्कसे पवित्र हैं । ●

भक्तसे देव-पितरोंकी प्रसन्नता तथा पृथ्वीकी सनाथता

● संगति

सम्पूर्ण विश्व भक्तके कारण पवित्र एवं आनन्दित होता है। केवल तीर्थ, कर्म एवं शास्त्र ही नहीं, त्रिभुवनको भक्त पवित्र करता है, यह बात स्पष्ट करते हैं। ●

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ।।७१।।

(भक्तको देखकर) पितर आनन्दित होते हैं, देवता नृत्य करने लगते हैं और पृथ्वी सनाथ हो जाती है ।। ७१ ।।

जिस वंशमें भक्त उत्पन्न होता है उस वंशके पितर आनन्दित हो जाते हैं कि अब हमारी मुक्ति हो जायगी। जब भगवान् नृसिंहने प्रह्लादसे वरदान माँगनेको कहा तो प्रह्लादने मना कर दिया—'वरदान तो सकाम चाहता है। मुझे वरदान नहीं चाहिए। मेरे हृदयमें कोई कामना नहीं है। आप वरदान ही देना चाहते हैं तो यह वरदान दें कि मेरे मनमें कभी कामनाका उदय ही न हो।'

इसके पश्चात् प्रह्लादने वरदान माँगा—'मेरे पिताने आपसे द्वेष किया, आपका भक्त होनेके कारण मुझे पीड़ा दी। इस दुरन्त भक्तापराधसे वे छूट जायँ।'

भगवान् नृसिंह बोले—

त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ।

(श्रीमद्भाग० ७.१०.१८)

'निष्पाप प्रह्लाद ! तुम्हारे पिता तो अपने तीनों कुलके सात-सात पितरोंके साथ पवित्र हो गये।'

पितर भले पितृलोकमें हों किन्तु वे अपने वंशमें उत्पन्न भक्तके सम्बन्धसे सम्बन्ध जोड़कर आनन्दित होते हैं। वे सोचते हैं—'यह हमारे वंशमें भक्त हुआ। अब इसकी भक्तिरूपिणी पुत्रीसे तो भगवान् विवाह करेंगे ही। अतः भगवान् अब हमारे जामाता बनेंगे।'

सम्बन्ध जितना भी है, सब मानसिक ही होता है। 'मकान मेरा, स्त्री-पुत्र मेरे' यह 'मेरापन' मानसिक ही तो है। पति-पत्नीका सम्बन्ध भी मानसिक है। इसी प्रकार भक्त-भगवान्का सम्बन्ध भी मानसिक है। यह तो तुम्हारे मनके स्तरकी बात है कि वह 'मेरा' किसे बनाकर उससे युक्त होता है। भंगी लोग गन्दी नालीको 'मेरा' कहकर परस्पर लड़ते हैं—'यह नाली मेरी। तू क्यों इसे स्वच्छ करने आया!'

सबसे बड़ा सम्बन्ध माता-पुत्रका माना जाता है। उसमें भी पुत्र दत्तक हो या अपने पेटसे उत्पन्न, 'मेरापन' मानसिक ही होता है। अपने पेटसे निकले कीड़ोंको क्या किसी स्त्रीने पुत्र माना है?

'मैं' और 'मेरा' यह न प्राकृत है, न ईश्वरकी रचना है। ईश्वरीय सृष्टि तो पञ्चमहाभूत हैं। इस ईश्वरीय सृष्टिमें 'मैं' तथा 'मेरा'का भाव आविद्यक है। प्राकृत सृष्टि संसार है, इसमें जो सम्बन्धकी भावना है, वह प्रातीतिक है इसलिए संसारमें जैसे तुम 'मैं-मेरा करते हो, वैसे ही सुख-दुःख भोगते हो। ईश्वरको तुमने 'मेरा' मान लिया तो संसारके नाश-ह्रास, विकास-उल्लास, सुख-दुःखसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। तुम इससे ऊपर उठ गये।

इस सम्बन्धमें मेरा अनुभव है प्रयागमें संन्यास लेते समयका। संन्यास-ग्रहण की विधिमें तीन दिन लगते हैं। एक दिन विरजा-हवनके लिए अग्नि जलाते हैं। रात्रिभर जागते हुए उस अग्निकी रक्षा करनी पड़ती है। तब दूसरे दिन हवन किया जाता है। जिस

दिन अग्नि जलायी गयी उस रात्रिको अग्निके सामने बैठे हुए मुझे निद्रा आगयी। स्वप्नमें मैंने देखा कि मैं सिंहासनपर बैठा हूँ और मेरा पिता तथा पितामह हाथमें जल एवं कुश लेकर मेरा अभिषेक कर रहे हैं। मुझे लगा कि ये दोनों मेरे संन्यास-ग्रहणसे बहुत प्रसन्न हुए हैं।

यह तो साधारण संन्यासकी बात है। मेरे मनमें संन्यास-ग्रहणके प्रति बहुत आस्था नहीं थी। अपने मनमें ब्रह्मसे कमपर अहंता थी ही नहीं। किन्तु यदि ईश्वरसे प्रेम हो तब तो पितर बहुत ही आनन्दित होते हैं।

नृत्यन्ति देवताः—देवता कब नाचते हैं, जब उन्हें कोई अत्यन्त अद्भुत वस्तु प्राप्त हो। नेत्रसे रूप दीखता है सूर्यकी सहायतासे; किन्तु हम देखते हैं चमड़ेका सौन्दर्य, इससे सूर्यको ग्लानि होती है। भक्तके नेत्र जब जहाँ जाते हैं, सर्वत्र भगवान्‌को देखते हैं। सूर्य देवता सोचते हैं—'इसके नेत्रोंको जो मैं इसके जन्म-जन्म से सहायता देता आ रहा था वह मेरी इतने दिनोंकी सहायता आज सफल हो गयी। इसके नेत्रोंमें बैठकर आज मुझे भगवान्‌के दर्शन हो रहे हैं।'

वायुदेवता त्वगिन्द्रियमें बैठकर भगवान्‌की पूजाका सुख लेते हैं। अग्नि देवता वाणीमें बैठकर भगवन्नामोच्चारण करते हैं। इसलिए देवता चाहते हैं कि आज इस भक्तके माध्यमसे हमारा भी भगवान्‌से सम्बन्ध जुड़ गया।

भक्तोंमें भी दो भेद होते हैं—एक प्राकृत भक्त और एक अप्राकृत-भक्त। प्राकृत भक्त पाञ्चभौतिक शरीरधारी होते हैं। उनकी इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता ये सूर्य, अग्नि आदि होते हैं। किन्तु अप्राकृत भक्त भगवान्‌की इच्छासे दिव्यलोकसे पृथ्वीपर आते हैं। उनके शरीर दिव्य होते हैं। उनकी इन्द्रियाँ न तो पञ्चमहाभूतोंकी सात्त्विक तन्मात्रासे बनी होतीं, न उनकी इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता

होते। फिर भी जब गोपियाँ, गोपबालक श्रीकृष्णके सम्पर्कमें आते थे तो देवता यह सोचकर नृत्य करने लगते थे कि—'लोग तो यही समझेंगे कि इनके भी नेत्रादि हैं तो उनके भी वैकारिक देवता होंगे। इस प्रकार मिथ्या धारणासे भी तो हमें गौरव ही मिलता है।'

भक्तको देखकर, भक्तके सम्पर्कमें आकर लोग धर्मात्मा बनते हैं। धर्मात्मा होनेपर वे यज्ञ, दान, तप, देवार्चन आदि करते हैं। धर्मकी वृद्धि तथा पापका क्षय होता है। अतः भक्त होता है तो देवता हर्षसे नाचने लगते हैं कि भक्त उनकी तृप्ति तथा अभ्युदयमें सहायक होगा।

सनाथा चेयं भूर्भवति—पृथ्वीके—भूदेवीके पति तो भगवान् हैं। अतः पृथ्वी कभी अनाथा नहीं होती। वैसे भी भूमि क्या कभी कहीं स्वामिहीन रही है? इसमें एक पौराणिक आख्यायिका है। भगवान् ठहरे बहुवल्लभ। वे जब वैकुण्ठमें रहते हैं तो वहाँ श्रीदेवी-लक्ष्मीका प्राधान्य रहता है। वहाँ पृथ्वी-भूदेवी गौण होकर रहती हैं। भगवान् वहाँ रमाके प्रेमके बन्दी बने रहते हैं। वे सिन्धुसुता प्रभुके चरण भी अपने अङ्कमें ही रखती हैं। अतएव भूदेवी वियोगाकुल रहती हैं। भक्त जब पृथ्वीपर उत्पन्न होता है तो भगवान् उसके हृदयमें आ विराजते हैं। कोटि-कोटि भक्तोंके हृदयमें भगवान् आ गये तो पृथ्वी अपने स्वामीको पाकर सनाथा हो गयी। भला नन्द-यशोदा, दशरथ-कौसल्या-जैसे भक्त न होते तो भगवान् पृथ्वीपर क्यों आते? भक्तके सहारे ही पृथ्वीको अपने पति, प्रभु प्राप्त होते हैं।

एक भक्तके उत्पन्न होनेसे पृथ्वी, पितृलोक, स्वर्ग सब धन्य-धन्य हो जाते हैं। भक्त कोकिल साईंके सम्बन्धमें मेरा अनुभव है कि वे जब पास आकर बैठ जाते थे तब भगवान्‌के सम्बन्धकी नवीन-नवीन बातें मनमें आती थीं। भक्तके शरीरसे भक्तिकी तन्मात्राका प्रवाह बहता है और वह सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करता है। ●

भक्तोंमें जाति आदिके भेदका अभाव

● संगति

ऐसे भक्त क्या किसी विशेष (ब्राह्मणादि) जातिमें उत्पन्न, बहुत विद्वान्, रूपवान्, धनवान्, कुछ विशेष क्रियाके करनेवाले होते हैं? जाति, कुल, धन, रूप, विद्या, क्रिया आदिसे उनमें तारतम्य होता है या नहीं? ●

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः ॥ ७२ ॥

उन (भक्तों)में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि-का भेद नहीं है ॥ ७२ ॥

'भेदः—भित्तिः भेदनात्'—जो टुकड़े करे, वह भेद। भक्तमें अहंकारकी ग्रन्थि नहीं है इसलिए भेद भी नहीं है। मनुष्यमें यह जो मनुष्याकृति है वह प्रकृतिने बनायी है। इसमें ब्राह्मणत्व संस्कार-से आता है। पत्थर प्राकृत वस्तु है। उसमें शिवत्व, रामत्व आदि संस्कारसे—तक्षणकलासे या मन्त्र-संस्कारसे आते हैं। स्त्रीत्व तो स्त्रीमें प्राकृत है किन्तु उसमें पत्नीत्व संस्कारसे आता है। जो प्रकृतिमूलक भेद हैं उनमें अधिकार-अनधिकारका भेद नहीं होगा। गाय सबके लिए गाय है और वृक्ष सबके लिए वृक्ष। संस्कारमूलक भेदमें अधिकार-अनधिकारका भेद होता है। ईश्वरको प्रियतम मानकर पूजनेमें सबका अधिकार है किन्तु प्राणप्रतिष्ठादि संस्कारोंसे संस्कृत मूर्तिको पूज.में संस्कार-सम्पन्न व्यक्तिका ही अधिकार है।

गीतामें भक्तिके लिए भजन करना आवश्यक बतलाया गया है। यह सबके लिए है। अनधिकार दो प्रकारका होता है—

१. अनाचार-मूलक, जैसे कोई दुष्कर्म कर ले तो प्रायश्चित किये बिना अमुक यज्ञादिमें उसका अधिकार नहीं रहा।

२. जाति-मूलक—जैसे क्षत्रियको बृहस्पति-सव करनेका अधिकार नहीं है। भक्तिमें दोनों प्रकारके अनधिकार नहीं माने जाते। दुराचारीको भी भक्ति करनी चाहिए क्योंकि भक्ति दुराचारकी निर्वर्तिका है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

(गीता ९.३०)

भगवान्‌ने कहा—'सम्यग्व्यवसितो हि सः'। बुद्धिमें यह सम्यक् व्यवसायरूप जो भजनका दृढ़ निश्चय है, वह ज्ञानकी पवित्रता उसकी इच्छाको पवित्र कर देगी और इच्छाकी पवित्रता कर्मको पवित्र बनावेगी। इसलिए कहा—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

(गीता)

'वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शान्ति प्राप्त करता है।'

अतएव किसी व्यक्तिके पूर्वचरितमें जो त्रुटियाँ हैं उन्हें देखकर यह कहना कि 'यह भक्त नहीं हो सकता', ठीक नहीं है। कर्म-मूलक अनधिकारका प्रवेश भक्तिमें नहीं है। पापीसे पापी भी भक्ति कर सकता है।

अब जाति-मूलक अनधिकारको देखें तो भगवान्‌ने ही गीतामें कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९.३२)

'अर्जुन! मेरा आश्रय लेकर स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि-चाण्डालादि भी परम गतिको पाते हैं।'

अतः जिन्हें पाप-मूलक जाति प्राप्त है उन्हें भक्ति करनेका अधिकार है। कौन किस जातिमें उत्पन्न हुआ अथवा क्या कर्म करता है, यह विचार भक्तिमें नहीं किया जाता। विचार यह किया जाता है कि वह प्रीतिपूर्वक भगवान्‌का चिन्तन-आराधन करता है या नहीं।

प्रेमपूर्णमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते।

'प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तनका नाम भक्ति है।' भयपूर्वक चिन्तन कंस करता था, द्वेषपूर्वक शिशुपाल, किन्तु कंस या शिशुपालका चिन्तन भक्ति नहीं है। आजकल साधु पूछते हैं—'कौन दूध हो?' अर्थात् किस जातिमें उत्पन्न हुए हो? किन्तु प्रह्लादने भगवान् नृसिंहसे कहा—

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः॥

(श्रीमद्भाग० ७.९.१०)

'जिस ब्राह्मणमें दान, जप, वेदाध्ययन, तप, शम-दम, मौन, एकान्तवास, शौच, सत्य, अहिंसा और नियमपालन ये बारह गुण तो हों, किन्तु वह भगवान्‌के चरणारविन्दसे विमुख हो तो उससे भगवान्‌की भक्ति करनेवाला चाण्डाल श्रेष्ठ है, ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि जिसने अपनी वाणी, मन, प्राण भगवान्‌को समर्पित कर दिये हैं वह तो अपने कुलको भी पवित्र कर देता है; किन्तु अपनेको बहुत विद्वान्, दानी, तपस्वी आदि माननेवाला अहंकारी स्वयं भी पवित्र नहीं होता।'

भक्तिकी यह महिमा है कि वह भगवान्‌को हृदयमें लाकर बैठा देती है। भगवान्‌के सान्निध्यसे सम्पूर्ण वृत्तियोंमें परिवर्तन हो जाता है। इससे प्रकृति परिपूर्ण हो जाती है।

श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते।

'सवनाय = यज्ञफलाय'—चाण्डालको भक्ति, भगवन्नामका उच्चारण वह फल दे देता है जो दूसरोंको यज्ञ करनेसे होता है।

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

(श्रीमद्भागवत ३.३३.७)

'भगवन्! वह चाण्डाल भी संसारासक्त इन लोगोंसे श्रेष्ठ है, जिसकी जिह्वापर आपका नाम रहता है। उन्होंने सब तप कर लिये, सब यज्ञ कर लिये, सब श्रेष्ठ तीर्थोंमें स्नान कर लिया, सम्पूर्ण वेद पढ़ लिये अर्थात् यह सब करनेका फल उन्हें प्राप्त हो गया जो आपका नाम लेते हैं।'

भेदका निषेध दो प्रकारसे होता है। एक तो पृथक्-पृथक् अहंताके निषेधसे होता है। ऐसा भेदका निषेध ज्ञानमें होता है। दूसरा पृथक्-पृथक् ममताके निषेधसे भेदका निषेध भक्तिमें होता है। भक्तिमें 'यह मेरा, यह तेरा' नहीं है, सब भगवान्का है। भक्तिमें प्रकृति और जीवका ममत्व हटाकर ईश्वरका ममत्व स्थापित किया जाता है।

अब कहो कि 'यह बात तो वेदान्त-सिद्धान्तके विरुद्ध है कि सब ईश्वरका है। ईश्वर तो निर्लिप्त है' तो ईश्वर तो यह कह नहीं रहा है कि 'सब मेरा है।' यह बात तो हम कह रहे हैं कि सब ईश्वरका है। यह जीवके ममत्वका अपवाद करके ईश्वरके ममत्वका अध्यारोप है; क्योंकि जीवके मनमें यह बात बैठी कि वस्तु किसी न किसीकी होती है। यह घड़ी किसकी है? यह मेरी नहीं तो और किसीकी होगी। वस्तुका कोई न कोई स्वामी होना ही चाहिए। भक्तके जीवनमें संसारके अस्तित्वका निषेध अभीष्ट है। भक्तको

दृष्टिमें संसारका सम्बन्ध नहीं होता और ज्ञानीकी दृष्टिमें संसारका अस्तित्व नहीं होता। इसलिए भक्त वस्तुमात्रपर ईश्वरका स्वामित्व मान लेता है।

ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिए किसी जातिविशेषमें जन्म लेना आवश्यक नहीं है। ब्राह्मण प्रभुको वेद सुना सकता है। क्षत्रिय पहरा दे सकता है। वैश्य उनकी सेवाकी वस्तुएँ ला सकता है। शूद्र सेवा कर सकता है। स्त्री गायन-नृत्य तथा भोजन बनाकर प्रभुको प्रसन्न कर सकती है।

जातिका आविर्भाव प्रारब्धके अनुसार होता है। जैसा प्रारब्ध है, जीव उस जातिमें जन्म पाता है। प्रारब्ध-प्राप्त जातिमें संस्काराधानसे सुषुप्त वर्णका आविर्भाव होता है। जैसे ब्राह्मणके घरमें जन्म लेनेपर बच्चेका जब यज्ञोपवीत संस्कार होता है तब उसे ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति होती है। भक्तिमें वह वस्तु आती है जो कर्म-संस्कारसे आती है। भक्ति भगवान्‌को लाती है। अतः प्रारब्धके संस्कारसे प्राप्त जाति अथवा संस्काराधानसे जागृत वर्णका भक्तिमें महत्त्व नहीं है। भक्ति मनुष्यका बाहरी वस्त्र—बाहरी खोल (स्थूल देह) नहीं देखती। उसमें तो हृदयका प्रेम आवश्यक है। अनेक विधर्मी भक्त हुए हैं और उनके लिए कहा गया है—

इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिक हिन्दू वारिये।

रसखान जैसे भक्तश्रेष्ठका भक्तोंमें पूरा सम्मान है। आल्वार सन्तोंमें कई अन्त्यज थे। रविदास (रैदास) जी हरिजन थे। प्रह्लादने तो असुर-दैत्यकुल में ही जन्म पाया था। भक्तिमें जातिका विचार नहीं होता।

विद्या—विद्या बाहरसे आती है। अतः देखना यह चाहिए कि वास्तविक विद्या क्या है ?

तत्कर्म हरितोषं यत् सा विद्या तन्मतिर्यया।

'कर्म वही सफल है जिससे भगवान् सन्तुष्ट हों और वही विद्या विद्या है जिससे बुद्धि भगवान्‌में लगे।'

सा विद्या या विमुक्तये।

'वही विद्या है जो मुक्ति दिलानेवाली हो।'

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेमका, पढ़ै सो पण्डित होय॥

पाण्डित्यकी सफलता भगवत्प्रेममें है। प्रेमकी सफलता पाण्डित्यमें नहीं है। प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहङ्कार—व्यष्टिमें चिदाभास बनता है और उसमें पूर्वकर्मसे बुद्धि बनती है।

पूर्वजन्मनि या विद्या पूर्वजन्मनि यद्धनम्।
पूर्वजन्मनि या बुद्धिरग्रे धावति धावति॥

'पूर्वजन्ममें मनुष्यने जो विद्या पढ़ी थी, जो धन दान किया था (क्योंकि दान किया धन ही उसका बना) और जैसी बुद्धि उस समय उसकी थी वह दूसरे जन्ममें भी आगे-आगे दौड़ती—अनायास प्राप्त होती है।'

उस पूर्वजन्मकी अर्जित विद्याका इस जन्मके अध्ययन तथा मननके द्वारा संस्कार, परिवर्धन किया जाता है। किन्तु विद्या मिलनेका अर्थ अभिमान आना नहीं होता।

विद्या ददाति विनयम्।

'विद्या विनय देती है।' विद्वान् विनम्र होता है, क्योंकि—

विद्ययाऽमृतमश्नुते।

'विद्या (ब्रह्मविद्या) से पुरुष अमृतत्वको प्राप्त करता है।' विद्यासे अमृत नहीं मिला तो समझो कि केवल घड़ा ढोनेको मिला। विद्या वह, जिससे बुद्धि भगवान्‌में लगे। भक्तोंके विषयमें कहा है—

सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे॥

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥
केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥

(श्रीमद्भाग० ११.१२.६-८)

'सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवन्त, गजराज, गीधराज जटायु, वैश्य, व्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ तथा अन्य अनेक ऐसे हुए हैं जिन्होंने वेद नहीं पढ़े, महापुरुषोंकी सेवा नहीं की, कोई व्रत या तपस्या भी नहीं की, केवल सत्संग (भगवान्के प्रति प्रेम) से भगवान्को प्राप्त हो गये। केवल प्रेमके भावके कारण गोपियाँ ही नहीं, व्रजकी गायें, पशु तथा पर्वत, पक्षी, वृक्षादि दूसरे मूढ़बुद्धि नागादि (कालिय प्रभृति) भी सरलतासे भगवान्को प्राप्त हुए ।'

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥

(श्रीमद्भाग० १०.१४.४)

ब्रह्माजी श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहते हैं—'सर्वव्यापक प्रभु ! आपकी भक्ति कल्याण-प्रसविनी है । उसे त्यागकर जो केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिए क्लेश उठाते हैं उन्हें तो वह क्लेश ही मिलता है । जैसे भूसी कूटनेवालेको परिश्रमके अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं आया ।'

परमहंस रामकृष्णजीने एक दृष्टान्त दिया है—दो व्यक्ति आमके बगीचेमें गये। आम पके हुए थे। उनमें-से एक व्यक्ति आम खानेमें लग गया। दूसरा व्यक्ति मालीसे पूछने लगा—'ये किस-किस जातिके आम हैं ? कहाँ-कहाँसे इनकी कलमें आयीं ? कौन-

सा वृक्ष कब पकता है ? किसकी क्या विशेषता है ? किसने इनको लगाया ? कितने वृक्ष हैं ? कितनी आय इनसे होती है ?' आदि। बगीचा घूमनेका समय हो गया तो दोनों बाहर निकले। एकने कहा—'हमने इस बगीचेके वृक्षोंके सम्बन्धमें सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर ली।'

दूसरा बोला—'जानकारी तो मुझे नहीं हुई किन्तु मेरा पेट डटकर भर गया।'

विद्या केवल जानकारी देती है और भक्ति तृप्ति देती है। विद्यासे अभिमान आनेपर भगवान्‌के सम्बन्धका ज्ञान नहीं होता। विद्या तो एक चश्मा है। तुमने चश्मा बड़ा सुन्दर लिया किन्तु उससे दीखता कुछ नहीं, तो ऐसे चश्मेसे लाभ!

बम्बईकी ही एक सच्ची घटना है। एक पुस्तक-विक्रेताकी दूकान पर दो-तीन लड़कियाँ पहुँचीं और बोलीं—'हमें लाल, हरी, पीली, नीली जिल्दवाली दस-दस पुस्तकें दे दो।'

पुस्तक-विक्रेताने पूछा—'किस भाषाकी, किस विषयकी कौन-कौन-सी पुस्तकें दूँ ?'

लड़कियोंने कहा—'इन बातोंसे हमको कोई मतलब नहीं है। हमको तो घरकी आलमारी सजानेके लिए पुस्तकें चाहिए।'

इस प्रकार विद्या अभिमानकी शोभा बढ़ानेके लिए नहीं है। विद्या परमात्मासे प्रेमके लिए है, जो हमारे भ्रमको, अविद्याके आवरणको दूर करे। संसारका बड़े-से-बड़ा विद्वान् भी ईश्वरके लिए कोई महत्त्व नहीं रखता। उस सर्वेश्वरको तो प्रेमसे अनुराग है। अतः भक्तिमें विद्वान् होने या न होनेका कोई महत्त्व नहीं है।

रूप—विचार करो कि रूप कहाँसे आया ? एक भौतिक रूप होता है और भूतरूप-तन्मात्ररूप होता है। लाल, हरा, पीला आदि रूप भौतिक रूप है। भूतरूप कहाँ है ? जहाँ पृथिवी, जल इत्यादिका आश्रय लिये बिना केवल रूप ही रूप—रूपतन्मात्रा

है। नेत्रोंसे तथा सूक्ष्मवोक्षण यन्त्रोंसे भी केवल भौतिक रूप देख सकते हैं। लाल-पीला आदि जो रूप व्यक्त है, वही दीखता है। तन्मात्ररूप तो अविशेष है। जैसे जो शब्द हम सुनते हैं वह आधा तज शब्द होता है। किन्तु एक अनाहत शब्द है जो आकाशका गुण है। उससे भी परे शब्द तन्मात्रा है। यह शब्द अविशेष है और समाहित योगबुद्धिसे ही प्रत्यक्ष होता है। अरूप ब्रह्ममें जो अनिर्वचनीय प्रकृति है वह अरूप है। उससे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार और अहंकारसे तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। तन्मात्राओंसे पञ्चमहाभूत होते हैं। रूप तन्मात्रा है और रूप अग्नि तत्त्वका गुण है। इससे फिर भौतिक रूप निकले हैं। जो अरूप या अप्राकृत रूपवाले परमात्माको देख रहा है उसके लिए इन प्राकृत रूपोंमें क्या आकर्षण, क्या अभिमानका हेतु रह गया। रज-वीर्यसे बनी देहमें, रक्तसे सने चमड़ेपर हुई पालिश यह रूप है। भक्तके हृदयमें इस रूपका अभिमान नहीं होता। अप्राकृत रूपवाले परमात्माकी प्राप्तिमें इस रूपका कोई महत्त्व नहीं है।

कुल—'कु'का अर्थ है पृथिवी और 'ल'का अर्थ है लीयते। कौ लीयतेति कुलम्—जो अन्तमें पृथिवीमें लीन हो जायँ उन्हें कुल कहते हैं। कोई कुल बचता है क्या? भक्तने उस परमात्मासे प्रेम किया है जिससे सब कुल निकले हैं और जिसमें सब कुल लीन हो जाते हैं। इसलिए भक्तकी दृष्टि कुलपर नहीं जाती। भक्तोंमें कुलका विचार नहीं होता। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोऊ।
काहूकी बेटीसों बेटा न ब्याहब, काहूकी जात बिगारब न सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है रामकौ, जाके जियै जो कहै कछु ओऊ।
माँगिकै खाइबो मसीतकौ सोइबो, लैबेको एक न दैबेको दोऊ॥

धन—भक्त तो निखिल-ब्रह्माण्डनायकका सेवक है। भौतिक धनकी उसके लिए भला क्या महत्ता हो सकती है और लक्ष्मीजी

जिनके चरणोंको अपनी गोदसे नहीं उतारतीं उन प्रभुकी दृष्टिमें ही धनकी क्या महत्ता है ? धन तो बाह्यवस्तु है और प्रेम आन्तरिक है। अतः भक्तिमें धनका कोई महत्त्व नहीं है।

क्रिया—हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियोंसे होनेवाले कर्मका नाम क्रिया है। भक्ति भवनात्मिका है। अतः भक्तोंमें क्रियाका अभिमान नहीं होता और न क्रियाके कारण भक्तिमें कोई महत्ता प्राप्त होती।

भक्त भगवान्के हैं

● संगति

संसारमें कोई जातिके कारण बड़ा है तो कोई विद्वान् होनेके कारण। कोई सौन्दर्यके कारण आदर पाता है तो कोई अच्छे प्रतिष्ठित कुलमें उत्पन्न होनेके कारण। धन जिसके पास हो उसका सम्मान लोकमें होता है और जिसके कर्म उत्तम हों उनका सम्मान तो सब करेंगे ही।

भक्तिके मार्गमें कोई ब्राह्मण हो या शूद्र—किसी जातिमें जन्म लेनेसे कोई अन्तर नहीं पड़ता। कोई बहुत पढ़ा विद्वान् हो या अनपढ़, इससे भी कोई अन्तर नहीं आता। सुन्दर या कुरूपका विचार तो विषयी करते हैं, भक्त न करें तो ठीक ही है। उत्तम प्रतिष्ठित कुलमें जन्म हुआ हो या तिरस्कृत कुलमें, इसका भी विचार भक्तोंमें नहीं होता। न वहाँ धनकी प्रतिष्ठा है न निर्धनका अनादर। सबसे अद्भुत बात तो यह है कि क्रिया किसने कैसी की, इससे भी भक्तिमें कोई श्रेष्ठत्व-कनिष्ठत्व नहीं आता।

भक्तोंकी दृष्टि गुण-धर्म-कर्मपर नहीं जाती। यह लौकिक व्यवहारसे सर्वथा विपरीत बात उनमें क्यों है? ●

यतस्तदीयाः ॥ ७३ ॥

क्योंकि वे सब (भक्त) उनके (भगवान्के) ही हैं ॥ ७३ ॥

'वयं तदीया यूयं तदीयाः'—'हम सब उसके और आप सब भी उसीके।' सम्पूर्ण सृष्टि भगवान्की। जब सब एक ही प्रभुके, तो उसमें छोटे-बड़ेका भेद कैसा! उसने जिसे जो सेवा दी उसके अनुरूप साधन भी उसीने दिये।

गोपियोंके लिए शुकदेवजीने कहा—तन्मनस्कास्तदालापाः।

श्रीकृष्णचन्द्रने स्वीकार किया—ताः मन्मनस्काः।

गोपीका मन कैसा है? उसके मनमें लाल, पीला, सफेद स्फुरित नहीं होता। उसका मन तो कृष्णाकार है। मनमें जो वस्तु स्फुरित होती है, मनका वही आकार है। किसी मनोवैज्ञानिकसे पूछो—हमको अपने भीतर मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, मेघसुन्दर मयूरमुकुटी दीखता है, यह क्या है?'

वह कहेगा—'यह तुम्हारा मन है।'

गोपीका मन कृष्णाकार हो चुका है। उसकी जिह्वापर श्रीकृष्णका नाम है। उसकी चेष्टा कृष्णके समान हो गयी है। वह भूल ही गयी कि 'मैं अमुक गोपीकी बेटी हूँ।' उसे तो लगता है कि—मैं नन्दरायका बेटा हूँ' और वह लठिया लेकर गायें चराने चल पड़ती है।

गोपी पत्र लिखने बैठी है। किसीने पूछा—'क्या हो रहा है?' वह कहती है—'राधारानीको पत्र लिख रहा हूँ।'

उसकी चेष्टा श्रीकृष्णाकार है और 'मदात्मिकाः'—उसका चित्त श्रीकृष्णके लिए व्याकुल है—

गोवर्धनबासी साँवरे हो, तुम बिनु रह्यो न जाय।

ये गोपियाँ 'तदीयाः' हैं। वे न अपनी हैं, न किसी अन्यकी। वे तो एकमात्र श्रीकृष्णकी हैं। वे कहती हैं—

चेरी हैं न ऊधौ काहू ब्रह्म के बबा की हम,
सूधौ कहि देतीं इक कान्हकी कमेरी हैं।

भौतिक पदार्थोंको चाहनेपर चित्त भी भौतिक हो जाता है और सूक्ष्मवस्तुकी चाह होनेपर चित्तमें भी सूक्ष्मता आती है। साधक वह है जो अन्तर्मुख होता है और विषयी वह है जो बहिर्मुख होता है। जिसका प्रियतम अपने हृदयमें है वह साधक है और जिसका प्रिय बाहर है, उसे पानेके लिए जो गली-गली भटक रहा

है वह विषयी है। संसारके विषय नाशवान् हैं। वे स्वयं नष्ट हो जाते, छिन जाते हैं या उन्हें छोड़ देना पड़ता है। इसलिए हृदय परमात्मामें लगाना चाहिए। बाहर मृत्यु है, भीतर अमृत। बाह्य विषयोंसे सच्चा वैराग्य हुए बिना ज्ञान नहीं होता। जबतक कोई विपत्ति नहीं आती, खाने-पीनेका कोई कष्ट नहीं होता, तबतक पूरी सुख-सुविधामें जो ज्ञान जान पड़ता है वह भ्रान्त धारणा मात्र है।

प्रलयस्यापि हुङ्कारैश्चलाचलविचालनैः।
विक्षोभं नैति यस्यान्तः स महात्मेति कथ्यते॥

'प्रलयकी गर्जनामें जब समस्त सृष्टि चंचल-चूर्ण-विचूर्ण हो रही हो, तब भी जिसका चित्त क्षुब्ध नहीं होता वह महात्मा है।'

परमानन्द-परमशान्ति अपना स्वरूप है। यह परिस्थितिजन्य सत्य नहीं है। यह सार्वकालिक, सार्वभौम सत्य है। पाश्चात्त्य दार्शनिक मानते हैं कि दर्शन परिस्थितिजन्य होता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। दर्शन नित्य सत्य होता है। शुद्धान्तःकरण तपस्वी महर्षि अपने निर्मल हृदयमें जिस सत्यका अनुभव करते हैं, उसका नाम दर्शन है।

हम भगवान्के हैं, यह परम सत्य है। यह शरीर तो वस्त्र है। जब भवान्का चित्त हमें अपने हृदयसे लगानेका होगा, वह इस वस्त्रको फाड़ देगा। यह उसकी निष्ठुरता नहीं, यह उसकी कृपा—उसका अतिशय प्रेम है। हम उसके हैं, और जो उसके हैं वे उसकी दृष्टिमें समान हैं। उनमें किसी सांसारिक हेतुसे कोई भेद नहीं होता।

भक्त वाद-विवादमें न पड़े

● संगति

अब साधन-प्रकरणको प्रारम्भ करते हुए भक्तके लिए कुछ अत्यन्त आवश्यक निर्देश दे रहे हैं। उनमें सबसे पहली बात है कि भक्त वाद-विवादमें न पड़े।

वादो नावलम्ब्यः ॥७४॥

(भक्तको) वादका आश्रय नहीं लेना चाहिए ॥ ७४ ॥

वाद-विवादमें क्या होता है ? हम सोचते हैं कि हम कोई ऐसी बात कह देंगे कि सामनेवाला कटके रह जायगा। वह भी ऐसा ही सोचता है। अबतक वाद-विवादमें किसीको पराजित करके कोई सुखी नहीं हुआ है।

तर्क शब्द 'कृती छेदने' धातुसे बना है जिसका अर्थ है काटना। 'कर्त'का ही उलटकर तर्क बन गया है, और 'कर्त' से ही 'कर्तरी'-कैंची बना है। जो कैंचीके समान काटता चले उसे तर्क कहते हैं। जो वादमें उलझता है वह किसी न किसी मतको पकड़ता ही है। मत वह, जो मतिके घेरेमें आ जाय। मत मतिका कर्म है। भगवान् तो मत तथा मतिसे परे हैं। जो मतिके भीतर हो उसके लिए तो मत बनाना ठीक है; किन्तु जो मतिसे परे है उसके लिए मत बनाना कैसे ठीक हो सकता है ? मतका आग्रह किये बिना तर्क-वितर्क नहीं होते। अतः अमतको पकड़ो।

रज्जब रोष न कीजिये कोई कहे क्यों ही।
हँसके उत्तर दीजिये, हाँ बाबा यों ही ॥

कोई कहे—'ऐसा है !' कह दो—'ठीक, ऐसा ही है।' झगड़ा करोगे तो मन-बुद्धि दोनों व्यर्थ उलझेंगे, खिन्न होंगे। अपनी जिह्वाको कैंची मत बनाओ।

तर्कः अप्रतिष्ठानात्। (ब्रह्मसूत्र)

तर्कमें कोई निश्चित स्थिति नहीं प्राप्त होती। तर्कसे संसारमें सम्मान, बैठनेको स्थान नहीं मिलता।

एक मनुष्य तैरना सीखने गया। शिक्षकने कहा—'वस्त्र उतारो और जलमें उतरो।'

वह बोला—'तैरना तो आता नहीं, जलमें कैसे उतरूँ ?'

शिक्षक—'जलमें उतरो तो तैरना सिखाऊँ।'

वह—'पहले तैरना सिखलाओ तब जलमें उतरूँगा।'

अब उसे तैरना कहाँसे आवेगा ? इसी प्रकार लोग साधनके विषयमें, भगवान्‌के विषयमें तर्क करके सब कुछ जान लेना चाहते हैं। बिना साधन किये तर्कसे भला क्या पता लगेगा !

जैसे पदार्थोंका 'सत्त्व' होता है वैसे श्रद्धा हृदयका 'सत्त्व' है। हमारी वृत्ति सती तब होती है जब उसमें श्रद्धा आती है। एक बार दो मित्र वनमें गये। वहाँ एक मित्र दूसरे मित्रकी गोदमें सिर रखकर वृक्षके नीचे सो गया। इतनेमें एक सर्प आया सोते हुए व्यक्तिको काटने। जागनेवालेने रोका—'दूर रहो !'

सर्प बोला—'यह मेरा शत्रु है। इसने मेरा रक्त बहाया था। मैं इसका रक्त लूँगा।'

मित्र—'इसने तुम्हें मार तो नहीं डाला था ? केवल रक्त बहाया था न !'

सर्प—मारा नहीं था। रक्त बहाया था इसने मेरा।'

मित्र—'तब तुम दूर रहो। मैं इसका रक्त तुमको दिये देता हूँ।'

उसने छुरा निकाला और मित्रके गलेका चमड़ा काटने लगा। मित्रने नेत्र खोले; किन्तु छुरा मित्रके हाथमें देखकर बन्द कर

लिये। रक्त पाकर सर्प चला गया। जागनेपर पहले मित्रने पूछा—'मैंने तुम्हारे गलेपर घाव किया, तुम्हें भय नहीं लगा ?'

मित्र बोला—'थोड़ा-सा दर्द हुआ। भयकी तो कोई बात ही नहीं थी। छुरा तुम्हारे हाथमें देखकर मैं समझ गया कि कोई मेरे हितकी बात तुम कर रहे हो।'

छन्दानुवृत्तिः दुस्साध्या।

विश्वास छूट गया तो समझो कि श्वास छूट गया। भक्तिका श्वास—प्राण विश्वास है। विश्वास गया तो भक्तिका जीवन गया।

लक्ष्मीजी समुद्र-मन्थनसे प्रकट हुईं। उनको विवाह करना था। अब उन्होंने देखना प्रारम्भ किया—'ये दुर्वासादि तपस्वी तो क्रोधी हैं, बृहस्पति जैसे विद्वान् विषयानुरागी हैं, इन्द्रादिकी तो क्या चर्चा, ब्रह्मा भी कामसे हारे हुए हैं। धर्मात्मा लोग तो हैं किन्तु वे जीवोंके प्रति दयालु नहीं, त्यागी-तपस्वी हैं तो वे मुक्त नहीं हैं, मार्कण्डेयादि कुछ अमर हैं परन्तु शीलवान् नहीं हैं, शिवजीका रूप अमंगल है, जिनमें शील-सौन्दर्य दोनों हैं वे मरण-धर्मा हैं।' इस प्रकार उन्हें कृष्ण काले, राम रूखे, नारायण चतुर्भुज, शिव सर्प-लपेटे दीखे। अब तर्कसे काम कैसे चले ? लक्ष्मीजीका काम भी तर्कसे नहीं चला तो मनुष्यकी गणना क्या ! श्रीभर्तृहरिका 'वाक्यपदीय' नामक एक व्याकरणका सिद्धान्त-ग्रंथ है। उसमें उन्होंने कहा है—

अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेन चक्षुषा।

जहाँ इन्द्रियाँ पहुँच नहीं पातीं, मन-बुद्धिकी जहाँ गति नहीं है, उस वस्तुको ऋषिगण संस्कारसे संस्कृत ज्ञानदृष्टिसे देखते हैं। ऐसे तत्त्वको देखनेवाले उन महापुरुषोंके वचनोंका रहस्य तर्क-वितर्क अथवा अनुमानसे नहीं लगता। तर्क तथा अनुमानसे उनके वचन बाधित—खण्डित नहीं होते।

अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्।

जो भाव-तथ्य चिन्तनके विषय नहीं हैं, उनमें तर्क नहीं लगाना चाहिए। क्योंकि—

आविर्भूतप्रकाशानामनुपहितचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥

(भर्तृहरि)

जिनके हृदयमें किसीके प्रति राग-द्वेष नहीं है, और चित्तमें स्वयंप्रकाश ब्रह्मका आविर्भाव हो चुका है उनके लिए अतीत, भूतकालिक तथा अनागत—भविष्यसम्बन्धी ज्ञान प्रत्यक्षसे अधिक नहीं है। प्रत्यक्षके समान ही वे भूत-भविष्यको देखते हैं। अतः उनके ज्ञानमें तर्क नहीं चलता।

भक्ति स्वानुभूति है। भावचन्द्र जिसके हृदयको उज्ज्वल कर रहा है वहाँ वह स्वयंप्रकाश सत्ता आविर्भूत है। वहाँ तर्कको पहुँच नहीं है।

भक्तको अखाड़ेमें उतरना प्रिय नहीं होता। वाद-विवाद तो वह करे जिसे दूसरेको पराजित करनेमें आनन्द आता हो। एक बार एक दिग्विजयी पण्डित व्रज पहुँचे तो लोगोंने उन्हें श्रीसनातन गोस्वामीका नाम बतला दिया कि यहाँके वे सबसे बड़े विद्वान् हैं। दिग्विजयी श्रीसनातन गोस्वामीके पास पहुँचे कि—'हमसे शास्त्रार्थ करो अथवा विजयपत्र लिखकर दे दो!' श्रीसनातन गोस्वामी तो श्री राधामुकुन्दके ध्यानमें आनन्द ले रहे थे। उन्होंने विजयपत्र लिखकर दे दिया। दिग्विजयी पण्डित बाजे-गाजेके साथ अपनी विजय-घोषणा करते लौट रहे थे कि मार्गमें सनातनजीके भतीजे श्रीजीवगोस्वामी मिल गये और बोले—'पहले मुझे पराजित कर लो तब विजय-घोषणा करना!'

शास्त्रार्थ हुआ और दिग्विजयी पण्डित पराजित हो गया। जीवगोस्वामीने उसके सब विजय-पत्र छीन लिये और विजय-पत्र लिखवा लिया। किन्तु यह समाचार जब श्रीसनातन गोस्वामीको

मिला तो वे बोले—'जीवके लिए अब मेरा द्वार बन्द है। अब वह यहाँ न आवे। उसने एक व्यक्तिका उत्साह भङ्ग किया है।' बड़ी कठिनाईसे, बहुत पश्चात्ताप करनेपर जीव गोस्वामीको उन्होंने क्षमा किया।

संसारी पुरुष तो अपनी स्वार्थमलिन दृष्टिसे सोचता है—'मेरे मनमें स्त्रीको देखकर काम आता है, शत्रुको देखकर क्रोध आता है तो उनके मनमें भी ऐसा ही होता होगा।' किन्तु भक्त इस प्रकार नहीं सोचता।

'वादो नावलम्ब्यः' वाद—अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद आदि जो अनेक मतवाद हैं इनमें-से भी किसी वादका आश्रय न लेकर भजन ही करना चाहिए। वादका कहीं अन्त नहीं होता। ब्रह्म अद्वैत है, अद्वैतवादी नहीं है। अद्वैतवादी जीव होता है और जीव वह है जो देहाभिमानी है। अतः वादका आश्रय मत लो! आश्रय भगवान्‌का लो। अवलम्बनीय भगवान् हैं, वाद नहीं। ऐसा कौन-सा वाद है जो भगवान्‌में सम्भव नहीं। वे तो वाद, अवाद, वादातीत, वादसाक्षी तथा समस्त वादोंके अधिष्ठान हैं।

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥

(श्रीमद्भाग० ६.४.३१)

'जिन सर्वव्यापक अनन्त प्रभुकी शक्ति ही अनेक मत रखनेवालोंके वाद-विवादका आधार होती है और उनके चित्तमें बार-बार मोह उत्पन्न करती है उस प्रभुको नमस्कार। जब दो मनुष्य परस्पर विवाद करते हैं तब दोनोंके अन्तःकरणमें ईश्वर ही बैठा होता है। किन्तु ईश्वर-ईश्वरमें विवाद नहीं होता। यह तो संस्कारका संस्कारसे झगड़ा होता है। इसलिए भक्तको किसी संस्कारका हठ नहीं करना चाहिए।

वादमें अमित विस्तार और अनिश्चितता

● संगति

दूसरोंकी मान्यताका खण्डन करके उन्हें भी भक्तिमें लगाया जाय, वे भी भगवान्‌के भजनमें लगें, इस प्रयत्नमें क्या दोष है? क्योंकि भक्त तो जब वादका अवलम्बन करेगा तो भक्तिका पक्ष पुष्ट करनेके लिए ही करेगा। उसे ऐसा करनेसे रोकते क्यों हो?

●

बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च ॥७५॥

(वादमें) बहुत विस्तार होनेका अवकाश होनेसे और (उसके) अनिश्चित होनेके कारण (वादका अवलम्ब भक्तको नहीं लेना चाहिए) ॥७५॥

'बाहुल्यावकाशात्'—तुमने कहा कि हमको अद्वैतवाद स्वीकार है तो इतना कहनेसे काम नहीं चलता। तुमसे पूछा जायगा कि तुमको अद्वैतवादकी कौन-सी प्रक्रिया मान्य है? आभासवाद, अवच्छेदवाद, विम्ब-प्रतिविम्बवाद, दृष्टिसृष्टिवाद—इनमें-से कौन-सी प्रक्रिया मानते हो? यदि तुमने इनमें-से एकको चुन लिया तो प्रतिपक्षी उसकी धज्जियाँ उड़ावेगा।

कहते हैं कि कोई मुसलमान जनेऊ पहनकर, तिलक लगाकर एक बार किसी निमन्त्रणमें दूसरे ब्राह्मणके साथ भोजन करने चला गया। वहाँ पूछा गया—'तुम कौन हो?'

वह बोला—'ब्राह्मण हूँ।'

प्रश्नकर्ताने पूछा—'कौन ब्राह्मण ?'

उसने कहा—'मिसिर (मिश्र)।'

फिर पूछा गया—'कौन मिश्र ?'

अब घबड़ाकर बोला—'या खुदा ! मिसिरमें भी घिसिर-पिसिर है ?'

लोगोंने जान लिया कि वह मुसलमान है और फिर जो सत्कार हुआ—आप समझ सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि जहाँ तुमने एक वादका—मतका अवलम्बन किया कि उसमें शाखा-प्रशाखाएँ निकलती जायँगी। इसमें उलझोगे तो भजन-चिन्तन अथवा मनन-निदिध्यासान कब करोगे ? इस वाद-विवादमें तो कोई निर्णय कभी होता नहीं।

अनियतत्वाच्च—एक बार तुम एक शास्त्रार्थमें किसीको पराजित कर भी दो तो क्या इससे कोई निर्णय हो जायगा ? आदि कालसे अबतक इतने आचार्य हुए, उनके इतने शास्त्रार्थ हुए, क्या कोई सर्वमान्य निर्णय उनसे हो पाया ? यदि अबतक ऐसा नहीं हुआ तो तुम्हारे वाद-विवादसे कोई निर्णय कैसे हो जायगा कि तुम इसमें उलझते हो !

जिसने अनुभव किया वह पार हो गया और जिसने अनुभव नहीं किया वह डूबके ही रहा। अतः पार जानेकी विद्या यह है कि वाद-विवादमें बात बढ़ती है, चित्त विक्षिप्त होता है, इससे कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं प्राप्त होता। इसलिए या तो तुम अपनी अनुभूतिमें स्थिर हो जाओ अथवा किसी अनुभवी पुरुषके ऊपर श्रद्धा करके उसकी बात मान लो, उसके बताये मार्गपर चलो। तर्क-वितर्कसे कोई मार्ग पार नहीं होता।

दूकानदार जब वस्तुको बेचना चाहता है तो ग्राहकको एक वस्तु पसन्द न आनेपर दूसरी दिखलाता है। वह ग्राहकसे तर्क करने लगे कि उसकी वस्तु श्रेष्ठ है तो ग्राहक उसके यहाँसे चला

जायगा। हम किसीको शास्त्रार्थमें पराजित करके भक्त बनाना चाहें तो भक्त कैसे बनेगा! पराजयसे उसके चित्तमें ग्लानि, हीनताकी भावना और द्वेष आवेगा। किसोको डाँट-फटकारकर उससे भक्ति नहीं करायी जा सकती। अतः इस तर्क-वितर्कका त्याग करो।

चुरू (राजस्थान)में एक ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम है। वहाँ जो बच्चे लिये जाते हैं उन्हे पीला वस्त्र पहननेको मिलता है। सिर घुटाये रखना पड़ता है। उनके लिए समाचारपत्र, सिनेमा, चाट आदि वर्जित है। दोनों समय सन्ध्या करना, सादा भोजन, संयमित जीवन अनिवार्य है। सात-आठ वर्ष वे ब्रह्मचारी इस प्रकार रहते हैं; किन्तु दिन गिनते रहते हैं कि कब उन्हें छुटकारा मिले। मैंने देखा है कि वहाँसे छूटते ही वे अंग्रेजी ढंगसे बाल कटवाते हैं, शूट सिलवाते हैं तथा चाट और सिनेमापर टूट पड़ते हैं। सात-आठ वर्षका संस्कार उन्हें रोक नहीं पाता। बलपूर्वक डाले गये संस्कार शक्तिहीन होते हैं।

जैसे बच्चेके शरीरका निर्माण करना हो तो वह तर्कसे नहीं, सेवासे बनता है; वैसे ही भक्तिका प्रयोजन है चित्तका निर्माण। चित्तसे दोषापनयन एवं उसमें गुणाधान। भक्तिका अर्थ है हृदयको कोमल एवं मधुर बनाना। अतएव जो भी कार्य हृदयको रूक्ष बनाते हैं उन्हें मत करो।

•

भक्तिशास्त्र का मनन
और
भक्तिके उद्‌बोधक कर्म कर्त्तव्य

● संगति

भगवान्‌में प्रीति कैसे बढ़े और जीवन कैसे व्यतीत किया जाय ? कालक्षेपका साधन क्या हो ? क्योंकि 'वाद'को मना कर देनेपर मनुष्यको समय व्यतीत करनेका कोई साधन बतलाना चाहिए। चौबीस घण्टे पूजन-अर्चनादि करते रहना सर्वसामान्य पुरुषके लिए सम्भव नहीं है। अतः पूजन, जप आदिसे जो समय बचता है, उसमें क्या करें ?

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि, तदुद्‌बोधककर्माण्यपि[1] च करणीयानि ॥७६॥

भक्तिशास्त्रोंका मनन करना चाहिए तथा उस (भक्ति) को जाग्रत् करनेवाले कर्म भी करने चाहिए ॥७६॥

मनुष्यको अपना लक्ष्य स्थिर करके उसके अनुरूप जीवन बनाना चाहिए। छापा-तिलक तो वैष्णवका; किन्तु लगे हैं आयुर्वेदका मनन करनेमें। जो जनताकी सेवाको उद्देश्य बनाकर साधु हुआ उसका तो आयुर्वेदका मनन करना ठीक है; किन्तु जो भगवत्प्राप्तिको लक्ष्य बनाकर साधु हुआ वह आयुर्वेदके मननमें क्यों लगे। तुम जिस लक्ष्यको लेकर चले थे उसके विपरीत ले जानेवाले

---

१. पाठभेद—'तद्वर्धककर्माणि'।

साधनमें फँस गये इसीका नाम विघ्न है। जो विवाह करने निकला है उसे कोई लकड़ी मिल जाय, यह विघ्न नहीं है। किन्तु निकले विवाह करने और किसी बाबाजीने चेला बना लिया, यह विघ्न हो गया। इसी प्रकार जो ईश्वरप्राप्तिके लिए चला वह बीचमें दूसरे किसी कार्यमें उलझ जाय तो वह कार्य चाहे जितना उत्तम हो, विघ्न ही माना जायगा—

निकले थे हरि भजनको ओटन लगे कपास।

सत्याग्रह आन्दोलनके समय बहुत-से साधु आन्दोलनमें सम्मिलित होकर जेल गये। माहात्मा गांधीने बहुतों-से चरखा चलवाया। देशकी स्वाधीनताके लिए श्रम करना—कष्ट उठाना बहुत उत्तम कार्य था; किन्तु जो ईश्वर-प्राप्तिके लिए निकले थे उनके लिए तो विघ्न ही था। निकले थे त्याग करने और किसीने राजगद्दी दे दी, यह विघ्न ही तो हुआ।

इसी प्रकार जो भक्तिके मार्गमें चल रहे हैं उन्हें पूजा-अर्चाके मिथ्यात्वका चिन्तन नहीं करना चाहिए। वृन्दावनसे पहले 'श्रेय' नामका एक धार्मिक मासिक पत्र निकलता था। उसका एक विशेषाङ्क 'भगवन्नामाङ्क' निकला जिसके सम्पादक गोस्वामी श्रीबालकृष्णजी थे। उन्होंने उस विशेषाङ्कके अन्तिम आवरण पृष्ठपर भक्तिके साधक एवं बाधक दर्शनोंकी सूची दी थी। उसमें अद्वैतवादको भक्तिकी बाधक सूचीमें रखा गया था। संसारको मिथ्या समझना भक्तिमें बाधक है।

बीचहिं माया मिली रहे लपटाइके।
हा हा रे पलटू गिरे नरकमें जाइ महंती पाइके॥

पञ्चम पुरुषार्थ प्रेमकी प्राप्तिके लिए चले थे। अब कहीं मिथ्यात्वके चिन्तनमें पड़ गये तो यह विघ्न तो हुआ ही। अतः भक्तको ऐसे भक्ति-शास्त्रोंका श्रवण-मनन, अध्ययन करना चाहिए जिनसे श्यामसुन्दर मुरलीमनोहर हृदयमें बसें।

यस्मिञ्शास्त्र पुराणे वा हरिभक्तिर्न दृश्यते।
श्रोतव्यं नैव तच्छास्त्रं यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत्॥

'जिस शास्त्र या पुराणमें भगवद्भक्ति न दिखलायी पड़ती हो, यदि ब्रह्माजी स्वयं आकर उसकी कथा करें तो भी उसे नहीं सुनना चाहिए।'

सत्संगमें—कथा, प्रवचन, उपदेशमें जाना तो उत्तम है किन्तु जहाँ जाकर अपने इष्ट, अपने साधनके प्रति मनमें संशय आवे वहाँ जाना तो विघ्न है। वहाँ जानेसे हृदय रूक्ष होगा। यदि तुम कथा-सत्संगमें जाकर श्रद्धा ले आये तो हृदय कोमल हुआ।

महात्मा गान्धीने एक बार कहा था—'हमको स्वतन्त्रता प्रिय नहीं है। हमको अहिंसा प्रिय है।'

इसी प्रकार भक्तका दृढ़ निश्चय होना चाहिए—'हमको सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका ऐश्वर्य प्रिय नहीं है। हमको भक्ति प्रिय है।' भौतिक ऐश्वर्य–उत्कर्षका बलिदान करके भी जिसे हृदयका निर्माण करना प्रिय है, वह भक्त है। भगवान् हृदयको स्थितिविशेषमें प्राप्त होते हैं। अतः वह स्थिति बनानेके लिए भक्तिशास्त्रका मनन करो।

यदि तुम्हें ज्ञानमार्गमें जाना है तो उपनिषदोंकी, ब्रह्मसूत्रकी ज्ञानपरक टीकाएँ पढ़ो, यदि भक्तिमार्गमें जाना है तो इनकी भक्ति-परक टीकाएँ पढ़ो। जैसे ब्रह्मसूत्रका है—**जन्माद्यस्य यतः** इसका भक्तिपरक अर्थ है—**आद्यस्य भगवतो पुरुषोत्तमस्य यतः जन्म**। यह अर्थ कैसे हुआ? यह तर्कसे सिद्ध नहीं होगा। **शास्त्रयोनित्वात्** इसका प्रतिपादन शास्त्रोंके आधारपर हुआ। इसे जाननेके लिए भक्तिशास्त्रका अध्ययन करो।

मनन करो कि भक्तिका स्वरूप क्या है, भजनीयका स्वरूप क्या है और भक्तका स्वरूप क्या है? जो तीनोंकी पहचान करा दे वह गुरु है।

संसारकी भक्ति करते-करते तुम्हारा चित्त ऊब चुका होगा अथवा ऊब जायगा। जबतक ईश्वरकी भक्ति नहीं करोगे, ईश्वरसे प्रेम नहीं होगा, जीवनमें स्थिरता नहीं आवेगी।

पातालं व्रज याहि वासवपुरीमारोह मेरोः शिरः।
पारावारपरम्परास्तर तथाप्याशा न शान्ता तव॥

'पातालमें प्रवेश कर लो या इन्द्रपुरीमें चले जाओ अथवा सुमेरुके शिखरपर चढ़ जाओ, अनन्त समुद्रोंकी परम्परा पार कर लो, तो भी तुम्हारी आशा शान्त होनेवाली नहीं है।'

आशापिशाचीपरिमर्दितानाम्।

यह आशा तो पिशाची है और लोगोंको रौंद रही है। इसके द्वारा रौंदें जाते प्राणियोंके लिए एक ही शुभ सन्देश है—

आधिव्याधिजरापराजितं यदि क्षेमं निजं वाञ्छसि।
श्रीकृष्णेति रसायनं रसय रे मन्ये किमन्यैः श्रमैः॥

'मानसिक चिन्ताओं, शारीरिक रोगों तथा बुढ़ापेसे हारकर यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो 'कृष्ण' नामरूपी रसायनका रसास्वादन करो। दूसरे कार्योंमें परिश्रम करनेसे कोई लाभ नहीं होगा।'

जीवनमें यह भगवत्प्रेमका अनुभव जिससे हो उस शास्त्रका मनन करो। क्योंकि—भगति बिनु बैल बिराने होइहौ।

अपने प्रयोजनका विचार करो—'हम जो कुछ करने जा रहे हैं उससे क्या भगवान् हमारे हो जायँगे? हमारे दुःख मिट जायँगे? जन्म-मरणका बन्धन कटेगा? हमारी मूढ़ता दूर हो जायगी? भगवान्ने कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

(गीता० ९.३३)

'यह संसार अनित्य है। इसकी कोई वस्तु स्थिर रहनेवाली नहीं है और जो क्षणकालीन संसार टिकता भी है, उसमें कोई

सुख नहीं है। संसारमें दुःख ही दुःख है। अतः इसमें आये हो तो मेरा भजन करो।'

भजनीय भगवान्के स्वरूपका निश्चय करो। भगवान्के विषयमें यह करना और यह नहीं करना, भगवान् ऐसे हैं और ऐसे नहीं हैं, यह कहना नहीं बनता। भगवान् तो सर्वरूप हैं।

अब तुम कहो कि 'ऐसी अवस्थामें हम चूहेको भगवान् बना लेंगे' तो यह सम्भव नहीं है। जो शास्त्रसम्मत, सम्प्रदायपरम्परागत, गुरु द्वारा उपदिष्ट भगवान्का रूप है, वही सिद्ध रूप है। उसीकी उपासना की जा सकती है।

एक पण्डितजी कथा कह रहे थे। नगरमें दही बेचने आयी एक ग्वालिन भी आकर कथा सुनने बैठ गयी। पण्डितजीने कथामें कहा—'भगवान्का नाम लेनेवाला संसार-सागरसे पार हो जाता है।'

ग्वालिनने सोचा—'जब भगवान्का नाम लेनेसे मनुष्य संसार-सागरसे पार हो जाता है तो मैं नाम लेकर नदी पार क्यों नहीं हो सकती! नदी पार करनेमें दो पैसे प्रतिदिन केवटको देनेकी क्या आवश्यकता है?'

श्रद्धा दृढ़ थी। भगवान्का नाम लेती गयी और नदीके जलपर ऐसे चलती गयी जैसे पृथिवीपर चलती हो। दूसरे दिन भी इसी प्रकार नगरमें आयी। दही बेचकर पण्डितजीकी कथामें गयी। कथा समाप्त होनेपर बोली—'पण्डितजी! आपने कल बड़ी अच्छी युक्ति बता दी। मेरे दो पैसे प्रतिदिन बच गये।'

पण्डितजी—'मैंने क्या बताया था?'

ग्वालिन—'आपने कहा था कि भगवान्का नाम लेनेसे मनुष्य संसार-सागरसे पार हो जाता है। मैं प्रतिदिन नदी-पारसे दही बेचने यहाँ आती हूँ। नदी पार करनेके दो पैसे प्रतिदिन केवटको देने पड़ते थे। अब भगवान्का नाम लिया और नदी पार चली गयी।'

पण्डितजी आश्चर्यमें भरकर बोले—'तू बिना नावपर चढ़े नदी पार चली जाती है ?'

ग्वालिन—'हाँ ।'

पण्डितजी—'चल, मुझे दिखा तो सही ।'

ग्वालिन पण्डितजीको लेकर नदी तटपर गयी और भगवान्‌का नाम लेते हुए पार चली गयी। पण्डितजीने भी भगवन्नाम लिये और जलमें उतरे। ग्वालिन तो घाटपर गयी नहीं थी। नौकापर बैठना नहीं तो घाटपर क्यों जाय ? अपने गाँवकी सीधमें नदी पार की थी उसने। वहाँ किनारे ही गहरा जल था। पण्डित डूबने लगे। चिल्लाये जोरसे। ग्वालिनने पुकारकर कहा—'मेरा नाम लेकर कहो कि उसके सीताराम पार कर दें।'

पण्डितजीने ऐसा ही किया और नदीसे निकल आये। यह उस ग्वालिनकी दृढ़ श्रद्धाका परिणाम था कि उसके 'सीताराम' सिद्ध हो गये। इसी प्रकार सूरदासके राधेश्याम, तुलसीदासके राम, मीराके गिरिधर-नागर सिद्ध हैं। तात्पर्य यह कि महापुरुषोंने जिस नामका जप किया है, जिस रूपकी उपासना की है, शास्त्रमें जिसकी उपासनाका प्रतिपादन है, उसीकी उपासना करनी चाहिए।

'तब एक ही रूप क्यों नहीं बतलाते ? भगवान्‌के बहुत-से रूप—नारायण, शिव, शक्ति, राम, कृष्ण आदि क्यों बतलाते हैं ?'

अनेकमें एकको समझना आवश्यक है और यदि भगवान्‌का एक ही रूप मान लो तो यह आग्रह अनेकमें एकको समझने नहीं देगा। अनेकमें जो एक है वह पुरुषोत्तम है। जब उसका एक रूप स्थिर कर दोगे तो वह अनेकोंसे भिन्न, अतः परिच्छिन्न हो जायगा। इसलिए—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।

'एक सत्यको ब्रह्मवेत्ता लोग अनेक रूपोंसे वर्णन करते हैं।'

स्वामी हरिदासजी, श्रीहितहरिवंशजी, श्रीगोपाल भट्टजी आदि महापुरुषोंने जिन भगवान्‌के श्रीविग्रहोंकी सेवा की वे विशेष शक्ति-

युक्त हो गये। महापुरुषों द्वारा आराधित भगवान्‌के रूपकी उपासना करो। अपने संकल्पके बलका गर्व मत करो कि 'हम अपने संकल्प-बलसे इस रूपको भगवान् बना देंगे।'

भगवान्‌के रूप, नाम तथा गुणोंका चिन्तन करो। जो शास्त्र भगवान्‌के मृदु, दयालु, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमानादि गुणोंका, उनकी लीला-कथाका, उनके नामके प्रभावका प्रतिपादन करते हैं उनका मनन करो।

भक्ति कैसे होती है? सेवामें ममत्व होनेसे भक्ति होती है। जैसे पत्नी अपने पतिकी उपासना करे तो अन्य पुरुषसे प्रीतिका त्याग हो गया। इसी प्रकार भगवान्‌के एक रूपमें एवं एक नाममें निष्ठावान् होना चाहिए।

माला तौ कर मैं फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुआँ तौ चहुँ दिसि फिरै, यह तौ सुमिरन नाहिं॥

मैंने एक सज्जनको देखा है। उन्होंने अपने कमरेमें २०-२२ चित्र भगवान्‌के अनेक रूपोंके लगा रखे थे। विष्णु, शिव, दुर्गा, गणपति, राम, कृष्ण, हनुमानादि सबके चित्र थे। प्रत्येकके मन्त्रकी दो-दो माला जप करते थे। उन्हें डर लगता था कि जिसका जप छोड़ूँगा वह अप्रसन्न हो जायगा। उनकी इस चञ्चलताने उन्हें संसारमें लगा दिया। एक रूप एवं एक नाममें निष्ठाका न होना उनके पतनका कारण बन गया। अतः भक्तिकी चञ्चलताका कारण मत बनाओ।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।

भगवान् कहते हैं—'जो मुझसे युक्त चित्तवाला है वह तो मुझ परम उत्तम गतिमें ही स्थित है।'

भक्तिका फल धनकी प्राप्ति या शुभकर्म नहीं है। कामनाकी पूर्ति अथवा मुक्ति भी भक्तिका फल नहीं है। अन्य तो क्या,

भगवान्‌का दर्शन भी भक्तिका फल नहीं है; क्योंकि भगवान् सदा तो सामने खड़े रहेंगे नहीं। भक्ति का फल भक्ति ही है।

भगवान्‌के मिलनेपर भी उनके इसी रूपका ध्यान-चिन्तन होगा। इसी नामका जप होगा। ऐसे ही उनकी लीलाका चिन्तन होगा। भगवान्‌का मिलन तो इसे और दृढ़ करेगा। इसलिए आज जो कर रहे हो उसकी उपेक्षा मत करो। यह कल्पित नहीं है। यदि तुम समझते हो कि आज तुम कर रहे हो वह ठीक नहीं होगा, तब आजका साधन तुम्हारी सहायता कैसे करेगा, तुम तो आजके साधनका अपमान कर रहे हो।

मन्दिरमें बैठे हो और सोचते हो—'मैं बड़ा पापी हूँ।' तब भगवान् हँसते हैं—'तुम मुझे इतना दुर्बल समझते हो कि पाप मेरे सम्मुख आकर कहता है कि यह मैं पाप हूँ। अरे, पाप मेरे सामने आ नहीं सकता।'

तुमने कहा—'सीताराम!' मुखसे भगवन्नाम निकला तो फिर तुम पापी कहाँ रह गये। अतः मैं पापी हूँ यह कहनेकी क्या आवश्यकता थी? इसके बदले एक बार और भगवान्‌का नाम ले लेते!

'भक्तिशास्त्राणि मननीयानि'—भक्तिशास्त्रका अनुकूल युक्तियोंसे मनन करो। शास्त्रानुकूल युक्तियोंका बुद्धिमें उदय होना मनन कहा जाता है। जब शास्त्रका खण्डन करनेवाले तर्क चित्तमें उठें तो समझना चाहिए कि बुद्धिमें पाप-संस्कारोंका उदय हुआ है। शास्त्रको खण्डित करनेवाली बुद्धि पापिष्ठा है। शास्त्रमें लिखा है—'भगवान् मुक्ति देते हैं पर भक्ति नहीं देते।' तुम यदि खण्डन करने लगे कि मुक्ति कहाँ और भक्ति कहाँ? तो बुद्धिमें पाप-संस्कारका उदय समझो। इसका मनन करो कि एक राजाके कारागारमें एक बन्दी है। राजाके लिए उसे छोड़ देना सुगम है अथवा उसे अपने राजभवनकी सेवामें लगा लेना? स्पष्ट है कि

उसे छोड़ देना सुगम है। भक्ति तो सेवा है। वह अत्यन्त विश्वसनीयको ही प्राप्त होती है। यह भक्तिशास्त्रका मनन हुआ।

तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे एक बार ब्रह्माकार वृत्ति होकर अविद्यानिवृत्ति हुई तो मुक्ति हो गयी। किन्तु इस प्रकार सद्योमुक्ति हो जानेपर निरन्तर स्वरूपमें स्थित कैसे रहे?

भविष्यं नानुसन्धत्ते नानुभूतं चिन्तयत्यसौ।

ऐसा भक्त न भविष्यकी चिन्ता करता, न पिछले अनुभवोंका विचार ही करता। वर्तमानमें स्थित ब्रह्मानन्दमें निमग्न रहता है, यह जीवन्मुक्तिकी अवस्था दुर्लभ है। यह अवस्था तब प्राप्त हो जब तत्त्वज्ञानके पूर्व मल-विक्षेपका सम्यक् निवारण हुआ हो और भरपूर मनन-निदिध्यासन किया गया हो। अन्यथा जीवनभर संसारीके समान रहना होगा।

'तदुद्बोधककर्माण्यपि च करणीयानि'—केवल भक्तिशास्त्रका मनन करते रहना ही पर्याप्त नहीं है। भक्तिको उद्दीप्त करनेवाले कर्म भी करने ही चाहिए। तुम्हारे पास धन हो तो उसे भी भगवत्सेवामें लगाओ। अन्यथा भक्ति बढ़ेगी नहीं।

भजनमें पैसेकी क्या आवश्यकता?' यह प्रश्न क्यों उठता है? तुम्हारे पास जो धन है वह लोभके कारण ही व्यय नहीं हो रहा है। धनमें लोभ होगा तो भगवान्से प्रेम कैसे बढ़ेगा? आवश्यकता हो या न हो जिससे प्रेम होता है॰उसकी सेवाके लिए धनका व्यय किये बिना मनुष्य रह नहीं पाता।

'हम काम क्यों करें? नेत्र बन्द करके भजन ही क्यों न करें? यह बात मनमें आलस्यके कारण आयी है। आलस्य आया तो चित्तमें तमोगुण आ गया। भगवान्के लिए श्रम करोगे तो रजोगुण शुद्ध हो जायगा और तमोगुण छूट जायगा। अर्थ, कर्म और मन—ये तीनों भगवान्में लगाना चाहिए। तन-मन-धन तीनों लगाये

बिना भक्ति नहीं होती। जब द्रव्य और क्रियाके साथ भावना होती है तब भावनामें सच्चाई आती है।

कहो कि—'हम मन ही मन भगवान्‌को खिलाते हैं। बाहर खिलानेपर तो भिक्षुक आ जाते हैं।' यह ठीक नहीं है। जैसे हमारे घर तथा देहके कार्य बिना धन तथा क्रियाके सम्पन्न नहीं होते वैसे ही भगवान्‌की सेवामें भी धन तथा तनकी क्रिया लगाओ। निकम्मे मत बनो। आलस्यको भजन मत मानो। अपनी स्थितिको देखो। भजन करनेसे भीतर प्रकाश होता है और आलस्यसे अन्धकार। मनपर जैसा प्रभाव भजनका पड़ना चाहिए वैसा प्रभाव बिना कर्म किये पड़ता नहीं है।

भगवान् मुझपर कृपा करेंगे, यह आशा जीवनमें प्रतिष्ठित करनी चाहिए।

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥
(श्रीमद्भाग० १०.१४.८)

ब्रह्माजी कहते हैं—'श्यामसुन्दर! जो यह प्रतीक्षा करता है कि आप कब कृपा करेंगे और इस प्रतीक्षाके साथ प्रारब्धके भोगोंको भोगता हुआ मन, वाणी तथा देह—क्रियासे आपको नमस्कार करता रहता है, आपकी भक्ति करता है, वह मुक्ति पदका स्वत्वाधिकारी हो गया। मुक्ति तो उसका स्वत्व बन चुकी।

इसलिए भक्तिको जगानेवाले कर्म करते रहो। भगवान्‌के नामका जप करो, कीर्तन करो, भगवान्‌की मूर्तिका पूजन करो। मन्दिर तथा तीर्थमें दर्शन करने जाओ। भगवान्‌के महोत्सव करो। संत-भक्तोंकी सेवा करो। कथा श्रवण करो। ●

क्षण भर भी व्यर्थ न हो

• संगति

भक्तिशास्त्रोंका मनन तथा भक्तिको जाग्रत् करनेवाले ये कर्म कबतक करें ?

तुम्हारे आजके समयसे लेकर भगवान्‌के मिलनेके मध्यमें जितना काल है उसे भरना है। वैष्णवजन इसे 'कालक्षेप' कहते हैं। कुछ ऐसा ढंग बैठाना है कि काल कब बीत गया, यह पता ही न लगे। उस समयकी प्रतीक्षा करो, जब भगवान् आवेंगे।

कोई सन्ध्याकालको भजनके लिए उत्तम कहते हैं तो कोई उषःकालको। ब्राह्ममुहूर्तमें जुआरी, व्यभिचारी, विषयभोगपरायण लोग श्रान्त होकर सोते रहते हैं। पक्षी तक शान्त रहते हैं। उस समय लोगोंका भोग-संकल्प, राग-द्वेषका संकल्प वातावरणमें फैलकर उसे दूषित नहीं करता। वह शान्तिका समय होता है। किन्तु हमारे हृदयमें ऐसा समय आना चाहिए, जब उसमें भगवान्‌का आविर्भाव हो। इसके लिए क्या करना चाहिए ?

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम् ॥ ७७ ॥

सुख-दुःख, इच्छा-लाभ आदिका त्याग हो जाय ऐसे कालकी प्रतीक्षा करते हुए आधा क्षण भी व्यर्थं नहीं बिताना चाहिए।।७७।।

यह प्रतीक्षा करते रहो कि ऐसा समय कब आवेगा जब कि संसारकी कोई वस्तु या व्यक्तिके मिलने अथवा चले जानेसे चित्तमें सुख या दुःख नहीं होगा। जैसे वायुमें तिनके उड़ते हैं वैसे वस्तुएँ

तो आती-जाती हैं। अतः चित्त-वृत्ति भगवान्‌में ही लगाये रहो। क्षणार्धं भी व्यर्थ मत जाने दो। गया हुआ समय करोड़ों रुपये देकर भी वापस नहीं मिलता।

अप्राप्तके लिए इच्छा होती है। इच्छाकी पूर्तिका नाम लाभ है। लाभ होनेसे सुख होता है और प्राप्त लाभ नष्ट होनेसे अथवा इच्छापूर्तिमें बाधा पड़नेसे दुःख होता है। ये तुम्हारे चित्तको प्रभावित न करें ऐसे समयकी प्रतीक्षा करो, क्योंकि यह बात तत्काल नहीं आती। भजन करनेसे कभी आवेगी।

सुख-दुःख इच्छा-लाभ होते हैं तो मनमें कोई न कोई विषय होता है। यह सब छूट जाय, ऐसा शान्त समय आवे कि चित्तमें वासना न उठे, मनोराज्य न हो, हृदयके मञ्चपर कोई नट या नटी न हो—ऐसे समयकी प्रतीक्षा करो।

तबतक करें क्या ? कालको व्यर्थ मत जाने दो। इस कालका शृङ्गार करते चलो। जैसे राष्ट्रपति आनेवाले हों तो उनके पार्षद, उनकी विभूति पहले आ जाती है, वैसे ही भगवान् आनेवाले होते हैं तो उनका ऐश्वर्य काल पहले आ जाता है। उसका सम्मान तुमने नहीं किया, उसके सम्मुख तुमने गन्दगी रखी तो वह सोचता है—'इसके समीप प्रभुके विराजमान होने योग्य सिंहासन तो है ही नहीं।' इसलिए प्रभुके स्वागतकी अपनी तत्परता कालको दिखलाओ। यह प्रदर्शित करो कि तुम्हारा सर्वस्व भगवान्‌की पूजाके लिए है। समयको प्रभुकी पूजा-सामग्री—जप, ध्यान, कीर्तन, कथा-श्रवणादिसे भरो।

जब तुम्हारा क्षणार्धं भी व्यर्थं नहीं जायगा तब वह समय प्रकट होगा जो कर्तृत्व-भोक्तृत्व-वासना-वर्जित है। वह काल प्रभुसे युक्त होगा। भगवान्‌को क्षीरसागरमें-श्वेतद्वीपमें रहना प्रिय है। वे हृदयकी सात्त्विकतामें निवास करते हैं। अतः अपने हृदयको श्वेतद्वीप बनाओ।

एक मनुष्य हमारे पास आता है तो हम सोचते हैं कि इसका हमारे समीप आना-जाना ठीक है या नहीं। हम देखते हैं कि यह हमारी बात मानता है अथवा हमसे अपनी बात मनवाना चाहता है। यदि हम देखते हैं कि यह हठी है, अपनी बात हमसे मनवायेगा, तो सोचते हैं कि इसके कारण हमारा एक बन्धन बढ़ेगा। उसके प्रति मनमें उपेक्षा आती है। यदि हम देखते हैं कि यह हमारी बात माननेवाला है तब लगता है कि इससे कोई भय नहीं है, यह समीप रह सकता है। किन्तु जो हठी स्वभावका है उसे देखकर लगता है—'आज इसने मेरी छोटी बात नहीं मानी तो हानि नहीं किन्तु कभी कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं मानेगा तो हानि होगी।'

ईश्वर भी देखता है कि यह मेरी इच्छानुसार चलनेवाला है या मुझे अपनी इच्छानुसार चलाने की हठ करनेवाला। जो अपने मनके वशमें है वह साथ करने योग्य नहीं है। जब अपनी वासना घट जाय तब पुरुष महापुरुषके समीप जाने योग्य होता है। तुम भगवान्‌को क्यों चाहते हो? उनको अपनी इच्छानुसार नचानेके लिए अथवा स्वयं उनकी इच्छाके अनुसार नाचनेके लिए? मीराबाईने कहा है—

मैं गिरिधर आगे नाचूँगी।
नाच नाच पिय रसिक रिझाऊँ, प्रेमी जनको जाँचूँगी॥

धर्म आचरणीय

● संगति

जो लड़ाई-झगड़ा करता हो, झूठ बोलता हो, धर्माधर्मका विचार न करता हो, उसे भगवान् पसन्द नहीं करते। कोई मनुष्य हमारे समीप आकर किसीसे लड़ने लगे तो उससे कहना पड़ेगा—'झगड़ा यहाँ मत करो! लड़ना है तो बाहर जाकर लड़ो।'

जिसके मनमें द्वेष है वह शत्रुका स्मरण करेगा। भगवान्का स्मरण वह कैसे करेगा? मनमें राग है, इच्छा है तो जिससे राग है उसका चिन्तन करेगा। भगवान्का चिन्तन उससे नहीं हो सकता। इसलिए राग-द्वेष, धोखाधड़ी, असत्य-क्रूरतादिका त्याग करके भगवान्के चिन्तनमें ही सम्पूर्ण समय व्यतीत करना चाहिए।

●

अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि ॥ ८७ ॥

अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि चारित्रिक धर्मोंका भली प्रकार पालन करना चाहिए ॥७८॥

अहिंसा—किसी भी प्राणीको जान-बूझकर मन-वाणी-कर्मसे पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है। सब प्रभुके स्वरूप हैं, सबमें प्रभु विराजमान हैं, अतः किसीको कष्ट देनेकी बात भक्त नहीं सोचता। दूसरेको पीड़ा मनुष्य स्वार्थवश अथवा द्वेषवश देता है। स्वार्थ—राग तथा द्वेष दोनों चित्तको संसारमें लगाते हैं और प्रभुसे दूर ले जाते हैं।

सत्य—जो बात हम जैसी जानते-समझते हैं उसे वैसी ही कह देना मात्र सत्य नहीं है। सत्यस्वरूप भगवान् हैं और वही मंगलमय हैं। अतः सत्य वह है जो यथार्थ होनेके साथ प्रिय हो तथा हितकारी भी हो। असत्य तो भगवान्से दूर हटानेवाला है।

शौच—शरीरकी और मनकी पवित्रताका नाम शौच है। शरीरको धोकर स्वच्छ कर लिया, साबुन लगा लिया; किन्तु मनमें झूठ-कपट आदि भरे हैं तो व्यक्ति पवित्र नहीं है। हृदयमें भगवान्को बैठाना है अतः उसकी स्वच्छता पहले आवश्यक है। साथ ही वह हृदय जिस देहमें है उस देहकी स्वच्छता, पवित्रता आवश्यक है।

दया—दुखी, रोगी, निर्धनके प्रति करुणाके भावका नाम दया है। भक्ति हृदयकी कोमलतामें आती है। हृदय कठोर, निष्ठुर होगा तो वह द्रवित कैसे होगा? उसमें प्रेम कहाँसे आवेगा? इसलिए भक्तको उदार-कोमलहृदय होना चाहिए।

आस्तिकता—वेदपर श्रद्धाका नाम आस्तिकता है। नास्तिको वेदनिन्दकः—नास्तिक वह है जो वेदकी निन्दा करता है। ईश्वरको और उनके प्रेमके महत्त्वको तुमने कैसे जाना? वेद-शास्त्रके वर्णनके द्वारा ही तो जाना है। अतः वेद-शास्त्रमें श्रद्धा रखोगे तभी भक्ति परिपुष्ट होगी।

इस प्रकार जो शास्त्रसे, सत्पुरुषोंसे सम्मत धर्माचरण हैं उनका पालन करना चाहिए।

सर्वदा भगवान् ही भजनीय

● संगति

शास्त्रमें तो बहुत-से उपदेश हैं। धर्माचरणके भी अनेक आदर्श हैं। सत्पुरुष भी अनेक प्रकारके उपदेश करते हैं। इनमें-से किसे अपनाया जाय ?

श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

श्रुतियाँ अनेक प्रकारकी हैं और स्मृतियाँ भी अनेक बातें कहती हैं। कोई एक ऋषि तो हुए नहीं कि उनकी बात मान लें। ऋषि भी बहुत हुए हैं। धर्मका तत्त्व स्पष्ट भी नहीं है। वह छिपा हुआ है। अतः महापुरुष जिस मार्गसे गये हैं वही ठीक मार्ग है।'

किन्तु महापुरुष भी तो एक नहीं हुए और न सब महापुरुष एक मार्गसे गये हैं। ऐसी अवस्थामें अपना मुख्य लक्ष्य क्या रखकर धर्मका पालन करें ? ●

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः ॥७९॥

सर्वकालमें, सर्वभावसे निश्चिन्त होकर केवल भगवान्का ही भजन करना चाहिए ॥७९॥

अन्य किसी बातकी चिन्ता मत करो। चाहे जितने मत हों और लोग चाहे जो कहते-करते हों, तुम्हें तो सर्वदा सर्वभावसे निश्चिन्त होकर भगवान्का ही भजन करना उचित है।

चिन्ता चिता समाख्याता चिन्ता चितातोऽधिका।
चिता दहति निर्जीवं चिन्ता जीवं हि दह्यति॥

'चिन्ताको चिताके समान कहा गया है किन्तु चिन्ता चितासे बड़ी है; क्योंकि चिता प्राणहीन शवको जलाती है, चिन्ता तो जीवित व्यक्तिको जला डालती है।'

चिन्ता ईश्वरको, धर्म-कर्मको छुड़ा देती है और स्वास्थ्यको नष्ट कर देती है। इसलिए तुम दिन-रातमें कम-से-कम एक घण्टा ऐसा रखो जिसमें अपने कमरेमें बैठो और उस कमरेसे बाहरकी कोई बात मत सोचो। एक घण्टा ऐसा निकालो जिसमें वर्तमान दिनके आगे-पीछेकी बात मत सोचो। एक घण्टेतक गुरु या भगवान्‌को छोड़कर अन्यकी बात मत सोचो। इस प्रकार चिन्ताको देश-काल-पदार्थमें सीमित करो। तब पता लगेगा कि तुम्हारे मनमें कितनी चिन्ता रहती है!

मन मानता नहीं। वह वशमें नहीं है। अच्छा, मनकी बात छोड़ दो। निश्चय करो कि आज केवल भगवान्‌की अथवा केवल वृन्दावनकी बात करेंगे, दूसरी कोई बात आज नहीं करेंगे। इस प्रकार अपनेपर नियन्त्रण करोगे तब चिन्ता छूटेगी।

चिन्ता कैसे होती है? लोग कहते हैं—'हमको जिनसे सेवाकी आशा थी, जिनकी हमने बहुत सेवा की, वे अब हमारी सेवा नहीं करते।'

तुम यह आशा ही क्यों करते हो कि कोई तुम्हारे प्रति कृतज्ञ बने और तुम्हारी सेवा करे? यह तो उसकी इच्छापर निर्भर है। तुम अपने सुखको दूसरे हाथमें क्यों देते हो?

'यह चिन्ता है कि लोग निन्दा करते हैं।' अरे लोग निन्दा करते हैं तो इसका अर्थ है कि तुम जीवित हो। मृतकी कहीं कोई निन्दा करता है? निन्दा, ईर्ष्या तो लोग उसकी करते हैं जो उनसे आगे है, उनसे बड़ा है। वे तुम्हारे पीछे हैं अतः तुम उनकी चिन्ता

क्यों करते हो ? निन्दा करनेवालोंकी बातोंपर ध्यान देनेकी क्या आवश्यकता है ? हाँ, यदि उनकी बातोंमें कुछ सार हो तो अपनी वह त्रुटि सुधारनी चाहिए।

संसारमें किसका किससे सम्बन्ध है ? यहाँ जो हम अपना अन्योंसे सम्बन्ध मानकर कृतज्ञता-कृतघ्नताकी कल्पना करते हैं यह हमारी भूल है।

जो वस्तु छूट गयी उसके बन्धनसे ईश्वरने हमें मुक्त कर दिया। जो वस्तु आयी नहीं है उसका स्वप्न देखना अनावश्यक है। यदि तुम अपने वर्तमानको भगवान्‌के भजनसे पूर्ण करते रहो तो संसारमें चिन्ता करनेकी कोई बात तुम्हारे लिए नहीं रह जायगी। चिन्ताकी बात यही है कि तुम चिन्ता आनेकी चिन्ता करते हो।

एक डाक्टरकी सम्मति है—'निद्रा न आनेसे कोई कष्ट नहीं होता। किन्तु लोग निद्रा न आनेको चिन्ता करके कष्ट पाते हैं और इस चिन्तासे मर जाते हैं।'

जब मनमें चिन्ता आवे तो सोचो—'मैं जिसके लिए चिन्ता कर रहा हूँ वह क्या इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसके लिए ईश्वरका चिन्तन छोड़ दिया जाय ?'

ऐसी घटनाएँ प्रायः होती हैं कि ठग लोग सामने कुछ पैसे या नकली सोना डाल देते हैं। मनुष्य जबतक उसे उठाने लगता है तबतक उसकी ज़ेब काट लेते हैं अथवा उसका कोई मूल्यवान् सामान उठा ले जाते हैं।

इसी प्रकार माया संसारकी छोटी-बड़ी वस्तुएँ तुम्हारे सामने डालती है। तुम उसकी चिन्तामें लगते हो तो ईश्वरका चिन्तन तुमसे छूट जाता है। अतः पहले मूल्यांकन कर लो कि मूल्यवान् क्या है ? संसारकी किसी वस्तुके खो जाने अथवा खो जानेके भयके कारण ईश्वरका चिन्तन छोड़ देना सबसे बड़ी हानि है। छोटी वस्तुके लिए बड़ी वस्तुकी हानि करना बुद्धिमानी नहीं है।

मनुष्य अनेक बार जान-बूझकर भी अभ्यासके दोषसे अपनी हानि कर लेता है। जैसे कुछ लोगोंको नाक या कानमें उँगली डालनेका अभ्यास हो जाता है ऐसे ही मनको चिन्ता करनेका स्वभाव पड़ गया है। अपनी चिन्ता नहीं है तो पड़ोसीकी चिन्ता करेंगे। सड़कपर चलते मनुष्यकी चिन्ता करने लगेंगे।

तुम दूसरोंके प्रतिनिधि या निर्णायक तो नहीं हो। काल सिरपर सवार है। जब तुम्हारा बुलावा आवेगा, सब कुछ छोड़कर चले जाना पड़ेगा। जो यह चिन्ता करते थे कि दस वर्ष बाद क्या होगा वे क्षणभरमें मर गये।

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥

भ्रमर सायंकाल कमलके पुष्पमें बैठा। कमल बन्द हुआ तो उसमें वह भी बन्द हो गया। वहाँ बैठा वह सोच रहा था—'रात बीत जायगी, फिर सूर्योदय होगा तो यह कमल-पुष्प खिलकर कितना सुशोभित होगा!' तबतक एक हाथी आया और उसने कमलको उखाड़कर मुखमें रख लिया। पुष्पके साथ भ्रमरको भी वह चबा गया।

अतः ससारमें चिन्ता करनेवाले कालके साथ जुआ ही खेल रहे हैं। मोटर टूट गयी तो बोले—'हमने इसका बीमा बेच रखा है। चिन्ताकी बात नहीं है।' इसी प्रकार शरीर भगवान्‌को अर्पण कर दो—जीवन भक्तिके रससे भरा हो, बस इतना ही ध्यान रखो।

आयु तो ब्रह्माकी भी समाप्त हो जाती है। संसारमें भी कोई अमर रहा नहीं, रहेगा नहीं। बड़े-बड़े लोगोंकी इच्छाएँ अपूर्ण रह जाती हैं। जैसे एक चींटी दीवारपर चढ़ रही है। हम हिसाब करते हैं कि वह दस मिनटमें कहाँ तक पहुँच जायगी। किन्तु वह

कहाँसे फिसल कर गिर जायगी, कहाँ कोई मकड़ी या अन्य कीड़ा उसे खा जायगा, इन बातोंका हमें कहाँ पता होता है ! समस्त वैज्ञानिक-गणना इसी प्रकारकी है ।

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च ।
परिच्छिन्नमेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥

'प्रभो ! आप सूर्य हैं, आप ही चन्द्रमा हैं, आप वायु हैं, आप अग्नि हैं, आप जल हैं, आप आकाश हैं, आप पृथिवी हैं और आप आत्मा हैं । इस प्रकार भक्त लोग पृथक्-पृथक् नाम लेकर, पृथक् पृथक् परिच्छिन्न रूपोंमें भले आपका वर्णन करते रहें किन्तु हम तो ऐसा कोई तत्त्व जानते ही नहीं जो आप न हों ।'

नमः सर्वस्मै ते तदिदमपि सर्वाय च नमः ।

'इसलिए सर्वस्वरूप आप सर्वमयको नमस्कार ! जब सर्वरूप, सर्वत्र सर्वदा परमात्मा ही है तो चिन्ता करनेका कोई हेतु ही नहीं है ।'

वह व्यक्ति कितने निर्मल अन्तःकरणवाला होगा, वे नेत्र कितने पवित्र होंगे, वह बुद्धि कितनी शुद्ध होगी जिसे सर्वदेशमें, सर्वकालमें, सर्ववस्तुमें प्रभुका ही साक्षात्कार होता है । उपनिषद्में आया है—मनो ब्रह्म इत्युपासीत—'मन ही ब्रह्म है, ऐसी उपासना करे ।' मनमें जितने संकल्प उठते हैं उनका ब्रह्मरूपसे चिन्तन करो । नामरूपको पकड़ो मत ! उन-उन नामरूपोंके अधिष्ठानका चिन्तन करो । प्रत्येक रूप ब्रह्मका ही विवर्त है अतः ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी वस्तु है ही नहीं । इस प्रकार अपने अध्यात्मको ब्रह्मरूप देखो । अधिदैव भी ब्रह्म ही है—

पृथिवी देवता, आपो देवता, सूर्यो देवता । (श्रुति)

इस प्रकार अधिदैव भी परमात्माका ही स्वरूप है। जब अध्यात्म और अधिदैव परमात्मा है तब अधिभूत अपने आप परमात्माका स्वरूप हो गया।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(गीता ७ ३०)

भगवान्‌ने कहा—'जो अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञके साथ—तीनों रूपोंमें मुझे जानता है वह युक्तचित्त है और वह मरणके समय भी मुझे जानता है।'

सर्वदा सर्वभावेन भगवानेव भजनीयः—सर्वभावका अर्थ है कि सम्पूर्ण अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्मके रूपमें भगवान्‌को ही देखो। अध्यात्मके रूपमें भगवान् साक्षी हैं। अधिदैव—सर्व देवरूप, समस्त इन्द्रियोंके प्रेरक प्रकाशक भगवान् ही हैं। अधिभूत—जगत्‌में भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जब भजन करने-वाला अन्य नहीं, भजनीय ही सर्वरूप है तो भजन होगा कैसे?

भगवानेव भजनीयः—यह पृथिवी रूपमें भगवान् हैं। उसपर हम पैर रखकर चलते हैं। देखो कि इस प्रकार हम भगवान्‌की सेवा कर रहे हैं। यह भजन है। मेरे पितामहके एक चचेरे भाई थे। युवावस्थामें वे दण्ड-बैठक बहुत करते थे। वृद्ध हुए तो व्यायाम छूटनेसे शरीरमें पीड़ा रहने लगो। वे पेटके बल लेट जाते और हम सब बच्चोंको अपनी पीठपर चढ़ाकर अपना शरीर पैरोंसे रौंदनेको कहते। ऐसा करना उनकी सेवा थो। डाक्टर ऑपरेशनके समय शरीरको काटता है किन्तु यह रोगीकी सेवा होती है। इस प्रकार अपनी क्रियामात्रमें भगवत्सेवाकी बुद्धि करो।

सर्वभावेन—पति-पुत्र, माता-पिता, भाई-सखा, स्वामो-सेवक, आत्मा, सर्वरूप मानकर भगवान्‌का ही भजन करो।

'सर्वभावेन'का एक अर्थ योगमार्गी लोग यह भी करते हैं कि मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, हृदय, कण्ठ, भ्रूमध्य (आज्ञा), सहस्रार आदि चक्रोंमें तथा शून्यशिखरमें जिन-जिन स्थानोंपर जिन देवताओं तथा शक्तियोंका ध्यान-भजन योगशास्त्रमें बतलाया गया है उन-उन रूपोंमें भगवान्‌का ही भाव करके भजन करो।

सर्वभावेन—नारायण, शिव, शक्ति, सूर्य, गणपति, राम, कृष्ण आदि भगवान्‌के ही भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। इन सबमें भगवान्‌की भावनासे भजन करना चहिए।

भगवान् प्रकट होते हैं

○ संगति

अब यह बतला रहे हैं कि भजन करनेका फल दृश्य रूपसे क्या होता है ?

स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान् ॥८०॥

वे (भगवान्) कीर्तित होनेपर शीघ्र ही प्रकट होते हैं और भक्तोंको अपना अनुभव कराते हैं ॥८०॥

मनुष्य ककारके चक्करमें पड़ा है। 'क' इसे कान पकड़कर घुमा रहा है। कामिनी, कञ्चन और कीर्तिने इसे कुपुरुष बना दिया है। इसकी चिकित्साके लिए कीर्तन करो। कीर्तन ही इस ककारको कमजोर करेगा।

धनका मोह व्यर्थ है। यह लक्ष्मी तो जिसकी है उसके समीप पहुँचकर ही रहेगी। जलको चाहे जितने सुदृढ़ हौजमें रोको, अन्ततः वह सूखेगा और वाष्प बनकर फिर समुद्रमें ही पहुँचेगा। संसारकी सब वस्तुएँ ऐसी ही हैं। वे भगवान्की हैं और उनके पास पहुँचे बिना कहीं रुक नहीं सकतीं।

एक साधु गंगा किनारे रहते थे। उन्होंने कुछ गिन्नियाँ एकत्र कर रखी थीं। बड़ा मोह था गिन्नियोंसे। बीमार हुए और लगा कि मर जायँगे। उन्होंने हलवा बनाया और उसमें लपेटकर गिन्नियोंको धीरे-धीरे निगल गये। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही मर गये। गिन्नियाँ उनके साथ तो जानी नहीं थीं। स्वर्ण पृथिवीसे निकला था, पृथिवीमें पहुँच गया।

भगवान्‌के नाम, गुण, लीला, यशका कीर्तन करो। इसमें धन नहीं लगता, विद्याकी आवश्यकता नहीं, योगाभ्यास नहीं करना पड़ता, किन्तु वृत्ति भगवदाकार बन जाती है।

'संकीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति'—जैसे कोई छोटे बच्चेको पुकारे तो बच्चा दौड़ा आता है वैसे ही भगवान् भी कीर्तन करनेपर आ जाते हैं।

अब कहो कि 'हमको तो इतने दिन कीर्तन करते हो गये, भगवान् तो कभी आये नहीं।' इसका भी कारण है। एक बार कोई भगवान्‌के धाम पहुँचा। वहाँ उसे भगवद्धामका द्वार बन्द मिला। यह देखकर वह अत्यन्त व्याकुल हो गया। उसी समय आकाशवाणी हुई—'हमारे लिए कुछ भेंट लाये हो या खाली हाथ आये हो?'

भक्त बोला—प्रभु! आपके लिए क्या भेंट लाता? मैंने जो इतना जप किया, इतना आपका ध्यान किया, इतनी पूजा की, वही सब भेंट करनेको ले आया हूँ।'

आकाशवाणी—'यह सब नहीं। कोई ऐसी वस्तु—कोई ऐसा भाव लाये हो जिसपर दूसरे किसीकी दृष्टि न पड़ी हो? जिसे तुमने कहकर स्वयं जूठा न किया हो? यदि ऐसी कोई भेंट नहीं लाये हो तो लौट जाओ!'

भक्तिमार्ग तथा दूसरे साधन-मार्गोंमें यह मौलिक भेद है कि भक्तिमें सब कुछ भगवान् कराते हैं। कर्म, ज्ञान तथा योगमार्गमें सब कुछ जीव स्वयं करता है। प्रमाता-कर्ता-बलसे धर्मकी, ज्ञानकी तथा योगकी सिद्धि होती है। किन्तु भक्ति कर्ता-प्रमाता-बलसे सिद्ध नहीं होती। प्रमेय-बल—भगवान्‌के बलसे भक्ति सिद्ध होती है। इस रीतिसे साधनोंका तीन विभाग कर सकते हैं।

१. प्रमेय-बलसे सिद्ध होनेवाला साधन भक्ति है।

२. प्रमाता-बलसे सिद्ध होनेवाले साधन धर्म तथा योग हैं।

३. प्रमाण-बलसे सिद्ध होनेवाला साधन ज्ञान है।

ज्ञानमें प्रमाण-बल—'तत्त्वमस्यादि' महावाक्यजन्य वृत्तिसे अविद्या-निवृत्ति होती है; किन्तु वृत्ति स्वयं अविद्याको निवृत्त नहीं कर सकती; क्योंकि वृत्ति स्वयं ही अविद्याका कार्य है। कार्य अपने कारणका नाश नहीं कर सकता। उस वृत्तिमें आरूढ़ चेतन अविद्याको निवृत्त करता है। यह नियम सर्वत्र लागू होता है। केवल हाथसे धर्मकी सिद्धि नहीं होती। हस्तारूढ़ चेतनके द्वारा धर्मकी सिद्धि होती है। केवल श्वास रोकनेसे प्राणायाम अथवा योगकी सिद्धि नहीं होती। उसमें जो आरूढ़ चेतन–कर्ता है उससे योगकी सिद्धि होती है। भक्तिमें अपना कर्तृत्व—अपना बल नहीं है।

कीर्तन करते वर्षों बीत गये और भगवान् नहीं आये तो कीर्तनमें अवश्य कुछ प्रतिबन्ध है, तभी भगवान् नहीं आते हैं। अन्यथा कीर्तनकी महिमा तो महान् है। प्रतिबन्ध होते हैं पाप-प्रारब्ध एवं पुण्य-प्रारब्धके संस्कार, अन्यथा कीर्तन करते ही भगवान् प्रकट होने चाहिए। जैसे मैया यशोदा जब पुकारती थीं—'लाला कन्हैया!' तब आकर सामने खड़े होकर कहते थे—'हाँ मैया!' इसी प्रकार प्रत्येक कीर्तन करनेवालेके सम्मुख भगवान्को आना चाहिए। देवर्षि नारदजीका अपना अनुभव यही है। वे कहते हैं—

आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि।

'कीर्तन करते ही वे मेरे चित्तमें ऐसे प्रकट हो जाते हैं जैसे उन्हें पुकारकर बुलाया गया हो।'

'शीघ्रमेवाविर्भवति'—भगवान् प्रकट नहीं हो रहे हैं तो उनके प्रकट होनेमें कोई बाधा होगी. एक ग्रन्थमें यह प्रश्न उठाया गया है कि भगवान् जब कहीं प्रकट होते हैं तो वहीं प्रकट हो जाते हैं अथवा साकेत-गोलोकादिसे चलकर आते हैं?

यदि भगवान्‌को वैकुण्ठ, साकेत, गोलोकादिसे चलकर आनेका श्रम-कष्ट उठाना पड़ता हो, प्रेमी भक्त उन्हें कभी बुलावेगा ही नहीं।

हम लोग एक महात्माका दर्शन करने जाया करते थे। वे द्वार बन्द करके भजन करने बैठते थे। उनके यहाँ जाकर हम लोग न तो आनेकी सूचना देते थे, न कोई शब्द करते थे। हम न खाँसते, न द्वार खटखटाते और न कोई आहट करते। चुपचाप बैठकर प्रतीक्षा करते थे। वे दो-चार घण्टे बाद जब स्वयं लघुशंका करने, शौच जाने या अन्य किसी कार्यसे बाहर निकलते तब हम उन्हें प्रणाम करते थे। वे लघुशंकादिसे निवृत्त होकर बाहर ही बैठ जाते और हम लोगोंसे बातें करते थे। हम लोग इसका ध्यान रखते थे कि उनके ध्यान-भजनमें बाधा न पड़े। हम अपने मनके अनुसार उन्हें क्यों चलाना चाहें ?

भक्तके सामने प्रकट होनेके लिए भगवान्‌को कहींसे आना नहीं पड़ता। वे सर्वव्यापी हैं अतः वहीं प्रकट हो जाते हैं। आपके पास एक कमरा है। उसमें शून्याकाश है या नहीं ? उसमें बहुत-सी वस्तुएँ भरी हैं, वायु है, इसलिए यह पता नहीं लगता कि उसमें आकाश भी है। उसमें-से वस्तुएँ बाहर कर दो और यन्त्रसे उसकी वायु निकाल दो, तब उसमें जो शून्य है उसका पता लगेगा। शून्यको प्रकट करनेके लिए वायुको तथा पदार्थोंको निकालना पड़ता है। इसी प्रकार जब भगवान्‌को हृदयमें प्रकट करना होता है तब संसारकी वस्तुएँ जो हृदयमें भरी हैं उन्हें बाहर करना पड़ता है। वे हृदयसे हट जायँ, हृदय खाली हो जाय तो वहाँ पहलेसे विद्यमान भगवान् प्रकट हो जाते हैं। तुमने तो हृदयको कूड़ाघर बना रखा है, उसमें संसारका कूड़ा-कबाड़ा भर रखा है। उसमें भगवान् कैसे प्रकट हो सकते हैं ?

चढ़ै तौ चाखै प्रेम रस, गिरै तो चकनाचूर।

संसारके नाम-रूपमें गिरोगे तो चकनाचूर ही होगे। श्यामसुन्दरको वंशीसे गोपियोंको बड़ी ईर्ष्या थी। वंशी उन्हें सदा व्याकुल बनाये रखती थी। न धान कूटने दे, न घर लीपने दे, न रसोई बनाने दे, न अन्य कोई कार्य करने दे। एक दिन गोपियोंने उसे चुरा लिया और एकान्तमें ले जाकर पूछा—'सखी मुरलिके! तुझमें ऐसा क्या गुण है कि श्यामसुन्दर तुझसे इतना प्रेम करते हैं? तुझे कभी कक्षमें दबाते हैं, पेटमें लगाते हैं और कभी अधरामृत पिलाते हैं। शयनके समय भी तेरा त्याग नहीं करते। तुझे लेकर ही सोते हैं। तेरा जन्म तो वृक्षोंमें चाण्डाल बाँसके घर हुआ है। तेरा ग्रन्थिभेद भी नहीं हुआ कि तुझे हम ज्ञानी मान लें। तुझमें तो गाठें-ही-गाठें हैं। रसका तुझमें नाम नहीं; सर्वथा शुष्क है। तू पूर्ण भी नहीं है, छिद्रोंसे भरी है। तेरा मुख सुन्दर तो क्या होता, जला हुआ है। कोई सद्गुण हमें तुझमें दीखता नहीं। ऐसी तुझमें क्या विशेषता है जो मोहन तुझे इतना चाहते हैं?'

चेतन कहँ चेतन करन अति चेतन भगवान।

भगवान्का जिससे सम्बन्ध हो जाता है वह चेतन हो जाता है। नियम है कि यदि तुम जड़से प्रेम करोगे तो तुम्हें जड़ बनना पड़ेगा। परिच्छिन्न चेतनसे प्रेम करोगे तो परिच्छिन्न चेतन बनोगे। भगवान्से जिसका प्रेम है, भगवान् जिससे प्रेम करते हैं वह वंशी जड़ कैसे रह सकती हैं! वह तो उनकी ही चित् शक्ति है। अतः गोपियोंका प्रश्न वंशीने सुना और उनका उत्तर दिया।

वंशी बोली—'सखियों! आप सब ठीक कहती हैं कि मेरी न जाति उच्च है, न कुल। न मुझमें ज्ञान है, न रस। **ग्रन्थिला नीरसास्मि**—मुझमें गाठें-ही-गाठें हैं, छिद्रोंसे भरी हूँ और मुँहजली भी हूँ। पर लगता ऐसा है कि मुझमें न अपना प्राण है, न स्वर, न संगीत। मेरा हृदय खाली है। इसलिए श्यामसुन्दर उसमें

अपने प्राण, अपने स्वर, अपना संगीत अपनी इच्छानुसार भरते रहते हैं।'

जो हृदय पहलेसे ही भरा हो उसमें भगवान् अपना प्राण, अपना स्वर, अपना संगीत कैसे भर सकते हैं ? भगवान् तब प्रकट होते हैं जब अपना कुछ नहीं रह जाता, जब हृदय रिक्त होता है। अतः अपने हृदयको संसारकी वस्तुओंसे रिक्त करके भगवान्‌को पुकारो तो वे अवश्य आवेंगे।

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपिरुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥
(श्रीमद्भागवत ४.२२.३९)

'जिनके चरणकमलमें लगी हुई भक्तिके द्वारा सन्तजन अपने हृदयकी गाँठको खोल देते हैं और जिनकी भक्तिसे रहित बुद्धिवाले योगी उस प्रकार अपनी हृदय-ग्रन्थि खोल नहीं पाते, भले वे प्राणायामादिसे प्राण एवं इन्द्रियादिका निरोध कर लेते हों, उस परम रक्षक भगवान् वासुदेवका भजन करो।'

'यति लोग अपना हृदय भी रिक्त करते हैं और कीर्तन भी करते हैं, इतनेपर भी उन्हें भगवान् नहीं मिलते। ऐसा क्यों ?'

कीर्तन करनेपर भी भगवान् नहीं प्रकट होते तो कहीं-न-कहीं अपराध हो रहा है। अपराध—'अपगता राधा यस्मात् स अपराधः'—जिसमें-से राधा चली गयी हैं वह अपराध है।

'चैतन्यचन्द्रोदय' नामक ग्रन्थमें एक कथा आयी है। एक दिन श्यामसुन्दरने अपने सखाओंको एकत्र करके उनसे सलाह की। गोपियाँ उन दिनों वनमें पुष्प-चयन करने आती थीं। श्रीकृष्णकी सम्मतिके अनुसार गोप-बालकोंने जब गोपियाँ पुष्प-चयन करने आयीं तो उन्हें घेर लिया। एकने पूछा—'तुम सब पुष्प क्यों चुनती हो ?'

गोपी—'पशुपतिकी आराधनाके लिए।'

गोपकुमार—'हमारा सखा यह नन्दनन्दन इतने पशुओंका स्वामी यह क्या पशुपति नहीं है? तुम इसकी आराधना छोड़कर दूसरे पशुपतिकी आराधना क्यों करती हो?'

ललिता बोली—'तुम लोग ऐसा क्यों नहीं कहते कि यस्येते वयं पशवः—जिसके इतने सारे हम लोग पशु हैं?'

सखी—'ठीक सखी! हम सब पशु बननेको बुरा नहीं मानते। तुम हमारे सखाको पशुपति मानकर इसकी पूजा करो।'

गोपियाँ—देखो! अधिक तंग मत करो। हमको भगवान् शिवका पूजन करना है।

गोपकुमार—'तुम सब अपराधिनी हो।'

गोपियाँ—'यह कैसे?'

गोपबालक—'हमारे वनमें हमारी अनुमतिके बिना पुष्प तोड़ती हो।'

गोपियाँ—'वन तो न तुम्हारा, न तुम्हारे सखा कृष्णका और न उनके बाबाका। वन तो हमारी श्रीराधारानीका है।'

सखा—'तुम पुष्प भी तोड़ती हो और अपराध भी करती हो?'

गोपियाँ—'यह तो तुम लोग स्वयं निर्णय कर लो कि अपराध तुम्हारे पक्षमें है या हमारे पक्षमें।'

सखा—'इसका क्या अर्थ?'

गोपियाँ—'अपगता राधा यस्मात् स अपराधः और श्रीराधा तो हमारे पक्षमें हैं।'

तात्पर्य यह है कि आराधनाका भाव हृदयमें हो, आराधनामयी श्रीराधा हृदयमें हों तब भगवान्‌को पुकारो।

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥

(श्रीमद्भाग० २.३.२४)

'यदि भगवान्‌का नाम लेनेपर हृदय द्रवित नहीं होता, नेत्रोंमें अश्रु नहीं आते, शरीरमें रोमाञ्च नहीं हो जाता तो वह हृदय निश्चय वज्रसारसे बना है।'

तुम्हें पुत्र-पुत्री, स्त्री-परिवार, धन-भवन मान-पदके लिए तो रोना आता है किन्तु भगवान्‌के लिए तुम्हारे नेत्रोंसे दो बूँद आंसू नहीं गिरते यही तुम्हारा जीवन है! जिसके हृदयमें भगवत्प्राप्तिके लिए व्याकुलता नहीं है, उसका हृदय अवश्य कहीं-न-कहीं संसारमें फँसा है। इस संसारासक्तिको दूर करनेका उपाय भी कीर्तन ही है। उच्चस्वरसे भगवान्‌के गुण, नाम गाओ।

गजराजने आर्तभावसे भगवान्‌को जब 'गोविन्द!' कहकर पुकारा तो भगवान्‌ने 'गो' वैकुण्ठमें सुना और 'विन्द' मार्गमें। द्रौपदीने कौरवोंकी सभामें दुःशासन द्वारा साड़ी खींचे जाते समय पुकारा और भगवान् द्वारकासे दौड़े आये। भगवान्‌के आविर्भावका हेतु यह कीर्तन ही है।

इन्हीं नेत्रोंसे भगवान्‌का दर्शन होता है, इसपर विश्वास करें! जो वस्तु मनके द्वारा भीतर दीख सकती है वह नेत्रोंसे बाहर भी दीख सकती है; क्योंकि नेत्रोंसे बाहर भी मन ही देखता है। अतएव जिस संस्कारसे संस्कृत मन भीतर देखता है उसी संस्कारसे संस्कृत मन बाहर भी देख सकता है। मनमें भगवान् भर गये तो वे बाहर जीवनमें भी भर जाते हैं और नेत्रोंसे दीखते हैं—दर्शन देते हैं।

तुम संसारके रूप, गुण, माधुर्यको पाकर उसमें कहीं उलझ गये हो इसलिए तुम्हें अपना गन्तव्य भूल गया है। जो भक्त है उसके जीवनमें प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, क्योंकि जो भगवान् का हो गया, जिसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि हम भगवान्‌के हैं उसका हाथ तो भगवान्‌ने पकड़ लिया। अब उसकी रक्षाका दायित्व भगवान्‌पर है।

प्राचीन समयमें जब कोई कन्या किसी वीर नरेशको समाचार दे देती थी कि 'मैंने मनसे आपको वरण कर लिया' तब उस कन्याको कोई हरण न करे, उसका पिता भी दूसरेसे उसका विवाह न कर दे, यह सब उत्तरदायित्व उस नरेशका हो जाता था। कन्या तो समाचार देकर निश्चिन्त हो जाती थी। अब चाहे जिससे युद्ध करना पड़े; किन्तु उसे अपने यहाँ ले जानेका दायित्व नरेशपर होता था। श्रीरुक्मिणीजीने श्रीकृष्णको सन्देश भेजा था—

मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आराद्
गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष ।

(श्रीमद्भाग० १०.५२.३९)

'कमललोचन! मैं अब तुम्हारा भाग हूं। इसे शिशुपाल छूने न पावे। जैसे सिंहके शिकार को समीप छिपे होनेपर भी शृगाल छू नहीं पाते।'

भक्त जब भगवान्‌का हो गया तब ऐसा कौन-सा विघ्न है जो उसको भगवान्‌से मिलनेमें बाधा डाले? भक्तको प्रारब्ध बाधा डाल नहीं सकता और एक बार अपनेको भगवान्‌को समर्पित कर देनेके पश्चात् भगवदपराध भी नहीं होता। छोटा बच्चा पिताकी मूछें खींचता है तो वह क्या पिताका अपराध करता है? पिता क्या कह देगा कि यह मेरा पुत्र नहीं है? संसारमें पुत्र कितना-कितना अपराध करते हैं किन्तु पिता कभी कहता है कि तुम मेरे पुत्र नहीं हो? पिताकी ममता पुत्रके प्रति बनी ही रहती है।

अहमदाबादके एक सज्जनके पुत्रको चोरी करनेका स्वभाव पड़ गया। जब वे पुत्रको समझा नहीं सके तो घरसे निकाल दिया। लड़केने बम्बई आकर चोरी की और पकड़ा गया। समाचार पाकर पिता दौड़े आये। कहते थे—'कुछ भी हो, पुत्र तो मेरा ही है।' वर्ष-डेढ़-वर्ष मुकदमा चला और वे पुत्रको बचानेके लिए दौड़ते रहे।

जब संसारी पुरुष अपने पुत्रसे इतना प्रेम करते हैं कि अपने चोर, व्यभिचारी पुत्रको पतित होनेपर भी नहीं त्यागते तो भगवान् तो करुणावरुणालय हैं।

साहब होत सरोष सेवकके अपराध सुनि।
अपने देखे दोष, राम न सपनेहु उर धरे॥

एकबार जो भगवान्का हो गया उसने यदि भगवान्को गाली भी दी तो उसे भगवान् प्रेम ही मानते हैं। भक्त कोई अपराध किसीका कर दे तो उसके लिए भगवान् क्षमा माँगते हैं। यह भगवान्का शील है।

ऐसी अवस्थामें भक्त कीर्त्तन करता है तो भगवान् प्रकट क्यों नहीं होते? जब कि कहा गया है कि कीर्त्तन करनेपर 'शीघ्र-मेवाविर्भवति।'

भगवान्के मनमें रहता है कि भक्तके मनमें जो प्रेम छिपा है वह प्रकट हो जाय। भगवान् प्रकट होनेमें न तो प्रारब्धका विघ्न मानते हैं, न भक्तका कोई अपराध देखते हैं। वे तो भक्तमें व्याकुलता जाग्रत करनेके लिए छिपे रहते हैं। यह भगवान्की लीला है।

भक्तके जीवनमें यदि कोई प्रतिबन्ध आता है तो वह पाप पुण्यरूप इस जन्मके किसी कर्मसे अथवा प्रारब्धके दोषसे नहीं आता, भगवदपराध अथवा वैराग्यके अभावसे भी नहीं आता। वह प्रतिबन्ध भी भगवान्की लीलासे ही आता है। इसमें भी भगवान्की अनुकम्पा ही समझनी चाहिए। जैसे रासलीलामें गोपियोंके बीचसे अन्तर्धान हो गये। प्रकट हुए तो गोपियोंके पूछनेपर उन्हें बताया—

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥

(श्रीमद्भाग० १०.३२.२०)

'सखियो ! जो प्राणी मेरा भजन करते हैं उनसे मैं अपना प्रेम इसलिए प्रकट नहीं करता कि उनकी प्रीति अधिक बढ़े। जैसे किसी निर्धनको धन मिले और फिर नष्ट हो जाय तो वह धनकी चिन्तामें सब कुछ भूल जाता है।'

भगवान्के गुण, कर्म तथा नामका, उनके स्वरूपका संकीर्तन होता है। हम जब प्रवचनमें कहते हैं—अपूर्वमनन्तरमबाह्यम-निर्देश्यम् तब यह भगवान्के तत्त्वका—स्वरूपका कीर्तन होता है, और जब कहते हैं—'भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परमदयालु हैं' तब गुणका कीर्तन होता है। इसी प्रकार—'कोटिकन्दर्पदलन, सौन्दर्य-माधुर्य-निधान' यह रूपका कीर्तन हुआ। माहात्म्य-कीर्तन है—जाके रोम कोटि ब्रह्मण्डा।

नामकीर्तन इन सबमें अधिक महत्त्वपूर्ण है। नाम प्रारम्भसे काम करता है। जैसे किसी वैद्यकी दवा विरेचनसे प्रारम्भ होती है। पहले पेटको स्वच्छ करके जो रोग दूर करे वही मौलिक दवा है। रोग-लक्षणको दबा देना ठीक दवा नहीं है। इस प्रकार नाम भवरोगकी मौलिक दवा है। जीव संसारमें पापके कारण फँसा है। अतएव जो साधन पापको दूर करनेसे प्रारम्भ हो वही मौलिक साधन कहा जायगा। नाम-संकीर्तनके सम्बन्धमें कहा गया है—

वज्रं पापमहीभृतां भवद्वन्द्वोद्रेकस्य सिद्धौषधम्।
मिथ्याज्ञाननिशाविशालतमसा तिग्मांशुबिम्बोदयः॥

(पण्डितराज जगन्नाथ)

'भगवन्नाम-संकीर्तन पापरूपी पर्वतोंको चूर्ण-विचूर्ण करनेमें वज्रके समान है, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि संसारके द्वन्द्वोंके उभाड़को दूर करनेवाली सिद्धौषधि है और अज्ञानरूपी रात्रिके प्रगाढ़ अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यके उदयके समान है।'

संकीर्तन करनेकी तीन पद्धतियाँ है—

१. व्यासगद्दीपर बैठकर, ग्रन्थ सामने रखकर भगवान्के गुण, नाम, लीला, माहात्म्यका वर्णन—प्रवचन व्यास-पद्धति है।

२. खड़े होकर या बैठकर, बाजोंके साथ, राग-तालसहित संगीतका ध्यान रखते हुए कीर्तन करना कीर्तनकी नारदीय-पद्धति है।

३. उछल-कूद करते हुए कीर्तन करना हनुमदीय-पद्धति है।

कीर्तन चाहे व्यास-पद्धतिसे करें, चाहे नारदीय अथवा हनुमदीय-पद्धतिसे, कीर्तन करनेसे पहले सब पाप नष्ट हो जाते हैं। पाप नष्ट हो जानेकी पहचान यह है कि भगवान् स्मरण आने लगते हैं। जैसे तुम्हें धनकी, स्त्री-पुत्रकी स्मृति आती है, वैसे भगवान्का स्मरण होने लगे तो समझ लो कि कीर्तनने विरेचनका काम पूरा कर दिया।

जब हृदयमें बार-बार भगवान्का स्मरण होता है तब बाहर भी भाव बनता है। मयूर नृत्य करता दीखा तो भगवान्का स्मरण हो गया। पुष्प खिला दीखा तो भगवान्का सौन्दर्य स्मरण आ गया। अथवा पुष्प देखकर लगा—यह भगवान्के लिए किसी भक्तका हृदय खिला है। जब ऐसे भगवत्सम्बन्धी भावोंका उदय होने लगता है तब कभी-कभी ध्यान लग जाता है। बैठे-बैठे शरीर अचल हो जाता है। नेत्र बन्द होनेपर भगवान् ऐसे ही दीखते हैं जैसे प्रत्यक्ष दीख रहे हों। जैसे कथामें बैठे आप मुझे देख रहे हैं ऐसे ही हृदयमें भगवान् प्रत्यक्ष दीखें, तब समझना कि ध्यान हुआ। वहाँ भगवान् खायें, चलें, बात करें। यह शंका न हो कि यह ध्यानका विषय है।

योगदर्शनमें आया है—**दर्शनसमानाकारवृत्तिर्ध्यानम्**। जैसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं वैसे ही हृदयमें देखें तो उसे ध्यान कहते हैं। फिर ध्यानका संस्कार ऐसा प्रगाढ़ हो जाता है कि स्वप्न भी उसीके अनुसार आते हैं। यह साधनाका क्रम है—भावदर्शन,

ध्यानदर्शन, स्वप्नदर्शन। भक्त अपने स्वप्न किसीको बतलाते नहीं। तुम्हें जो अद्भुत अनुभव होते हैं उन्हें पचा लोगे तो पचकर वह अधिक उत्तम रस बनेगा और यदि बोलकर प्रकट कर दोगे तो उसकी प्रगाढ़ता शिथिल हो जायगी।

इसके पश्चात् प्रत्यक्ष दर्शन होता है। किसीको यह नहीं समझना चाहिए कि स्वप्नमें भगवान् नहीं दीखे तो उनका प्रत्यक्ष-दर्शन नहीं होगा, क्योंकि जिन्हें छोटे-छोटे स्वप्न आते हैं उन्हें साधनका थोड़ा-थोड़ा फल उन स्वप्नोंके रूपमें मिलता रहता है; किन्तु जिन्हें बहुत दिनोंतक कोई स्वप्न नहीं आता या अन्य कोई अनुभव नहीं होता उसके साधनकी शक्ति एकत्र रहती है। एक दिन वह जाग्रत्में चमत्कार उत्पन्न कर देती है। अतः नाम-संकीर्तन स्मरण, ध्यान करते समय यदि अपना भाव पक्का रहता है और फिर भी स्वप्नदर्शन नहीं होता तो समझना चाहिए कि यह कोई भगवान्‌का खेल है अथवा कोई प्रतिबन्धक है। वह पूरा हो लेगा तो दर्शन होंगे।

जिसने जीवनमें कभी एक बार भी भगवान्‌का नाम लिया है उसे एक न एक दिन भगवत्प्राप्ति अवश्य होगी। एक न एक दिन उसका नाम लेकर भगवान् उसे अवश्य पुकारेंगे। भगवान्‌का एक दिनका पुकारना व्यर्थ नहीं जायगा। भले उसे नरककी अग्निमें अपने सब पाप जलाने पड़ें और तब भगवान्‌के पास जाना हो; किन्तु उसे भगवान्‌के पास तो जाना ही पड़ेगा।

कोई-कोई संत ऐसे होते हैं कि वे सदा एक स्थानपर नहीं रहना चाहते। उन्हें विचरण करना प्रिय होता है। एक स्थानपर रहनेसे उस स्थान तथा वहाँके लोगोंके प्रति आसक्ति होनेकी सम्भावना रहती है। इससे वे विचरण करते रहना पसन्द करते हैं। तीन बातोंमें उनका समय व्यतीत होता है—

१. भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेमें।

२. भगवान्‌की सेवामें ।

३. परस्पर भगवद्‌गुण-कीर्तनमें ।

'कीर्त संशब्दने'—कीर्तन शब्द उच्चस्वरसे शब्द करने, गायनके अर्थमें है ! अकेले कीर्तन किया जा सकता है किन्तु संकीर्तन अकेले नहीं होता ।

संघ भूय कीर्तनं संकीर्तनम्—बहुत लोग एकत्र होकर कीर्तन करें तो उसका नाम संकीर्तन होता है। भगवान्‌के नाम, गुण, लीलाका भलीभाँति गायन कीर्तन है । उस कीर्तनमें तन्मय होकर जब भावसे मन पूर्ण हो जाता है तब बाहर इन्हीं नेत्रोंसे भगवान्‌के दर्शन होने लगते हैं ।

जबतक संसारमें किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा क्रियासे आशा रहती है, या अपने अहंकारका बल रहता है, तबतक भगवान् प्रकट नहीं होते । अन्याश्रयके परित्यागमें भगवान् प्रकट होते हैं। भगवान्‌से भिन्न वस्तुओं, अन्य व्यक्तियों (मनुष्यों-देवताओं) तथा अपनी क्रिया (वे अन्तरंग हों या बहिरंग) तथा अहंकारके आश्रयका त्याग आवश्यक है। यह बात पहले ही 'अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता' के द्वारा कही गयी है ।

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥
पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥

(श्रीमद्भाग० ३.२५.३४-३५)

भगवान् कपिल माता देवहूतिसे कह रहे हैं—'कुछ ऐसे भक्त होते हैं कि वे मुझसे एक हो जाना—सायुज्य नहीं चाहते । वे मेरी आज्ञाका पालन करते हैं, मेरी चरण-सेवामें लगे रहते हैं और परस्पर मिलकर मेरे चरितोंका-माहात्म्यका कीर्तन करते हैं। माता ! मेरी चर्चामें प्रेम-मग्न ये भक्त मेरे मनोहर, अनुरागपूर्ण

नेत्रोंवाले प्रसन्नवदन दिव्यरूपोंका दर्शन करते हैं। उन रूपोंसे मैं उन्हें वरदान देता हूँ। मेरे साथ वे इस प्रकार बातचीत करते हैं जिसकी स्पृहा सभीको होती है।'

भगवद्दर्शनमें भी कई स्तर हैं—

१. भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन हो जाय; किन्तु केवल झाँकी देकर वे अदृश्य हो जायँ!

२. भगवान्‌का दर्शन हो और वे कुछ देर सम्मुख रहें, थोड़ा नृत्य करें, चलें।

३. दर्शन देकर भगवान् बात करें तथा वरदान दें।

४. भगवान्‌के दर्शनके साथ उनकी लीलाका दर्शन हो, उनके पार्षद परिकर भी साथ मिलकर कोई लीला करते हों।

५. भगवान्‌की लीलाका दर्शन तो हो; किन्तु तटस्थ दर्शक न रहकर भक्त उस लीलामें स्वयं भी सम्मिलित हो जाय।

नरसी मेहताको रासलीलाके दर्शन हुए थे। किन्तु लीला-दर्शन होनेपर भी यह बात रहती है कि तुम्हें उस लीलामें कोई सेवा करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ या नहीं? तुम सखी बनकर उसमें प्रवेश कर सके या नहीं?

सेवाका अवसर सबको नहीं प्राप्त होता और सेवाका अवसर प्राप्त होनेपर भी स्वयं लीलामें सम्मिलित होना कठिन रहता है। जो लीलामें सम्मिलित हैं उनमें भी कुछ ही युगल-सरकारकी नित्य निकुञ्ज-लीलाके दर्शनके अधिकारी होते हैं।

कीर्तनसे प्रारम्भ करो। हम उच्च उधिकारी हैं, हम बड़े भक्त हैं, हमको बड़ा साधन करना चाहिए, इस अभिमानमें मत आओ। कुछ लोग ऐसा मान लेते हैं कि हम श्रेष्ठतम अधिकारी हैं, अतः श्रेष्ठतम साधन करेंगे। फल यह होता है कि साधनमात्रसे वे वञ्चित रह जाते हैं।

'हमारे मल है तो क्या हुआ ? विक्षेप है चित्तमें तो उससे क्या बिगड़ता है ? वासना हृदयमें है तो रहे; किन्तु हम तो उच्च साधन ही करेंगे।' इस प्रकार अपने अधिकारके सम्बन्धमें श्रेष्ठताका अभिमान करोगे तो साधन-पथसे गिर जाओगे। यदि सबसे नीचेके सुगमतम साधनका सहारा लेकर उठना चाहोगे तो शीघ्र उससे ऊपर उठ जाओगे। भगवन्नाम-संकीर्तन सम्पूर्ण साधनोंकी आधार-शिला है, यह मत भूलो।

'अनुभावयति च भक्तान्'—भगवान् अनेक बार हमें सावधान करते हैं कि 'यह काम मत करो!' अपने भूखे भक्तको भोजन तथा प्यासे भक्तको वे स्वयं जल दे जाते हैं। मार्गमें भूलेको वे मार्ग दिखला-बतला जाते हैं। भक्त कोकिल साईं एक बार व्रजके द्विविद-वनमें मार्ग भूल गये। यह स्थान प्रेम-सरोवरसे वामपार्श्वमें पड़ता है। रात्रिका समय और वनमें एकाकी। मनमें आया कि 'भगवान् ही मार्ग बतलावें तो वनसे निकलना हो।' अचानक एक मयूर सामने आकर नृत्य करने लगा। बड़ा आश्चर्य हुआ—रात्रिमें मयूर नृत्य करे! कुछ देरमें वह एक ओर चल पड़ा। उसके पीछे-पीछे साईं चल पड़े। मयूर उन्हें ठीक बरसानेतक ले आया और तब वनमें चला गया। इस प्रकार भगवान् अनेक बार भक्तोंको अपना अनुभव कराते रहते हैं।

●

भक्ति ही श्रेष्ठ है

● संगति

प्रकरणका उपसंहार करते हुए मानो शपथपूर्वक देवर्षि नारद भक्तिके श्रेष्ठत्वको सूचित करते हैं।

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ॥८१॥

त्रिसत्य (तीनों कालोंमें सत्य स्वरूपसे विद्यमान) भगवान्‌की भक्ति ही श्रेष्ठ है ! भक्ति ही महान् है ॥ ८१ ॥

'अतिशयेन गुरुः गरीयसी'—अत्यन्त महान्, परमगुरु होनेसे भक्तिको गरीयसी कहा गया; क्योंकि भक्तको भक्ति स्वयं ही शिक्षा दे लेती है। जैसे-जैसे प्रेम बढ़ता जायगा वैसे-वैसे सेवा करना स्वतः आता जायगा।

पहले श्रीबिहारीजीके मन्दिरमें शीतकालकी रात्रिमें भीतर अग्नि नहीं रखी जाती थी। एक दिन एक भक्तको अनुभव हुआ कि 'श्रीबिहारीजीको ठण्ढ लगती है।' शीतकालमें मन्दिरके भीतर रात्रिमें अँगीठी रखी जानी चाहिए।' श्रीबिहारीजीके समीप अग्नि होनी चाहिए, यह मनकी प्रीतिने सिखलाया। मनकी प्रीतिने ही यह सिखलाया कि 'शरत्पूर्णिमासे वसन्तपञ्चमीतक पुष्पहार मत चढ़ाओ। पुष्पोंका शीतल स्पर्श शीतकालमें सुखद नहीं होगा।' प्रीति न सिखलाती तो पूजनके विधानोंमें तो पुष्प तथा पुष्पहार अर्पित करना ही बतलाया गया है।

भक्त जब भक्ति करता है तब प्रियतमकी अनुकूलता-प्रतिकूलता किस वस्तुमें, किस क्रियामें, कैसे होती है; इसका ध्यान उसे स्वतः आ जाता है।

किसीने श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे पूछा—'भक्ति बड़ी है या ज्ञान ?'

श्रीमहाराजने कहा—'बड़ी तो भक्ति ही है।'

उसने पूछा—'और ज्ञान ?'

बाबा—'ज्ञानमें कुछ छोटा-बड़ा नहीं होता। जिसकी भक्ति की जाती है वह बड़ा है। अतः भक्ति बड़ी हुई।'

देवर्षि नारद 'त्रिसत्यस्य' के द्वारा मानो शपथपूर्वक कहते हैं कि मैं तीन बार सत्य कहता, सत्य कहता, सत्य कहता हूँ कि धर्म, योग और ज्ञान ये जो सत्यकी प्राप्तिके तीन सत्यरूप साधन हैं, इन तीनोंसे भक्ति ही श्रेष्ठ है।

भक्ति जीवको मूलसे ही उठाकर भगवान्‌के समीप पहुँचा देती है। कोई गन्दी नालीमें पड़ा हो, उधरसे कोई आचारनिष्ठ धर्मात्मा निकले तो भले उसमें उस गिरे व्यक्तिको उठा देनेकी शक्ति हो, उसके मनमें आवेगा— मैं इस गन्दी नालीमें पड़े अपवित्र व्यक्तिका स्पर्श कैसे करूँ! हाँ, यदि यह गङ्गास्नान करके पवित्र हो जाय तो मैं इसे भगवान्‌के मन्दिरमें ले जा सकता हूँ।' पाप तथा वासनाकी गन्दी नालीमें पड़े व्यक्तिको धर्म हाथ पकड़कर नहीं उठाता। योग तथा ज्ञान भी ऐसे ही हैं। अधिकारसम्पन्न व्यक्तिका ही वे उद्धार करते हैं। अधिकार-पतित, पापी प्राणीका उनसे कल्याण नहीं होता। पहले पवित्र होओ, स्नान करो—मल दूर करो और अपने को सजा-सवाँर लो, साधन-सम्पत्ति प्राप्त कर लो, तब योग या ज्ञान तुम्हें हाथ पकड़कर भगवान्‌के समीप ले जायँगे।

किन्तु भक्तिमाता गन्दी नालीमें पड़े, पापी-अनाचारी, दुखी व्यक्तिकी भी सहायता करती हैं। वे उसे स्वयं स्नान करातीं—उसके मलका अपहरण करके उसे स्वच्छ करती हैं। उसे वस्त्रालङ्कारसे—सद्‌गुणोंसे सज्जित करती हैं और तब उसे भगवान्‌की गोदमें देती हैं।

भक्ति माता हैं। प्रारम्भसे ही वे वासनाको, मनोराज्यको भगवान्‌से जोड़ती हैं। तुम 'त्वं' पदार्थं तथा 'तत्' पदार्थंका शोधन करने लगे तो भक्तिने उसमें सहायता की। जब ज्ञान हो गया, अविद्या मिट गयी तब भगवान्‌ने कहा—'यह हृदय तो रहने योग्य है।'

ईश्वरको प्राप्त करानेवाले तीन साधन हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। चौथा कोई उपाय ईश्वरकी प्राप्तिका नहीं है।

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(श्रीमद्भाग० ११.२०.६)

श्रीभगवान् कहते हैं—'मनुष्योंके कल्याणके लिए तीन साधन मैंने बतलाये हैं—ज्ञान, कर्म तथा भक्ति। इनके अतिरिक्त अन्य कोई साधन कहीं नहीं है।'

सत्यस्वरूप परमात्माको प्राप्त करानेवाले ये तीनों साधन सत्य हैं। इस 'त्रिसत्य' में भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है।

शरीरसे धर्माचरण करना कायिक सत्य, वाणीसे सत्य बोलना वाचिक सत्य और मनसे सत्यस्वरूप भगवान्‌का चिन्तन करना मानसिक सत्य है। इन कायिक, वाचिक एवं मानसिक तीनों सत्योंमें भक्ति—मानसिक सत्य ही श्रेष्ठ है—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यम्। (भागवत)

श्रीभारतेन्दु हरिश्चन्द्रने नारद-भक्ति-सूत्रकी अपनी व्याख्या 'तदीयसर्वस्व' में श्रीमद्भागवतके इस वचनके अनुसार त्रिसत्य' का यह अर्थ किया है कि जो तीनोंमें एक सत्य है वह परमात्मा त्रिसत्य है। सत्त्व-रज-तम इन तीनों गुणोंमें जो एक गुणातीत स्थित है, वह। ब्रह्मा-विष्णु-महेश इन तीनोंमें जो एक भगवत्तत्त्व है, वह। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें जो एक तुरीय रूपसे स्थित है, वह। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय अथवा ध्याता-ध्यान-ध्येयमें जो एक अखण्ड चिद्वस्तु है,

वह परमात्मा। भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालोंमें जो कालातीत-अकाल पुरुष है, वह त्रिसत्य है। उसकी भक्ति सबसे महान् है

किसीका किसीसे प्रेम हो और वह दूसरेसे पूछकर प्रियतमको पत्र लिखवाये, दूसरेकी भाषा-भाव लिखे तो क्या यह सत्य होगा ? अपने हृदयमें जो भाव, जो प्रीति है, उसे टूटे-फूटे शब्दोंमें भी लिखो तो वह सत्य है। भीतर जो महागुरु प्रेम है उसका उपदिष्ट भाव ही सच्चा है। तुम भजन गाते हो। यह भजन कैसे बना ? किसी भक्तके हृदयमें भक्ति जागी तब उसने यह बात भगवान्से कही होगी।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव।

जिसने यह प्रार्थना पहले बनायी उसे किसने सिखलाया ? लोकमें तो जो माता है वह पिता नहीं हो सकती, जो पिता है वह माता नहीं बन सकता। लोकमें तो माता दूसरी, पिता दूसरा होता है। भक्तके हृदयको भक्तिने ही तो उसे सिखलाया होगा कि भगवान् ही माता भी होंगे, पिता भी होंगे।

एक बच्चेसे मैंने पूछा—'तुम किसके पुत्र हो ?

बच्चेने कहा—'आपका।'

मैंने पूछा—'मैं तुम्हारी माता हूँ या पिता ?'

बच्चा चुप हो गया। तब मैंने उसे सिखलाया कि 'अब यदि मैं इस प्रकार पूछूँ तो कहना—दोनों।'

भक्तके हृदयमें बैठी भक्ति देवी यह सिखलाती हैं—'माता जैसा पुत्रपर वात्सल्य स्नेह रखती है और पिता जैसे पुत्रको अपना उत्तराधिकार देता है वैसे भगवान् भक्तपर माताके समान वात्सल्य स्नेह रखते हैं और पिताके समान उसे अपना समस्त वैभव देते हैं।'

तुम श्लोक तो बोलते हो किन्तु श्लोकको जिसने पहले कहा उस भक्तके हृदयसे जब तुम्हारे हृदयका भाव मिल जायगा तब

तुम्हारी प्रार्थना सच्ची होगी और तब उसे भगवान् अवश्य सुनेंगे। तुम जब दूसरेका भजन, दूसरेका श्लोक, दूसरेकी बात दुहराते हो तो इसलिए दुहराते हो कि वह बात तुम्हें पसन्द है। भक्तने प्रार्थना की—

हे स्वामी अनन्य अवलम्बन, हे मेरे जीवन-आधार।
तेरी दया अहैतुक पर, निर्भर कर आन पड़ा हूँ द्वार॥
जाऊँ कहाँ जगतमें तेरे सिवा न शरणद है कोई।
भटका परख चुका सबको, कुछ मिला न अपनी पत खोई॥

यह बात जिसके हृदयसे निकली है, उसके हृदयसे जब तुम्हारा हृदय मिल जायगा तब उसमें भगवान् प्रकट होंगे।

भक्तिः पुनाति मन्निष्ठाञ्श्वपाकानपि सम्भवात्।

भक्ति प्रारब्धको भी परिवर्तित कर देती है। 'सम्भवात्—जन्मतोऽपि'—जिनका प्रारब्ध इतना दूषित था कि उसके कारण उन्हें चाण्डाल कुलमें जन्म लेना पड़ा, उन्हें भी भक्ति पवित्र कर देती है।

जिसके चित्तमें सदा क्रोध रहता हो, वह कर्मसे चाण्डाल है। क्रोधी स्त्रीको चण्डी कहा जाता है। एक कथा है कि अयोध्यामें सरयूजीके समीप कुछ साधु बैठे थे। उन्होंने धूनी जला रखी थी। चिलम चढ़ी हुई थी। वहीं एक भंगी आया और सरयूजीमें स्नान करने लगा। इन साधुओंमें-से एक साधु बिगड़ा—'इसने हमारा घाट भ्रष्ट कर दिया!' आगसे जलता चैला खींचकर मार दिया।

भंगीने हाथ जोड़ा—'मुझसे भूल हुई। क्षमा करें!'

वहाँसे थोड़ी दूर जाकर वह भंगी फिर सरयूजीमें स्नान करने लगा। एक माहात्मा दूरसे यह घटना देख रहे थे। भंगीको दुबारा स्नान करते देख उन्हें कुतूहल हुआ। वे वहाँ आये और स्नान करके निकलनेपर भंगीसे पूछा—'तुमने दुबारा स्नान क्यों किया?'

भंगी—'मैं जन्मसे चाण्डाल हूँ। पूर्वजन्मके पापसे यह योनि प्राप्त हुई। अब भगवान्‌का नाम लेता हूँ। जिससे मेरा चाण्डालपना दबा रहे। उस महात्माके भीतर तो क्रोधरूपी चाण्डाल प्रकट हो गया था। उसने मेरा स्पर्श कर लिया। वह कहीं मेरे भीतर न आ जाय, इसलिए मैंने दुबारा स्नान किया है। तनका चाण्डाल होना उतना बुरा नहीं है, जितना मनका।'

लोग स्नान करके, रेशमी वस्त्र पहनकर पूजन करने, सन्ध्या करने, भोजन करने बैठते हैं और उस समय भी गाली बकते हैं, झूठ बोलते हैं। वे समझते हैं कि स्नान तथा पवित्र वस्त्र हमें पवित्र कर देगा। झूठ या क्रोधसे हमारी हानि नहीं होगी। मनुस्मृतिमें कहा गया है—

यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्।

'जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका पालन नहीं करेगा और केवल नियम—शौचाचार, सन्तोष, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधानका ही पालन करेगा उसका पतन होगा।'

जो अपने शरीरको ही धोवेगा, भीतरसे अपनेको नहीं धोवेगा, उसका पतन तो होगा ही। भक्ति मनुष्यके अन्तःकरणको पवित्र करती है।

'भक्ति प्रारब्धमें भी परिवर्तन कर देती है' इसका क्या अर्थ है? क्या चाण्डाल ब्राह्मण हो जायगा?

नहीं, चाण्डाल ब्राह्मण तो नहीं हो जायगा किन्तु ब्राह्मणको वेदाध्ययनसे जो फल प्राप्त होता है वह फल चाण्डाल चाण्डाल रहते हुए भक्तिसे ही प्राप्त कर लेगा।

पाप जन्म-जन्मके संस्कारोंके हैं। यह पाप भी दो प्रकारका शास्त्रोंने माना है—आर्द्र और शुष्क। जो बहुत पुराना पाप है उसे शुष्क पाप कहते हैं और जो तत्कालका किया पाप है वह आर्द्र पाप है। भक्ति दोनों प्रकारके पापोंको नष्ट कर देती है। जैसे

कपड़ेपर कोई पुराना धब्बा हो और कोई धब्बा अभी स्याही गिरनेसे पड़ा हो। ऐसे रसायन आते हैं जो दोनों प्रकारके धब्बे मिटा देते हैं। भक्ति ऐसा ही रसायन है जो चित्तपर जमे पुराने और नये दोनों प्रकारके मैलको, धब्बेको मिटा देती है। भक्तिसे लघु तथा गुरु—छोटे-बड़े सब पाप दूर हो जाते हैं।

कोई मनुष्य पाप नहीं करता, पुण्य करता है! पुण्यका संसर्ग भी मनुष्यको भगवान्‌से विमुख करता है। बहुत धर्म करते-करते मनुष्यके मनमें अभिमान आ जाता है। राजस्थानमें आचारकी प्रधानता है, सिन्धके लोगोंमें शौचाचार कम है, किन्तु भक्ति सिन्धके लोगोंमें अधिक दीखती है, राजस्थानके लोगोंमें कम।

धर्माचरण अधिक होनेसे भक्ति अधिक बढ़ती है, यह बात ठीक है; किन्तु जहाँ धर्माचरण मनमें अभिमान उत्पन्न करता है वहाँ भक्ति शिथिल हो जाती है।

एक सज्जन तिथि-क्रमसे लिखकर रखते थे—'आज हमने इतना दान किया।' कहा जाता है कि उन्होंने करोड़ोंका दान किया। इस दानका जो अभिमान उत्पन्न हुआ वह उन्हें भगवान्‌के सम्मुख झुकने नहीं देता था, वह मनमें भक्ति नहीं आने देता था। अतः पुण्याभिमान भक्तिका विघ्न है। भक्ति करनेमें लगो तो पुण्याभिमान भी मिट जाता है।

स्वर्णस्तेयी सुरापायी ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
महान्ति पातकान्याहुः तत्संसर्गश्च पञ्चमः॥

'स्वर्णकी चोरी करना, शराब पीना, गुरु (अपनेसे बड़े) की स्त्रीके साथ अनाचार, ब्राह्मणकी हत्या और इन चारोंमें-से किसीका साथ करना, ये पाँच महापाप हैं।'

दुःसंग स्वयं महापाप है। स्वयं भले शराब मत पियो किन्तु शराबीका साथ करो तो यह भी महापाप ही। जो अपना हृदय भगवान्‌की भक्तिमें लगाना चाहता है उसे इन महापापियोंके

संसर्गसे बचना चाहिए। इनका संसर्गदोष भी भक्ति दूर कर देती है।

भक्तको भगवदपराध तथा भक्तापराधसे भी बचना चाहिए। भगवान्‌के एक रूपकी उपासना करो और दूसरे रूपकी निन्दा करो तो यह भगवदपराध होगा। भक्तापराध भगवदपराधसे भी बड़ा होता है। उसे भगवान् भी क्षमा नहीं करते। दुर्वासा मुनिको भगवान्‌ने क्षमा नहीं दी। अपने पीछे दौड़ते चक्रसे रक्षा पानेके लिए उन्हें अम्बरीषकी ही शरणमें जाना पड़ा। इस प्रकारके सभी अपराधोंसे भक्ति बचाती रहती है। अपराध हो भी जाय तो भक्ति उसके दोषको दूर कर देती है।

'भक्तिरेव गरीयसी, भक्तिरेव गरीयसी'—'भक्ति ही श्रेष्ठ है! भक्ति ही श्रेष्ठ है!'—यह दो बार बातको अत्यन्त दृढ़ करनेके लिए कहा गया है।

भक्तिके विभिन्न भेद

● संगति

अब भक्तिके कितने रूप हैं—किस-किस रूपमें भक्ति होती है, यह बतला रहे हैं।

गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्ति-दास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवे-दनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्ये-कादशधा भवति ॥८२॥

एक होकर भी भक्ति १. गुणमाहात्म्यासक्ति, २. रूपासक्ति, ३. पूजासक्ति, ४. स्मरणासक्ति, ५. दास्यासक्ति, ६. सख्यासक्ति, ७. कान्तासक्ति, ८. वात्सल्यासक्ति, ९. आत्मनिवेदनासक्ति, १०. तन्मयतासक्ति और ११. परमविरहासक्ति, इन ग्यारह रूपोंकी होती है ॥८२॥

'एकादशधा' इसमें 'धा'का अर्थ है प्रकार। भक्ति तो एक ही है किन्तु उसके प्रकार ग्यारह होते हैं।

आप अपने मुहल्लेमें कई लोगोंको जानते होंगे। कुछ लोगोंको देखकर आपको प्रसन्नता भी होती होगी। यह जानना अथवा देख-कर प्रसन्न होना ही भक्ति नहीं है। हम तारोंमें कईको पहचानते हैं। चन्द्रमाको देखकर प्रसन्न भी होते हैं किन्तु उनके हम भक्त तो नहीं। किसी तारे या चन्द्रमाके प्र त हमारे मनमें यह तो नहीं आता कि 'यह मेरा है।'

किसीसे सम्बन्ध हो गया। 'यह मेरा है' ऐसा भाव बन गया। अब उसे देखे बिना, उससे मिले बिना रहा नहीं जाता। इसका नाम राग है। संसारमें यह होगा तो पतनका कारण होगा। संसारमें किसीको जानना, उसे देखकर प्रसन्न होना, उससे सम्बन्ध होना तथा उससे राग हो जाना, यह उत्तरोत्तर निकृष्ट है और इससे क्रम-क्रमसे मनुष्यका पतन ही हुआ है। संसारमें उत्तम तो यह है कि परिचय ही न हो। परिचय हो भी गया तो उसकी अच्छाई-बुराई नेत्रमें गड़े नहीं। किसीको देखकर प्रसन्नता होगी तो उससे बात करनेकी, उसे स्पर्श करनेकी इच्छा होगी। इसीका नाम राग है।

यही बात भगवान्‌के साथ हो तो क्रम-क्रमसे उन्नति होती है। भगवान्‌को हम जानने लगें—उनमें आस्था हो जाय। भगवान् हमें प्रिय लगने लगें, भगवान् हमारे हैं, यह सम्बन्धका भाव मनमें आ जाय। भगवान्‌से मिले बिना रहा न जाय। ये अवस्थाएँ उत्तरोत्तर उच्च हैं। पहले नाम-स्मरण होता है। तब भगवान्‌से सम्बन्ध जुड़ता है। फिर उनका दर्शन किये बिना रहा नहीं जाता। दर्शन होनेपर उनसे बातें करने, उनका स्पर्श करनेकी इच्छा होती है। अन्तमें भगवान्‌से तादात्म्य हो जाता है।

पहले संसारमें प्रगाढ़ मोह था। देहसे, संसारसे जैसा प्रगाढ़ मोह-तादात्म्य-अभिनिवेश है, ऐसा ही तादात्म्य भगवान्‌से हो जाय, इसीका नाम प्रेमा या परा भक्ति है।

हमारे चित्तमें जानकारी, प्रसन्नता, सम्बन्ध, राग और मोह तो रहे किन्तु इनका सम्बन्ध संसारसे न होकर भगवान्‌से हो।

बात तुम किससे करना चाहते हो? हड्डी-मांस-चर्मके पुतलेसे या भगवान्‌से? स्पर्श तुम किसका चाहते हो? मल-मूलके थैलेका या सच्चिदानन्दका?

इस सूत्रमें ग्यारह बार आसक्ति शब्दका प्रयोग है। जैसे धनासक्ति, पुत्रासक्ति, कान्तासक्ति, देहासक्ति संसारमें होती है, वैसी ही

आसक्ति भगवान्से हो, इसीको भक्ति कहते हैं। सबसे महान् ज्ञान है ईश्वरसे मोह हो जाना। सबसे बड़ी असंगता–अनासक्ति है ईश्वरमें आसक्ति हो जाना। ईश्वरमें आसक्ति हुई तो संसारकी आसक्ति अपने आप छूट गयी।

जो बात संसारमें बुरी मानी जाती है, अमंगलका कारण है, वही भगवान्से जुड़ जाय तो कल्याणकारी हो जाती है। भय संसारमें बुरा माना जाता है किन्तु कंसको श्रीकृष्णसे निरन्तर भय लगने लगा तो उसका उद्धार हो गया। क्रोध संसारमें 'पापका मूल' है किन्तु शिशुपालको कृष्णपर क्रोध आया तो वह श्रीकृष्णको प्राप्त हो गया। इस प्रकार अपनेमें जितने निकृष्ट भाव हैं वे भगवान्से जुड़ जायँ तो कल्याणके कारण बन जाते हैं।

संसारमें किसी वस्तुको अच्छी मानना भूल है। किसी वस्तुको या व्यक्तिको उत्तम मानोगे तो उसके मिलनेपर प्रसन्नता होगी। प्रसन्नता होनेपर राग होजायगा। राग प्रगाढ़ हुआ तो आसक्ति हो गयी। आसक्ति हुई तो उससे मोह हो गया। मोह हुआ तो बन्धनमें पड़ गये, उसके साथ। संसारमें आसक्ति–मोह होना बुरा है; किन्तु भगवान्में मोह हो जाय, यह तो सबसे उच्च स्थिति है। मोहका अर्थ है, उसीमें लीन–तन्मय हो जाना।

परमात्माको सगुण जान लेना, यह प्रारम्भ है। सगुण परमात्माको साकार जान लेना, यह उपासना के लिए आवश्यक है। परमात्माके साकार रूपोंमें-से एक रूपको अपना जान लेना, यह भक्तिका प्रारम्भ है। उस एक अपने समझे परमात्माके आकारमें आसक्ति–मोह हो जानेका नाम भक्ति है। इसी आसक्तिके ग्यारह भेद कहे गये हैं। ये ग्यारह भक्तिके भेद हैं।

भक्तिका स्वरूप यह है कि ब्रह्मके रूपमें जो सबसे छोटा, सबसे स्थूल होगा, वह हमारे लिए वाञ्छनीय है। ब्रह्मका जो सबसे बड़ा अपरिच्छिन्न रूप है वह भक्तिका आश्रय नहीं बनता।

भक्तिके लिए तो ब्रह्मका ऐसा रूप चाहिए जिससे हम मोह-आसक्ति कर सकें।

द्रष्टा-स्वरूप परमात्मा ब्रह्मका अध्यात्म रूप है। अपनेसे अन्य रूपमें परमात्मा ब्रह्मका अधिदेव रूप है। जब हम इस अधिभूत देहमें 'मैं' करके बैठे हैं तब परमात्मा भी अधिभूत बनकर आकर मिले, इसी स्थूल शरीरसे हम उसका आलिंगन कर सकें, यह भक्तिका श्रेष्ठ रूप होगा। क्योंकि भक्ति दृश्य-दर्शन है, अतएव जब अदृश्य परमात्माको दृश्य बनावे, उससे हमारे मनमें मोह हो, ऐसे ईश्वरको मिला दे तो भक्ति पूर्ण हुई। यद्यपि सिद्धि-दृष्टिसे तो सब पूर्ण ही है; किन्तु साधनाकी दृष्टिसे भक्तिका मार्ग अद्वैत ज्ञानसे उलटा है! सिद्धि-दृष्टिसे वह अपने स्वरूपमें ही स्थूल भी है, सूक्ष्म भी। यह अपना स्थूल शरीर भी साक्षात् ब्रह्म ही है।

सोवत जागत परे उताने। कह कबीर हम वही ठिकाने॥

गुणमाहात्म्यासक्ति—बाह्य नेत्रोंसे भगवान्‌का दर्शन कर लेना तो कठिन ही है, सामान्य साधकके लिए हृदयमें भी भगवान्‌के रूपका ध्यान करना कठिन होता है। मनमें ही जब भगवान्‌का रूप कठिनाईसे आता हो तो वह नेत्रोंके द्वारा बाहर दीखे, यह तो और भी कठिन है। इसलिए रूपासक्तिसे पूर्व गुणमाहात्म्यासक्तिका होना आवश्यक है। पहले भगवान्‌के गुण एवं उनकी महिमाके श्रवण-वर्णनमें चित्तको आसक्ति होनी चाहिए। उसे सुनने-सुनानेमें ऐसी आसक्ति हो कि खाना-पीना-निद्रा अर्थात् देह भूल जाय।

राजा परीक्षित गंगा किनारे शुकदेवजीसे श्रीमद्भागवत सुन रहे थे। उन्होंने अन्न-जल त्याग रखा था। तीन दिन कथा सुनते बीत चुके थे। चौथे दिन सायंकाल शुकदेवजीने कहा—राजन्! आपको बड़ा श्रम हुआ। चार दिनसे आपने जल तक नहीं लिया है। कुछ खा-पी लें, तनिक विश्राम कर लें!'

परीक्षितको तो दीख रहा था कि अब मृत्युके केवल तीन ही दिन शेष रह गये हैं। वे बोले—

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्॥
(श्रीमद्भाग० १०.१.१३)

'भगवान्! मुझे अनुभव है कि भूख-प्यास कितनी असह्य होती है। इस असह्य भूख-प्यासने ही मुझे इतना उन्मादी बना दिया था कि एक ध्यानस्थ ऋषिके गलेमें मैंने मरा सर्प डाल दिया; किन्तु मैंने जल तक छोड़ दिया है और वह भूख-प्यास मेरे समीप-तक नहीं फटक रही है; क्योंकि आपके चन्द्रमुखसे झरता यह जो भगवत-कथामृत है, मैं उसका पान कर रहा हूँ।'

इस प्रकार भगवत्कथामें इतनी आसक्ति हो कि शरीर विस्मृत हो जाय, जैसे जुआ खेलनेवाले जुएमें लगनेपर खाना-पीना भूल जाते हैं।

आदिराज पृथुके सामने भगवान् प्रकट हुए और उनसे वरदान माँगनेको कहा तो पृथुने माँगा—

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥
(श्रीमद्भाग० ४.२०.२४)

'स्वामी! मैं ऐसी किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता जहाँ आपके चरणकमलका मधु न प्राप्त होता हो। महापुरुषोंके हृदयमें जो आपके पादपद्मोंका रस भरा रहता है वह जब आपके गुणमाहात्म्य वर्णनके रूपमें उनके मुखसे झरे तो उसे श्रवण करनेके लिए मेरे दस हजार कान हो जायँ, ऐसा कर दीजिये, यह वरदान चाहता हूँ।'

जिनके स्रवन समुद्र समाना।
कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे।
तिनके हृदय सदन तव रूरे॥

श्रीहनुमान्‌जी भगवत्कथाके परम रसिक हैं—

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥

'वे राक्षस-दलन श्रीपवनकुमार जहाँ-जहाँ भगवत्कथा होती है वहाँ सिरसे अञ्जलि लगाये—हाथ जोड़े, नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भरे उपस्थित रहते हैं।'

कथाके रसिक परीक्षित हैं जो कहते हैं—'मुझे लेने मृत्यु आवे या तक्षक काटे; इसकी तनिक भी चिन्ता मुझे नहीं है। आप भगवान्‌की लीला-कथाका गान करें।'

गोपियोंने एक विचित्र बात कही है—'काले रंगवालोंसे मित्रता करना अनावश्यक है। भ्रमर, कोयल, कस्तूरी, कृष्ण—इनमें किसीसे प्रीति मत करो! काले सब दुःखदायी होते हैं। किन्तु उसकी कथा हमसे छोड़ी नहीं जा सकती। कथाका त्याग हम नहीं करेंगी।' गुणानुवादमें कितना गम्भीर प्रवेश है कि ठाकुरको तो छोड़नेको प्रस्तुत हैं; किन्तु गुणवर्णन छोड़नेको प्रस्तुत नहीं हैं।

रूप तो मिलनके पश्चात् हृदयमें आता है किन्तु गुण मिलनसे पूर्व ही हृदयमें आजाते हैं।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥

भगवान्‌के गुण ऐसे हैं कि आत्माराम, ग्रन्थिहीन मुनि भी उन गुणोंसे आकृष्ट होकर भगवान्‌की अहैतुकी—विना कारणके ही भक्ति करते हैं। वे मुनि हैं, मन उनका चञ्चल है नहीं कि मनकी स्थिरताके लिए भजन करें; आत्माराम हैं—बाहरसे उन्हें कुछ पाना नहीं, भक्ति, समाधि आदि कुछ उन्हें नहीं चाहिए क्योंकि उनका ग्रन्थि-भेद हो चुका है! भक्तिमें वह वे स्वयं नहीं फँसे, फँसाया उन्हें भगवान्‌के गुणने।

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्तः विधिषेधतः।
नैर्गुणस्थ रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥

शुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! विधि-निषेधसे परे और निर्गुणमें स्थित मुनिगण भी प्रायः श्रीहरिके गुणानुवादमें रमण करते हैं।'

भगवान्के गुणानुवादमें रँगे देवर्षि नारद तथा शुकदेवजीने अपने सम्बन्धमें कहा है—

गृहीतचेता राजर्षेराख्यानं यदधीतवान्।

'राजर्षि परीक्षित! उत्तमश्लोक श्रीकृष्णकी कथाने मेरे चित्तको पकड़ लिया, अतः मैंने यह श्रीमद्भागवत पढ़ा।'

इस प्रकार भगवान्की लीलाकथा, उनके गुण तथा माहात्म्यके श्रवण-कथनमें आसक्ति हो जाय, यह भक्ति है।

भजनमें जब रुचि होती है तब भजनीय भगवान्में आसक्ति होती है। जैसे किसीको कई दिनोंसे नमक या मीठा खानेको न मिला हो और बार-बार उसे खानेको मन करे, इसे रुचि कहते हैं। ऐसी रुचि भजन करनेमें होनी चाहिए।

भजन करने बैठे। हाथमें माला है, भगवान्का चित्र सामने है; किन्तु मन संसारमें चला गया। इसका अर्थ यह है कि आप प्रयत्न-पूर्वक भजन करना चाहते हैं; किन्तु आपके मनकी रुचि संसारमें है। जिसकी जहाँ रुचि होती है वह तनिक-सा अवसर मिलते ही वहाँ पहुँच जाता है। जैसे बच्चेकी रुचि खेलमें होती है। थोड़ा भी अवसर मिलता है तो वह घरसे निकलकर खेलनेमें लग जाता है। इसी प्रकार होना यह चाहिए कि हम करने तो बैठें संसारका काम, घरका या दफ्तरका काम, और मन बार-बार भगवान्में चला जाय। जब साधन-भजनके बिना ही मन उस प्रकार भगवान्के चिन्तनमें भागकर लग जाया करे, जैसे बच्चा भागकर खेलमें लग जाता है, तब समझना कि भगवान्में रुचि हुई। जब रुचि उत्पन्न हो जायगी तब स्मरण-चिन्तन-ध्यानमें आसक्ति होगी।

भगवान्में रुचि कैसे उत्पन्न हो ? उनके गुण-माहात्म्यका श्रवण-चिन्तन करो। भगवान् साकेत, गोलोक, वैकुण्ठमें रहते हैं और जीव नीचे संसारमें हैं। भगवान्ने सोचा कि 'जीव नीचेसे मेरे पास कैसे–किस सहारे आवेगा ?' अतः उन्होंने एक रस्सी जीवके सहारेके लिए फेंक दी। उस रस्सीका नाम गुण है। उसका आश्रय लेकर जीव भगवान्के समीप पहुँचता है।

रूपासक्ति—भगवान्के सौन्दर्यमें आसक्तिका हो जाना रूपासक्ति है। जब भगवान् प्रकट नहीं होते तब रूपासक्ति सर्वसाधारणके लिए नहीं होती।

देवर्षि नारदका मत है कि जब भगवान् पृथ्वीपर प्रकट रहते हैं, उस समय जो भगवान्के रूपासक्त भक्त होते हैं वे भी गुण-माहात्म्यज्ञानपूर्वक ही रूपासक्त होते हैं। गोपियोंके सम्बन्धमें नारदजीने कहा—**न तत्रापि माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः।**

प्रेममें माहात्म्य-ज्ञानकी विस्मृति कलंक है और वह कलंक गोपियोंके प्रेममें नहीं था।

जब गोपियोंको भी गुण-माहात्म्य-ज्ञानकी आवश्यकता है तब जिन्होंने श्रीराम या श्रीकृष्णको देखा नहीं है, वे रूपमें कैसे आसक्त हों ? इसका उत्तर यह है कि रूप भी एक गुण ही है। तेजरूप द्रव्यका गुण है रूप। जब हम सुनते हैं कि भगवान् निखिलसौन्दर्यधाम हैं तब श्रवण करनेसे उनका सौन्दर्य मनमें आता है और उनमें आसक्ति होती है। इस प्रकार गुणमाहात्म्यासक्ति रूपासक्तिको उत्पन्न करती है।

कुछ भक्त ऐसे होते हैं कि वे गुण-माहात्म्यासक्तिमें ही रहते हैं। वे रूपमें आसक्ति नहीं करते।

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥

(श्रीमद्भाग० ३।२।१२)

भगवान्‌ने अपनी योगमायाकी शक्ति प्रकट दिखलानेके लिए जो मनुष्यलीलाके अनुरूप अवतार-विग्रह धारण किया वह अपने सौन्दर्यसे भगवान्‌को भी विस्मयमें डालनेवाला है। अपना सौन्दर्य देखकर स्वयं श्रीकृष्ण चकित रह जाते थे। वह रूप तो सौन्दर्यकी पराकाष्ठा है। आभूषण ही उसके अंगकी शोभासे शोभा पाते हैं।

भगवान्‌ने अवतार तो अनेक लिये हैं किन्तु मत्स्यावतार स्फूर्तिमय है, कपिलका अवतार ज्ञानोपदेशके लिए है, कच्छपावतार धैर्यको मूर्त करनेके लिए, वाराहावतार बल-प्रदर्शनके लिए, नृसिंहावतार तेज व्यक्त करनेके लिए तथा वामनावतार ऐश्वर्य-शक्ति दिखलानेके लिए। इन अवतारोंमें रूप-सौन्दर्य प्रकट करना अनावश्यक था। जब भगवान् लोक-चित्त-नयनको आकर्षित करना चाहते हैं तब अपना कोटि-कन्दर्प-दर्प-दलन रूप प्रकट करते हैं।

श्रीकृष्णका वह सौन्दर्य गाय-बछड़े देखते हैं—'गावः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थुः'—गायोंने मुखमें घास ली और श्यामसुन्दरकी ओर देखा तो उसे खाना भूल गयीं। बछड़ोंने माताके थनमें मुख लगाया और दृष्टि मोहनके श्रीमुखपर गयी तो मुखका दूध बाहर बहने लगा। दूध पीनेका स्मरण ही नहीं रहा। यमुनाका बहाव रुक गया। मेघ मुग्ध हो गये। गौतम-कणाद आदि मुनि उस सौन्दर्य-राशिको देखनेके लिए पक्षी बनकर वृन्दावनमें रहने लगे।

अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्।

'गाय दुहते समय पैरमें बांधनेवाली रस्सी लपेटे, गलेमें बाँधनेवाली रस्सी लटकाये जब मयूरमुकुटी निकला तो चर-चेतन जड़के समान स्थिर, विमुग्ध रह गये और वृक्षोंको रोमाञ्च होने लगा।'

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री-
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः॥
(श्रीमद्भाग० १०.२९.३९)

गोपियाँ कहती हैं—'श्यामसुन्दर! यह तुम्हारा घुँघराली अलकोंसे घिरा श्रीमुख, यह कुण्डलकी शोभासे शोभित कपोल, ये अमृतपूर्ण अधर, यह मुसकानके साथ तुम्हारी चितवन, यह अभयदाता भुजदण्डयुगल और यह लक्ष्मीका निवासस्थान तुम्हारा विशाल वक्षःस्थल देखकर हम तुम्हारी दासियाँ हो गयी हैं।'

यह गुण-माहात्म्य ही ता है जो मैं वर्णन कर रहा हूँ और आप सब श्रवण-पठन कर रहे हैं; किन्तु इससे रूपासक्ति उत्पन्न होती है। श्रीरामको देखकर वनकी ग्रामीण स्त्रियाँ कहती हैं—

इन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछी।
तजहिं बिषम बिष तामस तीछी॥
कहहु सखी अस को तनुधारी।
जो न मोह यह रूप निहारी॥

श्रीराम जब सेतुके ऊपरसे समुद्र पार करने लगे उस समय—

देखन कहुँ प्रभु करुनाकन्दा। प्रकट भए बहु जलचर बृन्दा॥
तिनकी ओट न देखिय बारी। मगन भये हरि रूप निहारी॥

वे ऐसे मुग्ध हुए कि उनके शरीरपर चढ़कर बानर-भालु पार जाने लगे किन्तु उन्हें हिलने तककी सुधि नहीं रही।

अपर जलचरन ऊपर, चढ़ि इमि पारहि जाहिं।

महाराज जनकने जब सर्वप्रथम श्रीराम-लक्ष्मणको देखा तो अपनी अवस्था स्वयं कहते हैं—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥
सहज बिरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥

महाराज जनक तो ज्ञानी होनेपर भी प्रवृत्ति-परायण थे; निवृत्तिपरायण सनकादिने भी जब उन श्रीकौसल्यानन्दवर्धनको देखा तो कहने लगे—

यहि सुखकर लवलेस, जेहि बारेक सपनेहु लहेउ।
ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति ॥

श्रीरामका दूलह-स्वरूप देखकर तो ब्रह्मा, शिव, विष्णु आदि समस्त देवता—

हरि हित सहित राम जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे ॥

दूसरोंकी बात छोड़ दीजिये। खर-दूषण तो राक्षस थे, हिंसक स्वभावके थे और देव-द्विज तथा भगवान्‌से शत्रुता रखते थे। उनकी बहन शूर्पणखाकी नाक काट ली थी लक्ष्मणलालने श्रीरामके संकेतपर। नाकसे रक्तधारा गिराती बहन साथ आयी थी, सामने थी और श्रीरामको मारनेके लिए क्रोधमें भरे आये थे। किन्तु जैसे ही दृष्टि उस दूर्वादलश्याम श्रीरामपर पड़ी; बोले—

हम भरि जनम सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई ॥
जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ॥

यह रूपमहिमा जब हम सुनते हैं तब चित्तमें रूपके प्रति आसक्ति आती है। भगवान्‌का यह रूप पाञ्चभौतिक—मिट्टी, पानी, अग्नि आदिका विकार नहीं है। यह आधिदैविक रूप भी नहीं है। आधिदैविक रूप सात्त्विक तन्मात्रासे बनता है। वैसे ही आधिभौतिक रूप तामस तन्मात्रासे बनता है। हृदयमें जो मन तथा बुद्धिको प्रकाशित करनेवाला आध्यात्मिक चेतन तत्त्व है उन्हींका नाम राम है। वे ही परम सुन्दर हैं। यदि ऐसा कहो तो उनका भी जो सौन्दर्य है वह सात्त्विक तन्मात्राका ही है। यह प्रतीकात्मक रूप भी नहीं है।

भगवान्‌का यह जो साकार स्वरूप है, यह प्राकृत नहीं है। प्राकृत नहीं है तो सगुण ईश्वरका रूप होगा? अच्छा, तुम जिसे

सगुण कहते हो वह गुणवाला स्वयं सगुण हुआ या निर्गुण? गुण जिसका विशेषण होगा वह तो निर्गुण होगा। सगुण शब्द गुण-वाचक नहीं, गुणवालेका वाचक है। तब निर्गुण ब्रह्ममें गुण कहाँसे आया? यह जो भगवान्का रूप है, गुण है वह साक्षात् सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है। यह रूप भगवान्की आह्लादिनी शक्ति भी नहीं है। आह्लादस्वरूप भगवान् हैं। उनका सारसर्वस्व यह रूप है। इसमें जड़ताका लेश भी नहीं है। साक्षाद् घनीभूत परब्रह्म परमात्मा ही यह है। इस रूपमें जब आसक्ति होती है, तब—'दरस लागि लोचन ललचाने।'

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्ह-
वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम्।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्ति
गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः॥

(श्रीमद्भाग० १०.१५.४२)

'सायंकाल श्रीकृष्ण गोचारण करके लौट रहे हैं। आगे-आगे चलती गायोंके खुरोंसे उड़ी धूल उनकी अलकोंपर छायी है। सिरपर मयूरपिच्छ लहरा रहा है। वनके पुष्पोंसे सजे, मन्द-मन्द मुस्कराते हुए वे मनोहर ढंगसे देखते, वंशी बजाते आ रहे हैं। उनके सखा उनका गायन कर रहे हैं। इस शोभाके दर्शनकी प्यास गोपियोंके नेत्रोंमें जागी है, अतः वे चारों ओरसे मार्गपर आ गयी हैं।'

यह रूपासक्ति है कि उस रूपके देखे बिना चैन नहीं।

गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥

(श्रीमद्भाग० १०.१९.१६)

'गोपियोंको गोविन्दके दर्शनसे परमानन्द प्राप्त होता था और उन्हें देखे बिना एक क्षण भी सैकड़ों युगोंके समान लगता था।'

लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ये मुँहजोर तुरंग लौं, ऐंचतहू चलि जाहिं॥

नेत्रको रूपमें खींचना बुद्धिका गुण है। गुण-माहात्म्यासक्ति बुद्धिको आकृष्ट करती है और जब बुद्धि आकृष्ट हो जाती है तो वह नेत्रोंको भी वहीं खींच लेती है।

भक्तिका रूप है आसक्ति। वेदान्ती कहेगा कि 'हमें तो असंगता चाहिए। हमें अनासक्ति चाहिए।' यह जो आसक्तिके त्यागकी बात कही जाती है, इसे समझना चाहिए। आसक्ति कोई हमारी नौकरानी नहीं है कि हम आज्ञा देंगे और चली जायगी। ऐसी भूलभुलैयामें सच्चा साधक कभी नहीं पड़ता। इस प्रकारके भ्रममें तो संसारी लोग ही पड़ते हैं। वे आसक्तिसे दिन-रात दुःखी भी होते रहते हैं और मुखसे कहते भी रहते हैं—'हम असंग हैं।'

भोगासक्ति, कर्मासक्ति, संग्रहासक्ति, सम्बन्धासक्ति, विरहासक्ति—कोई आसक्ति तो छूटी नहीं और असंग बन गये। व्याख्यान देनेसे या स्वाध्याय करनेसे आसक्ति छूटा नहीं करती। जैसे हीरा हीरेसे ही कटता है वैसे आसक्ति आसक्तिसे ही कटती है। भगवान्‌से आसक्ति होती है तब संसारसे आसक्ति कटती है।

आपसमें सम सत्ता जिनकी। लख साधक बाधकता तिनकी॥

एक सेठजी एक महात्माके दर्शन करने गये। सेठने हाथ जोड़कर महात्माको प्रणाम किया तो महात्माने सेठको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। सेठजी बोले—'आपने यह क्या किया?'

महात्मा—'आपने मुझे क्यों प्रणाम किया?'

सेठ—'आप त्यागी महात्मा हैं। अतः हमारे जैसे संसारी प्राणियोंको आपके सामने झुकना ही चाहिए।'

महात्मा—'मुझसे बड़े त्यागी तो आप हैं।'

सेठ—'यह कैसे?'

महात्मा—'मैंने तो महान् भगवान्को पानेके लिए तुच्छ संसारका त्याग किया है; किन्तु आपने संसारके लिए भगवान्को छोड़ रखा है। अतः बड़ा त्याग तो आपका ही है।'

ऐसी असंगता—वैराग्य केवल बात बनानेसे नहीं आता।

बिना आलम्बनके कोई अपनेको संसारसे छुड़ा नहीं सकता। सच्ची असंगता है भगवान्से आसक्ति। भगवान्का रंग हृदयपर चढ़े तो संसारका संग छूटे। संसारकी घटनाएँ चित्तपर इतना प्रभाव क्यों डालती हैं? इसलिए कि नाम-रूपमें तुम्हारी आसक्ति है। इसके रहते असंगताकी बात झूठी है। इसलिए भगवान्में आसक्ति होनी चाहिए। उनके गुण-माहात्म्यमें आसक्ति हो तब उनके रूपके प्रति आसक्ति उत्पन्न होगी। भगवान्के नाम-रूपमें आसक्ति होगी तब संसारके नाम-रूपकी आसक्ति मिटेगी। भगवान्के रूपमें जब आनन्द आता है तब संसारके रूप फीके पड़ जाते हैं—

जिन आँखिन वह रूप बस्यो, उन आँखिन सों अब देखिये का।

× × ×

अवधेसके द्वारे सकारे गयी, सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच बिमोचनको, ठगिसी रही जे न ठगे धिकसे॥
तुलसी-मन-रंजन रंजित-अंजन नैन सुखंजन-जातकसे।
सजनी, ससि मैं समसील उभै नवनीलसरोरुहसे बिकसे॥

(कवितावली)

जो ईश्वरको नहीं मानेगा उसे शासकको मानना पड़ेगा। जो भगवान्के रूपमें आसक्ति नहीं करेगा वह लड़की-लड़केके रूपमें आसक्त होगा। मैंने एक वेदान्ती सज्जनको देखा है। वे कहते हैं—'न जन्म है, न मरण और और न ईश्वर है।' उनका 'गम गलत' होता है शराब पीनेसे। निष्ठा इतनी सच्ची होनी चाहिए कि उससे 'गम गलत' हो जाय। ऐसा नहीं तो तुम्हारा ज्ञान झूठा—तुम्हारी भक्ति झूठी। जब ज्वर आता है तब तुम 'हाय-हाय' करते

हो या 'हरि-हरि' करते हो ? भगवान्‌के नामसे तुम्हारा प्रेम नहीं होगा तो तुम 'हाय-हाय' करोगे ही। यह संसारासक्ति बहुत प्रबल है। यह ईश्वरके प्रति आसक्ति हुए बिना छूटती नहीं।

तुम्हारे चार रुपये खो जाते हैं या कोई तुम्हें गाली देता है तो तुम्हारे मनकी क्या दशा होती है ? प्रेमी वह है जिसे भोजन मत दो, गालियाँ दो या और कुछ करो; किन्तु—

लागी नाहीं छूटै राम, चाहे जिया जाय।

रूप तो संसारमें पहलेसे ही है और उससे आसक्ति करनेका तुम्हें अभ्यास भी है। बस, यह आसक्ति भगवान्‌के रूपसे करनी है।

लगा लगी लोयन करै, नाहक मन बँधि जाय।

श्रीरामानुजाचार्य उन दिनों श्रीरंगधाममें थे। एक दिन उन्होंने देखा कि एक वेश्या कहीं जा रही है और उसके आगे-आगे वेश्याकी ओर मुख करके, वेश्यापर छाता लगाये एक व्यक्ति पीछेकी ओर—उलटे चल रहा है। श्रीरामानुजाचार्यको उसपर बड़ी दया आयी। उन्होंने लोगोंसे पूछा तो पता लगा कि वह उस वेश्याका प्रेमी है। वेश्याके रूपको देखे बिना वह क्षण भर भी नहीं रह पाता। आचार्यके मनमें आया—'इसका ऐसा प्रेम कहीं भगवान्‌से होता ! ऐसी रूपासक्ति इसकी भगवान्‌के रूपमें होती !'

आचार्यने एक शिष्यको उसे बुलाने भेजा। आचार्यका सन्देश पाकर वह डर गया; किन्तु वेश्याने कहा—'महापुरुष बुलाते हैं तो जाना चाहिए। तुम्हारे नहीं जानेसे रुष्ट होकर वे शाप देकर हमारा-तुम्हारा वियोग करा सकते हैं। उनके समीप जानेसे कुछ भला ही होगा।'

गणिकाकी बात मानकर वह आचार्यके समीप गया। श्रीरामानुजाचार्यने उससे पूछा—'उस वेश्यामें ऐसा क्या है जो तुम उसपर इस प्रकार आसक्त हो ?'

उसने कहा—'वह अत्यन्त सुन्दर है। उससे अधिक सुन्दर संसारमें कोई नहीं है।'

आचार्य—'यदि उससे सुन्दर कोई तुम्हें मिल जाय ?'

वह बोला—'ऐसा सम्भव नहीं है। उससे सुन्दर कोई हो नहीं सकता।'

आचार्य—'अच्छा, आज आरतीके समय मन्दिरमें आना।'

उसके मनमें कुतूहल हो गया। आरतीके समय वह मन्दिरमें आया। उस समय भगवान्‌का दिव्य सौन्दर्य प्रकट हो गया। उस दिव्य रूपको देखते ही वह वेश्याका सौन्दर्य भूल गया। उसका नाम था धनुर्दास। आजीवन वह श्रीरामानुजाचार्यकी सेवामें रहा। यह रूपासक्ति है, जब उस रूपको देखे बिना रहा न जाय—**देख री देख अनिमेष या वेष कौं !**

पूजासक्ति—केवल उसे देखना ही नहीं, उसकी सेवा भी करना। पूजामें सम्मानका भाव अधिक होता है और सेवामें प्रेमकी मुख्यता होती है। रूपासक्ति होनेसे भगवान्‌का आविर्भाव होता है और तब सेवा प्राप्त होती है।

दरसनको नयना तपैं री, बचन सुनन कौं कान।
मिलिवे कौं हियरा तपै री, मेरे जियके जीवन प्रान॥

ऐसी व्याकुलता होनेपर वे दयामय आये बिना रह नहीं पाते। उनका जब हृदयमें आविर्भाव हो जाता है तब सेवा प्राप्त होती है।

पूजामें क्या होता है ? पाद्य अर्थात् चरण धोनेको जल देना। अर्घ्य—हाथ धुलाना। आचमन—कुल्ला कराना, मुख धुलाना। आसन देना बैठनेको। स्नान कराके वस्त्र तथा उपवस्त्र (दुपट्टा) देना। यज्ञोपवीत पहनाना। चन्दन, इत्र लगाना। आभूषण धारण कराना। उत्तम पुष्पमाला पहनाना तथा पुष्प-तुलसीदल चढ़ाना। वहाँ सुगन्ध करनेके लिए धूप जला देना। प्रकाश करनेके लिए दीप जला देना (दीपक जलाकर हाथ धो लेना चाहिए)।

तब नैवेद्य—भोजन अर्पण करना और फल खिलाना। फिर जल पिलाना, आचमन कराना। मुखवासके लिए ताम्बूल देना। इसके पश्चात् विश्राम कराना और स्वयं पाद-संवाहन करना। चमर डुलाना। कीर्तन-संगीत सुनाना। आरती करना। स्तुति करना। चरणोंपर पुष्पाञ्जलि चढ़ाना। यह पूजा है। इसमें लगे तो संसार भूल गया।

मनुष्य पूजा किये बिना रह नहीं सकता। ऐसा कोई मनुष्य नहीं हो सकता जो अपनेसे बड़ा किसीको न माने। जो ईश्वरको अपनेसे बड़ा मानकर उससे सम्बन्ध बनावेगा वह ईश्वरकी पूजा करेगा। यदि तुम ईश्वरकी पूजा नहीं करते तो तुम्हें संसारकी पूजा करनी पड़ेगी। जिनको और कोई पूजा नहीं करनी रहती वे अपने शरीरकी ही सेवा-पूजा करते रहते हैं। स्नान, श्रृंगार, व्यायाम तथा भोजनकी चिन्ता—क्या खायें तो देह बलवान हो, इस में वे लगे रहते हैं। अतः देहसे छूटना है तो ईश्वरकी पूजा करो।

यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः।
तन्नैच्छद्रचयन् यस्य सपर्यां बाललीलया॥

(श्रीमद्भाग० ३.२.२)

उद्धवजी जब पाँच वर्षके थे तब भगवान्की पूजामें ऐसे तल्लीन हो जाते थे कि माता उन्हें कलेऊ करनेको बुलाती थी; किन्तु वे पूजन छोड़कर जाना नहीं चाहते थे। महाराज अम्बरीष तो भगवत्पूजनमें ऐसे लगे थे कि उनके राज्यकी रक्षाकी चिन्ता भी भगवान् ही करते थे।

स्मरणासक्ति—भगवान्का पूजन करने लगो तो उनका स्मरण भी होने लगेगा। पहले तनको लगाओ तो मन लगेगा। तन संसारमें लगाये रहो और मनको भगवान्में लगाना चाहो तो यह पहले नहीं होगा। पहले शरीरसे पूजन करो। शरीर तुम्हारे वशमें है, उसे लगा दो तो मन भी धीरे-धीरे लगेगा।

तुम्हारी अन्तिम गति क्या होगी ? तुम कहाँ जाओगे ? वहाँ, जिसका तुम स्मरण करते हो। यह स्मरण ही जीवको ले जानेवाला विमान है।

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८.६)

भगवान्ने बताया—'अर्जुन ! मनुष्य जो कुछ स्मरण करता हुआ देह त्याग करता है, सदा उसी भावनासे युक्त रहनेके कारण उसी प्रभावको प्राप्त होता है।'

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८.५)

'अन्त समयमें जो मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है वह मेरे भावको—मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।'

प्रकृति अधोगामिनी है। यदि तुम प्रयत्नपूर्वक भगवान्का स्मरण नहीं करो तो अपने-आप तो मन विषयोंका ही चिन्तन करेगा। इसलिए प्रयत्नपूर्वक मनको भगवान्के रूप, गुण, माहात्म्य, लीलादिके स्मरण-चिन्तनमें लगाओ। क्योंकि—

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

'विपत्ति कोई तथ्यतः विपत्ति नहीं है और सांसारिक सम्पत्ति सम्पत्ति नहीं है। भगवान्का विस्मृत हो जाना ही सच्ची विपत्ति है और श्रीहरिका स्मरण ही सच्ची सम्पत्ति है।'

जब आप अपनेको अत्यन्त दुखी अनुभव करते हैं तब क्या आपको भगवान्का स्मरण रहता है ? हृदयमें मुस्कराते भगवान् विराजमान रहेंगे तो हृदय उनकी स्मित-ज्योतिसे उद्भासित रहेगा।

भगवान्‌का स्मरण रहेगा तो दुःखका स्मरण नहीं रहेगा। सुखी होनेका उपाय यही है कि बलपूर्वक मनको भगवान्‌के स्मरणमें लगाओ। ऐसी अवस्था हो जाय कि स्मरणके बिना रहा न जाय।

बादाम खाते समय जब कोई कड़वा बादाम मुखमें आ जाता है तो मुखका स्वाद बिगड़ जाता है। इसी प्रकार तुम्हें भगवान्‌का स्मरण मीठे बादाम जैसा तथा अन्य स्मरण कड़वे बादाम जैसा लगना चाहिए। ऐसा हो जाय तो समझना कि स्मरणमें आसक्ति हुई।

जौं मोहि राम लागते मीठे।
तौ षट्‌रस नौ रस अनरस रस ह्वै जाते सब सीठे॥

पहले ही कह चुके हैं—'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'।

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत्॥

'वह हानि है, वही बड़ा भारी दोष है और अन्धता, जड़ता, मूर्खता भी वही है कि भगवान् वासुदेवके चिन्तनके बिना मुहूर्त अथवा क्षण भी जाने दो।'

भगवान्‌के विस्मरणमें ही अहंकार, राग-द्वेष, दुःख, पापका निवास है। अतः भगवद्-विस्मरण नारकीय स्थिति है। ऐसे भगवान्‌का स्मरण न होता हो तो कीर्तन करो। कीर्तन करनेमें दो मुख्य लाभ हैं—निद्रा नहीं आती और दूसरोंका शब्द कानोंमें नहीं पड़ता।

सावधानीका नाम ही साधना है। जप, ध्यान, पाठ, भगवान्‌के मन्दिरोंमें दर्शन करने जाना, मन्दिर अथवा तीर्थ-स्थानकी परिक्रमा करना, यह सब स्मरणके लिए साधनाएँ हैं। एकसे थको तो दूसरेसे लग जाओ। ध्यानसे थके तो जप करने लगे। जपसे थके तो पाठ कर लिया। उससे भी थक गये तो दर्शन या परिक्रमा करने चल पड़े।

जैसे प्यास लगनेपर, पानी न मिलनेसे कण्ठ सूखने लगता है वैसे जब भगवान्‌का स्मरण न हो तब चित्त व्याकुल हो जाय।

हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्।

'भगवान्‌का स्मरण समस्त विपत्तियोंसे छुटकारा देता है।'

स्मृति-लाभ होनेपर—अपने आत्मस्वरूपका बोध होनेपर सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ छूट जाती हैं।

सम्पूर्ण गीताका उपदेश सुनकर अर्जुनको क्या प्राप्त हुआ? अर्जुनने अन्तमें कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

'हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे स्मृति प्राप्त हुई।'

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके एक प्रेमी थे। किसीने उन्हें बताया—'यह शाल श्रीमहाराज ओढ़ा करते थे।' वे शालको हाथमें लेकर गद्‌गद हो गये—'अहा! इतने दिन बाद महाराजजीकी शाल देखनेको मिली!'

आसक्तिका स्वभाव है कि जिसमें है उसकी कोई वस्तु देखकर, उसका नाम सुनकर परमानन्द होता है।

मारीच इतना भयकातर था कि 'राजरत्नरमणीरथादिकं' कोई शब्द, जिसके प्रारम्भमें 'र' अक्षर हो, सुनते ही व्याकुल हो जाता था—'कहीं राम तो नहीं आ गये!' इसका नाम स्मरणासक्ति नहीं है। मनमें प्रेम हो और प्रेमपूर्वक स्मरण किया जाय। प्रेम हृदयमें उठता है और सेवामें-क्रियामें आता है।

जो कहता है—'मैं चौबीस घण्टे आपका स्मरण करता हूँ' वह मूर्ख है अथवा दम्भी है। अन्ततः वह भोजनके, घरके, शरीरके विषयमें भी सोचता है या नहीं? और उसे निद्रा आती है या अनिद्राका रोगी है? यदि आपके मनमें पाँच मिनट भी प्रेमपूर्वक स्मरण होता है तो आप चौबीस घण्टे सेवा कर सकते हैं।

स्मरण चलता था प्रह्लादका। 'गोविन्दपरिम्भितः'—लगता था कि भगवान्‌ने अपने आलिंगनमें ले रखा है। शरीरकी सुधि ही नहीं रहती थी।

दास्यासक्ति—दो मिनट प्रेमपूर्वक स्मरण करो तो तुम्हारा सर्वस्व ठाकुरका हो जायगा। आसक्ति तब कहना चाहिए जब सेवा किये बिना खाना-पीना रुचे नहीं। सेवा मिले विना व्याकुलता हो, कष्ट हो। मनमें प्रेमसे चिन्तन-स्मरण होगा तो वह शरीरको सेवामें लायेगा ही।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके समीप एक भक्त रहते थे। वे सदा-सब अवस्थामें भगवन्नाम लिया करते थे। लोगोंने महाप्रभुसे कहा—'ये अपवित्र दशामें भी भगवन्नाम लेते हैं!'

महाप्रभुने उनसे कहा—'लघुशंका करते समय, शौच जाते सयय भगवन्नाम मत लिया करो।'

अब वे जब लघुशंका या शौच जाते तो हाथसे जिह्वा पकड़कर बैठते थे। लोगोंने इसे देख लिया और महाप्रभुसे कहा। महाप्रभुने पूछा—'तुम यह क्या करते हो?'

वे बोले—'जीभ भगवन्नाम लिये बिना मानती नहीं है। इसलिए लघुशंकादिके समय जीभ पकड़े र.,ता हूँ कि नाम न ले—मैंने तो सब समय नामजपका स्वभाव इसलिए बना लिया था कि कहीं शौच जाते, लघुशंका करते प्राण निकल जायँ तो उस समय भी भगवन्नाम मुखमें बना रहे।'

महाप्रभु—'तब तुम सब समय नाम लो। तुम्हारे लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है।'

यह है नाममें आसक्ति। आसक्तिका तो यह अर्थ है कि रोकनेके लिए प्रयत्न करना पड़े।

सेवानन्दमें एक विलक्षण बात है। इसमें अपनेको आनन्द लेनेकी बात आवे तो सावधान होना चाहिए। एक दिन श्रीकृष्णचन्द्रका

सारथि दारुक भगवान्‌को पंखा कर रहा था। पंखा झलते हुए मनमें आया—'मेरे समान भाग्यशाली कौन होगा कि मुझे निखिल-ब्रह्माण्ड नायककी सेवा प्राप्त है !' ऐसा स्मरण आया तो चित्त आनन्दसे विह्वल हुआ, नेत्रोंमें अश्रु आये, हाथ काँपा; किन्तु दारुक तुरन्त सावधान हो गया—**प्रेमानन्दं दारुको नाभ्यनन्दत्।** उस प्रेमके आनन्दका दारुकने स्वागत नहीं किया। उसने प्रेमानन्दका तिरस्कार किया—'यह क्या, तुम अपने आनन्दके लिए तो प्रभुको पंखा नहीं झलते हो !'

सेवामें जब त्रुटि दीखती है—'यह काम नहीं हो सका ! यह सेवा रह गयी !' तब सेवा-भावमें उन्नति होती है।

विषय-भोग, धन-संग्रह, अथवा कर्मसुखका अभिमान आया; यह ध्यान हुआ कि मैंने इतना ध्यान किया, इतना जप किया, तो प्रेम नहीं रहा। 'मैं'के साथ सम्बन्ध जहाँ जुड़ा कि 'मेरे पास इतना है, मैंने यह किया' वहाँ तुम 'कर्ता-भोक्ता' बन गये। वहाँ काम आ गया। वहाँ प्रेम नहीं रहा। जब अपना किया हुआ सब संग्रह, समस्त कर्म, सम्पूर्ण भोग, सारे ध्यान-जपादि साधन प्रभुको सुखी करनेके लिए हों, तब सेवा बनती है, तब दास्यभाव-दास्यासक्ति परिपुष्ट होती है।

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो
यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः।
ज्ञानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्
पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥

(श्रीमद्भाग० १०.२१.१८)

गोपियाँ कहती हैं कि 'ये गिरिराज गोवर्धन भगवान्‌के दासोंमें श्रेष्ठ हैं; क्योंकि इन्हें श्रीबलराम-घनश्यामके श्रीचरणोंके स्पर्शका अधिकार प्राप्त है। ये गायोंकी सुखद चोट सहकर भी उनका सम्मान करते हैं, उन्हें हरी घास देते हैं। गायों एवं गोपबालकोंके

साथ श्रीरामकृष्णका सत्कार करते हैं। उनके पीनेके लिए झरने बहा रखे हैं; वे खायेंगे इसलिए कन्द-मूल उगा रखे हैं और उनके विश्राम करनेके लिए गुफाएँ बना दी हैं।'

उद्धवजीके लिए 'हरिदास' कहा गया। वे भगवान्‌का सान्निध्य छोड़कर उनकी आज्ञासे, उनकी सेवा करने व्रजमें आये। युधिष्ठिरको कहा गया **हरिदासः स राजर्षिः**। उन्होंने राजसूय यज्ञ इसलिए नहीं किया कि विश्वमें सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होना था। स्वयं सम्राट् कहलानेके लिए यज्ञ नहीं किया था। युधिष्ठिरने तो यज्ञ किया था श्रीकृष्णकी अग्रपूजाके लिए, श्रीकृष्ण सर्वश्रेष्ठ हैं यह सिद्ध करनेके लिए। क्योंकि दासका स्वभाव ही होता है स्वामीकी कीर्ति बढ़ाना।

सख्यासक्ति—दास्य सर्वभौम भाव है। जीव स्वभावसे भगवान्‌का दास है। परमात्मा सम्पूर्ण जीवोंका स्वामी है। जीव अपनी ओरसे भगवान्‌का दास बनता है तब भगवान् अपनी ओरसे उसे अपना सखा बना लेते हैं।

श्रीबलराम, श्रीदामा, सुबल, भद्र आदि सब सखा अपनी ओरसे तो श्रीकृष्णकी सेवा ही करनेकी इच्छा रखते थे किन्तु श्यामसुन्दर उनका सम्मान करते थे। खेलमें स्वयं हार जाते थे और सखाओंको विजयी बना देते थे। भरतजीने चित्रकूटमें कहा था—

मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥

स्वयं हार जाते हैं और फिर सखाको पीठपर चढ़ाकर ढोते हैं—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।

वे भगवान् हैं, त्रिलोकीनाथ हैं, अजित हैं, किन्तु सखासे पराजित हो जाते हैं। सुना यही गया है कि भक्त भगवान्‌के लिए रुदन-क्रन्दन करते हैं; किन्तु भगवान् रोते हैं भक्त-सखाके लिए। सुदामा द्वारका गये तो—**प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः।**

यह बात कवि नरोत्तमदासने अपने शब्दोंमें इस प्रकार कहा है—

काहे बेहाल बिवाइन सों पग कंटक जाल लगे पुनि जोये।
हाय सखा, दुख पायो महा तुम आये इतै न कितै दिन खोये॥
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैननि के जलतें पद धोये॥

ये सखा भी दो प्रकारके होते हैं—१. जो भगवान् अपना सखा मानते हैं; जैसे व्रजके गोपबालक। २. जिन्हें भगवान्को अपना सखा मानते हैं; यद्यपि वे अपनेको भगवान्का दास ही मानते हैं। जैसे श्रीरामावतारमें सुग्रीव-विभीषणादि बानर-रीछ-गण। उनके लिए श्रीरामने कहा—ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।

कान्तासक्ति—भगवान् ही पुरुष हैं और जीवमात्र स्त्री हैं। पराधीनत्व ही स्त्रीत्व है। भगवान् भोक्ता हैं और शेष सब भोग्य हैं। अतः उन परमपुरुषको प्रियतम मानकर उनके प्रति मधुर रतिकी आसक्ति कान्तासक्ति है।

यह कान्तासक्ति भी कई प्रकारकी है। इनमें-से एक व्रजके वनकी भिल्लिनियोंकी है—

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥
(श्रीमद्भाग० १०.२१.१७)

गोपियाँ कहती हैं—'ये भिल्लिनियाँ पूर्णमनोरथा हैं। श्रीकृष्ण-चन्द्रके चरणकमलोंमें उनकी प्रियतमाके वक्षःस्थलपर लगा कुङ्कुम लग जाता है और गोचारणके समय वह कुङ्कुम तृणोंपर लग जाता है। श्यामसुन्दरका दर्शन करके जो इन भिल्लिनियोंके चित्तमें कामरोग होता है, उस मानसिक क्लेशको ये तृणोंपर लगे उस श्रीकृष्णचरणके कुङ्कुमको अपने मुख तथा वक्षःस्थलपर लगा-कर मिटा लेती हैं।'

भिल्लिनियोंको न श्रीकृष्णका सान्निध्य प्राप्त है, न इसकी वे कामना ही करती हैं। उनकी चरणरजको मुख तथा वक्षःस्थलपर मलकर वे कृतकृत्य हैं।

दूसरी कान्तासक्ति कुब्जाकी है। यह कान्तासक्ति कामप्रधान थी। तीसरी कान्तासक्ति द्वारकाकी पटरानियोंकी थी। पटरानियों-की कान्तासक्ति धर्मप्रधान थी। प्रेमप्रधान परिपूर्ण कान्तासक्ति गोपियोंकी है। उन्होंने अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका त्याग करके केवल प्रेम किया।

श्रीराधाको तो श्यामसुन्दरसे पृथक् देखना ही नहीं चाहिए। वे श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्ति नहीं हैं, स्वरूप ही हैं।

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दौं सीताराम पद..॥

अतः इस अभेदमें आसक्तिकी चर्चा नहीं उठती। कान्तासक्ति वह है जहाँ अपनेको कोटि-कोटि कष्ट भले हो, यदि उससे प्रियतम-को क्षणभरका सुखाभास भी मिलता हो तो वह स्वीकार है।

वात्सल्यासक्ति—श्रीनन्द-यशोदाका वात्सल्य शुद्ध वात्सल्य है। वसुदेव-देवकीके वात्सल्यमें ऐश्वर्य मिश्रित है। माता रोहिणी, व्रज तथा मथुराकी वृद्धाएँ ही नहीं, गायोंमें भी श्रीकृष्णके प्रति वात्सल्य है।

प्रेमका अत्यन्त उत्कृष्ट रूप है वात्सल्य। इसमें देना ही देना है। प्रेमके रसका आस्वादन करनेके लिए परमात्मा जो सबका पिता, पालक, शासक, नियन्ता, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं; बालक, पाल्य, शासित, नियन्त्रित, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति बन जाता है।

यद्रोमरन्ध्रपरिपूर्तिविधावदक्षा
वाराहजन्मनि बभूवुरमी समुद्राः।
तं नाम नाथमरविन्ददृशं यशोदा
पाणिद्वयान्तरजलैः स्नपयाम्बभूव॥ (लीलाशुक)

'वाराहावतारमें जिनके रोम-छिद्रको भरनेमें ये समस्त समुद्र समर्थ नहीं हुए, उन्हीं कमल-लोचनको मैया यशोदाने अपनी अञ्जलिमें जल लेकर स्नान करा दिया।'

यह विभुको नन्हा-मुन्ना बना देनेकी सामर्थ्य वात्सल्यमें ही है।

आत्मनिवेदनासक्ति—अपने आपको सम्पूर्ण रूपसे भगवान्‌को निवेदित कर दिया। अपना 'मैं-मेरा' कुछ रहा ही नहीं।

तन्मयतासक्ति—अपने मनका मान सर्वथा भूल गया। जैसे गोपियाँ रासक्रीड़ामें श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेपर अपनेको ही श्रीकृष्ण समझकर श्रीकृष्णलीला करने लगी थीं।

ग्वालिनी प्रगट्यो पूरन नेहु।
दधि भाजन सिरपर धरे, कहत गुपालहिं लेहु॥

परमविरहासक्ति—भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हुई है और उनसे मिलनेकी व्याकुलता है, यह एक बात है, किन्तु विरह तो वह है जो संयोगके पश्चात् होता है। जबतक मिलन नहीं हुआ तबतक जो मिलनकी कामना है वह व्याकुलता उत्पन्न करती है। भगवान् मिलकर वियुक्त हो गये तब जो व्याकुलता होती है, उसका नाम विरह है।

यह विरहासक्ति भी दो प्रकारकी होती है। एक मिलनके पश्चात् सचमुच वियोग हुआ है। भगवान्‌की झाँकी मिली और वे दृश्य हो गये। अब उनके सान्निध्यका अनुभव प्राप्त करनेके लिए व्याकुलता होती है। दूसरे, भगवान् मिले हैं, समीप हैं, किन्तु मनमें वियोग जागता है। यह अद्भुत भाव है—अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापम्।

श्रीकृष्णकी गोदमें बैठी श्रीराधा भूल गयीं कि मैं प्रियतमकी अङ्कमें हूँ और वे क्रन्दन कर उठीं—'प्राणप्यारे! कहाँ गये तुम?'

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके उत्तरार्धमें वर्णन है कि द्वारकाकी पटरानियाँ भगवान्‌के साथ जलक्रीडा कर रही थीं। जलक्रीडा

करते-करते वे तन्मय हो गयीं और फिर उनमें श्रीकृष्णके वियोगका भाव जागा। वे चित्र-विचित्र प्रलाप करने लगीं। यह परमविरहा-सक्ति तन्मयताकी प्राप्तिके पश्चात् आती है।

एक मत ऐसा है कि भक्ति स्वयं रस है। दूसरा मत है कि भक्ति भाव है, परमात्मा रस है। भक्तिको जो लोग रस मानते हैं उनके भी दो भेद हैं। एक मानते हैं कि शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य—ये भाव हैं और भक्ति रस है। दूसरा मत है कि शान्त, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य ये रस हैं।

अद्वैत-सम्प्रदायमें परमात्माको रस तथा भक्तिको भाव माना जाता है। परमात्मा रसरूप है, इसमें कोई विवाद नहीं है। श्रुति कहती है—'रसो वै सः'—परमात्मा रस है। 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति'—उस रस स्वरूपको पाकर ही पुरुष आनन्दी होता है।

परमात्मा जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण हुए बिना रह नहीं सकता और जब वह जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है तो उसे इसी देशमें—यहीं, इसी कालमें—अभी, इसी वस्तुरूपमें विद्यमान होना ही चाहिए। अब जब परमात्मा अभी यहीं विद्यमान है तो पहचानमें क्यों नहीं आता? पहचानमें कोई त्रुटि होनी चाहिए। यह त्रुटि है अविद्या। इस अविद्याको दूर होना चाहिए। यह अविद्या दूर क्यों नहीं होती? परमात्माके स्वरूपका ज्ञान न होनेसे। परमात्माके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करो तो पता लगेगा कि परमात्मा रसरूप है।

परमात्मा रसरूप है, यह अनुभव प्राप्त करनेके लिए अधिकार प्राप्त करना चाहिए। भक्ति-भाव इस अधिकारकी प्राप्तिमें, अन्तः-करणके शोधनमें हेतु है। यह शंकराचार्य भगवान्का मत है।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपने 'भक्तिरसायन'में भक्तिके रसरूप होनेका प्रतिपादन किया है।

श्री चैतन्य महाप्रभुके मतमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य ये पाँचों स्वतन्त्र रस हैं। ईश्वरके साथ जुड़नेवाला प्रत्येक भाव स्थायी भाव होनेसे वह रसरूप हो जाता है।

देवर्षि नारदने यहाँ यह सूत्र भक्तिको रस मानकर दिया है। भक्तिके ग्यारह भेद हैं। एक ही भक्ति भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंमें तत्तद्भक्तकी योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न रूप ले लेती है। भक्ति स्वयंप्रकाश है।

यदृच्छया मत्कथासु जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।

इसमें 'यदृच्छया'का अर्थ श्रीधरस्वमीने किया है—**केनापि भाग्योदयेन**। गौड़ेश्वर सम्प्रदायके टीकाकार इसका खण्डन करते हैं—**यदृच्छया स्वेचछया** भगवान्से अभिन्न होनेके कारण भक्ति चिद्रूपा है—**चिद्रूपां त्वां ससर्ज ह**।

अतएव जिस भक्तके अन्तःकरणमें जैसी योग्यता होती है उसके अन्तःकरणमें भक्ति स्वेच्छासे वैसी बन जाती है। भक्तिके रूपका परिणाम नहीं होता, आकारका परिणाम होता है। इस प्रकार ग्यारह रूप होकर भी भक्ति एक ही है।

भक्तिकी श्रेष्ठतामें आचार्योंका मतव्य

● संगति

सिद्धान्त मनमाने नहीं हुआ करते। वे परम्परा-प्राप्त होते हैं। यह सब भक्तिके विषयमें जो कुछ देवर्षिने कहा, उसके समर्थक, उसकी परम्पराके कौन-कौनसे लोग हैं, यह बतलाते हैं।

इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमार-व्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलि-हनुमद्विभीषणादयो भक्ताचार्याः ॥८३॥

लोगोंकी चर्चा (निन्दा-स्तुति)के प्रति निर्भय रहनेवाले, भक्तिके आचार्यगण कुमार (सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार), श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णुभगवान्, कौण्डिन्य, भगवान् शेष, उद्धव, आरुणि, दैत्यराज बलि, हनुमान्, विभीषण आदि एक मतसे इस (भक्ति)को ऐसा ही (सर्वश्रेष्ठ) कहते हैं ॥८३॥

'जनजल्पनिर्भयाः'—सबके अपने-अपने मत होते हैं। सबके विचार, रुचि, मत पृथक्-पृथक् होते हैं। सत्पुरुष सुनते सबकी हैं किन्तु करते अपने मनकी। वे लोगोंके कहने–सुननेकी चिन्ता नहीं करते।

जब कोई तुम्हारे धनपर उँगली उठाता है—'यह अधर्मका धन है!' तब तो तुम उसे फेंकते नहीं हो, फिर तुम्हारे कोई प्रेम–भक्तिपर उँगली उठाता है तो उसे क्यों छोड़ते हो? कोई तुम्हारी

बहू-बेटीपर उँगली उठावे तो घरसे निकाल दोगे अपनी बहू-वेटीको ? लोगोंकी बकवादपर भक्त कान नहीं देता।

तेरे भावै जो करै भलो बुरो संसार।
नारायन तू बैठिके अपनो भवन बुहार ॥

यहाँ भक्तिके आचार्योंका नाम लेनेमें कोई क्रम नहीं रखा गया है। वैसे भक्तिकी परम्परा बतला दी गयी है। भगवान् विष्णु, शेष जी, सनत्कुमार और उसके पश्चात् स्वयं देवर्षि नारद हैं, इस परम्परामें। नारदजीने भगवान् व्यासको भक्तिका गौरव समझाया। व्यासजीने अपने पुत्र शुकदेवजीको श्रीमद्भागवत ही पढ़ाया है। देवर्षि नारदका तात्पर्य यहाँ परम्परा बतलानेमें नहीं है, इसलिए उन्होंने अनेक परम्पराके भक्तिके आचार्योंका नाम बिना किसी क्रमके गिना दिया है।

'एकमता:'—ये सब भक्तिके आचार्य एकमतसे यह बात कहते हैं कि भक्ति ही श्रेष्ठ है। इसमें किसी भक्ताचार्यका मतभेद नहीं है।

प्रेष्ठकी प्राप्ति

● संगति

अब अन्तमें सूत्र-ग्रन्थका उपसंहार करते हुए उसका माहात्म्य बतलाते हैं।

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स प्रेष्ठं लभते स प्रेष्ठं लभत इति ॥८४॥

देवर्षि नारदके द्वारा कहे गये इस कल्याणकारी आदेशमें जो विश्वास एवं श्रद्धा करते हैं वे प्रियतमको पाते हैं; वे प्रियतमको पाते हैं ॥८४॥

भगवान् नारायणके पुत्र ब्रह्माजी और उनके पुत्र देवर्षि नारद। नर-नारायणसे इन्होंने दीक्षा ग्रहण की है। इस प्रकार ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं तथा नारायणकी नादसन्तान हैं। उनका यह कल्याणकारी कथन है; अथवा यह आदेश भगवान् शङ्करका है, जिसे नारदजीने अपने शब्दोंमें कहा है। क्योंकि—वैष्णवानां यथा शम्भुः। भगवान् शङ्कर वैष्णवोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। उनके इस आदेशपर जो विश्वास करता, श्रद्धा करता है, वह परम प्रियतम भगवान्‌को प्राप्त करता है। परम प्रियतमके रूपमें भगवान्‌की प्राप्ति तब होती है जब धन, परिवार, संसारके कार्यमें आसक्ति छूटे और भगवान्‌में प्रेम हो। भगवान्‌में प्रेम तब होगा जब भगवान्‌में तथा भक्ति-शास्त्रमें विश्वास एवं श्रद्धा होगी।

हरे कृष्ण !



एक झलक

निगम बाबा

नारदभक्तिदर्शन : एक झलक

राधां कृष्णमयीं साक्षात्, कृष्णं राधामयं तथा।
द्वयं जगन्मयं चैतत्, भावये मन्मयं जगत् ॥ १ ॥
समादृता मया शब्दाः, शब्दैश्चाहं समादृतः।
अन्योन्य-भावनामूला, सिद्धिः सर्वत्र जायते ॥ २ ॥

– १ –

एक व्यक्ति बीमार पड़ा था। जोरोंका सिरदर्द हो रहा था। दवा पी-पीकर बेचारा तङ्ग आ चुका था। 'भारतमें जितने वैद्य हैं, उतने रोगी नहीं' कहावतके अनुसार दवाओंका परीक्षण चल रहा था। रोगीको लोग घेरे खड़े थे। एकने कहा—कुनीन दीजिए। दूसरा बोला—चिरायता पिलाओ। तीसरेका सुझाव था—पित्तपापड़ा ठीक रहेगा। चौथा—गडूची-क्वाथके लिए अनुरोध कर रहा था। पाचवाँ—हरीतकी पिलानेके पक्षमें था। छठा—उल्लंघनकी राय दे रहा था। सातवाँ बोला—भाई, मेरा शतशः अनुभूत योग है इसे पतला-पतला हलुआ बनाकर खिलाना चाहिए। मूल रोग प्रतिश्याय (जुकाम) है। सिरदर्द तो उनका उपद्रवमात्र है। हलुएका नाम कानमें पड़ते ही बीमारके कान खड़े हो गये। उसने कराहते-कराहते बोलनेवालेकी ओर हाथसे संकेत करते हुए रोने स्वरमें कहा—'हा राम! अरे, सब अपनी-अपनी ही हाँके जा रहे हो, उस अनुभवीकी भी कुछ सुन लो, वह क्या कह रहा है?'

– २ –

१-२. कणाद और गौतमका कहना है—हमारे सर्व-शास्त्रोपकारक दर्शनोंके दर्शन किये बिना यह दर्द मिटनेका नहीं। ३. कपिल मानते हैं—प्रकृति-पुरुष-प्रत्ययके बिना प्रपञ्चकी पीड़ा

पीछा छोड़नेवाली नहीं। ४. पतञ्जलिका प्रतिपादन है—अष्टाङ्ग योगके बिना यह रोग नहीं जायेगा। ५. जैमिनिजीकी युक्ति है—दुःख तो क्या, सारे जगत्‌की ही जड़ कर्म है। इस दर्दकी दवा केवल वैदिक कर्म ही हैं। ६. बाबा वेदव्यासजी बोले—भाई, यह अनहोनी वेदना षट्सम्पत्ति, साधनचतुष्टय-सम्पन्नतासे ही भागनेवाली है। रस्सीका साँप लाठीसे नहीं, लाइटसे ही भागता है। लो, सुन लिया! कहीं नेति-धोती षट्कर्म, कहीं नियम-आसन आदि अष्टाङ्गयोग, कहीं षट्सम्पत्ति और षड्लिङ्ग। है कोई हारे थके-माँदे अकिञ्चनके लिए मार्ग या नहीं? अब सातवें दयालु देवर्षि नारदजी आगे बढ़े और बोले—आओ, मेरे साथ। मैंने कहा—मैं पढ़ा-लिखा नहीं। इन्होंने कहा—तब तो बहुत ही अच्छा हुआ। पढ़े-लिखे होते तो तुम गिर जाते—पोथोंके भारसे तुम्हारा दिल दब जाता। मैंने पूछा—ऋषिऋण न उतारूँ? ये बोले—फिर बादमें उतार लेना।

निश्चयदार्ढ्यात् ऊर्ध्वं शास्त्ररक्षणम्, अन्यथा पातित्याशंकया।

(सू० १२.१३)

चौरासीका चक्र काटनेके लिए मेरे हाथमें चौरासीका सूत्र देकर नारदजी चले गये! सोचते-सोचते यह सचाई हाथ आयी कि—अपने मारनेके लिए चार पैसेका चाकू ही काफी है। दूसरोंको मारनेके लिए तोप-तलवार, नेट-जेट, बम्ब-बन्दूक आदिकी जरूरत पड़ती है। अपने उद्धारके लिए या चौरासीका चक्र काटनेके लिए चार महावाक्य या चौरासी सूत्र ही अलं हैं। दूसरोंके उद्धारके लिए या दूसरोंमें प्रचार करनेके लिए बड़े-बड़े ग्रन्थोंकी आवश्यकता पड़ती है।

– ३ –

मैं शिवाजी पार्क बम्बईमें इन चौरासी सूत्रों पर प्रवचन करने लगा। कई स्थानों पर शब्दार्थमें (भावमें नहीं) सन्देहने आ घेरा।

सन्देह कहाँसे दूर किया जाय? अन्ततोगत्वा पण्डित-प्रकाण्ड-परमभागवत श्रीस्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती मीमांसित 'नारद-भक्ति-दर्शन' मिल ही गया। इस दर्शनमें एक विशेषता है। शेष जितने भी दर्शन हैं, हम उनके पूर्वमें या वे हमारे पूर्वमें, हम उनके उत्तरमें या वे हमारे उत्तरमें, हम उनके वाममें या वे हमारे वाममें, हम उनके दक्षिणमें या वे हमारे दक्षिणमें खड़े रह सकते हैं। क्योंकि 'दर्श्यते अनेनेति' इस व्युत्पत्तिसे वे दर्शनमात्र हैं—केवल दिखानेवाले हैं। मार्ग दिखानेवाला पूर्व-पश्चिम-दक्षिण-उत्तरमें खड़ा होकर या किसीको खड़ा करके मार्ग दिखा सकता है। उसका यह दिखाना पूर्वदर्शन=पूर्वमीमांसा कहलायेग। 'भक्तिदर्शन' न तो पूर्वदर्शन है और न ही उत्तरदर्शन। यह तो मध्यदर्शन है। या तो हम इसके बीच स्थित रहें, अथवा यह हमारे बीच (हृदयमें) क्योंकि यह दर्शन है—'दृश्यते इति दर्शनम्'=दिखनेवाला है। किसी कविने लिखा है—

जिस रँग में उसे देखा, वह पर्दानशीं है।
उस पर यह पर्दा है कि पर्दा ही नहीं है॥
हर एक मकां में, कोई इस तरह मकीं है।
पूछो तो कहीं भी नहीं, देखो तो यहीं है॥

भक्ति-दर्शनकी दृष्टिमें मल-विक्षेपके अतिरिक्त आवरणदोष नहीं होता। शेष दर्शनमें 'वक्तृ-विशेष-निस्पृहा' होती है और भक्तिदर्शनमें वक्तारं विजानीयात् होता है। अर्थात् बाकी दर्शनों की मीमांसा करनेवालेके लिए यह आवश्यक नहीं कि उसकी कथनी और करनीमें एकरूपता होनी ही चाहिए। योगदर्शनके मीमांसकमें अणिमा आदि अष्टसिद्धियोंकी आशा रखना केवल आशामात्र ही रहेगा। कारण, वे ऊँचे दर्शन हैं—दिमागी दर्शन हैं। वहाँ तक सबकी गति नहीं हो सकती। वे सबकी पहुँचके बाहर

हैं। परन्तु यह दर्शन तो हृदय-दर्शन मध्यदर्शन है। हमारे नापका है अणोरणीयान्, महतो महीयान् नहीं। यहाँ तक सबकी पहुँच हो सकती है। यह न पूर्व है, न पश्चिम, न दक्षिण है और न ही उत्तर; हममें ही है। कारण कि यह मध्यदर्शन=हृदयदर्शन है—हृदयकी चीज है तथा हृदय सबके पास है।

दूसरे दर्शनोंमें 'क्या कहा जा रहा है' इसपर ध्यान केन्द्रित रहता है तथा इस दर्शनमें 'कह रहा है' यह बात ध्यानमें आती है। अर्थात् कहनेवाला क्यों कह रहा है ? उस कथनमें उसकी कौन-सी भावना काम कर रही है ? वह कथन प्रेमभावसे भीगा हुआ है या पैसेके भावसे विका हुआ। पैसा लफंगा है—उसका भाव बदलता रहता है। प्रेम अपरिवर्तनीय एवं चिरस्थायी होता है। इसी कारण सुरैयाके स्वर अल्पकालमें ही भूतकी चीज बन गये। परन्तु मीराके स्वर वर्तमानमें भी जन-जनकी जिह्वापर नाच रहे हैं। इस दृष्टिसे 'झलक' का कार्य अत्यन्त दुरूह है। क्योंकि द्रष्टा अपनी मानसिक अनुभूतियोंके आधार पर ही कुछ कहेगा। मनोभेद होनेके कारण अनुभूति-भेद होना भी नैसर्गिक है।

मुझे चाँदी और चेलोंके संग्रहमें कुछ भी आकर्षण प्रतीत नहीं होता। परन्तु श्रीस्वामीजीके हजारोंकी संख्यामें शिष्य-प्रशिष्य हैं। शास्त्र इस बातको कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी कहकर व्यक्तिको प्रारब्धपर छोड़ देता है और मैं इस बातको उस व्यक्तिपर ही छोड़ता हूँ कि यदि उसे इन बातोंमें रस आता है तो रस लेते जाना चाहिए और यदि रस नहीं आता तो व्यर्थ ही गले नहीं डालना चाहिए। मैं एक पृष्ठ भी बाँचकर किसीको सुना नहीं सकता। जीभ स्वयं बन्द हो जाती है। थक जाता हूँ। आलस्य प्रतीत होता है। परन्तु श्रीस्वामीजी तो—सुननेवाला मिलना चाहिए—सारे-का-सारा श्रीमद्भागवत सुना देंगे। सैकड़ों छोटे-बड़ोंको सुना चुके हैं। भूतकालकी बात छोड़िए—अब सुन लीजिए।

इससे सिद्ध होता है कि इन्हें श्रोताको भागवत सुनानेमें कोई विशेष सात्त्विक आनन्द अवश्य आता है जो इनके शारीरिक श्रमको खा जाता है। केवल तनसे किये जानेवाला कर्म भाररूप होता है। यदि उसमें मानसिक योग भी है तो वही रसकी धार-रूप हो जाता है।

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव

ऐसी स्थिति महात्माओंकी कृपाके बिना होना असम्भव है। हम देखते हैं कि श्रीस्वामीजी पूर्वाश्रमसे ही विरक्त महात्माओंकी खोजमें निकल जाते हैं। जहाँ कहीं भी कोई वीतराग महात्मा सुना वहीं पहुँच गये। वह चार कोसपर हो या चौदह कोसपर इसकी कुछ परवाह नहीं। वहाँ गालीसे स्वागत हो या गीतसे इसकी कुछ चिन्ता नहीं। कभी गंगा-किनारे मोकलपुरके बाबाके पीछे घूम रहे हैं और कभी तूँबेवाले श्रीउड़ियाबाबाजीके साथ पद-यात्रा कर रहे हैं। कई बार घर-बार छोड़कर भागे हैं। एक बार अयोध्याके एक वैष्णव महात्माने इन्हें घर वापस भेज दिया था। विरक्त महात्माओंकी ओर इनका जन्मजात आकर्षण है। प्राक्तन उच्च संस्कार है। मैंने इन्हें महात्माओंको घुटने टेककर प्रणाम करते हुए कई बार देखा है। करपात्रीजीको भी घुटने टेककर ही प्रणाम करते हैं। एक बार तो मैंने प्रसिद्ध एक स्त्रीशरीरको भी प्रणाम करते हुए इन्हें देखा है। यह देखकर मुझसे नहीं रहा गया और मैंने कह ही दिया कि इस प्रकार आपका इसे प्रणाम करना मुझे अच्छा नहीं लगता। बिना किसी संकोचके निर्विकार चेहरेसे बोले—'हाँ, और भी कइयोंने मुझसे ऐसा ही कहा है।' इतना पाण्डित्य, इतनी प्रसिद्धि पाकर भी इस प्रकार प्रणाम करना अमानिता मानदेनके अतिरिक्त और क्या हो सकता है? कुछ भी हो—इनका उन्मुक्त स्वभाव, स्थूल शरीर, मोटा पहरावा,

मेघगम्भीर गिरा, धीरोदात्त गति, विस्पष्ट एवं मधुर उच्चारण बहुत ही भला लगता है।

अनुभवगर्भित पाण्डित्य

उपदेश देना सरल है और मार्ग बताना कठिन। उपदेश देना पण्डितोंका काम है एवं मार्ग बताना अनुभवियोंका। पाण्डित्यमें दिमागकी प्रधानता रहती है और अनुभवमें हृदयकी—आचरण की। परमहंस रामकृष्णकी वाणीमें अनुभव तो मिलेगा; परन्तु पाण्डित्य नहीं। बीरबलकी वाणीमें बुद्धिचातुर्य तो मिलेगा; पर हार्दिकता नहीं। जितनी दिमागी कलाबाजी बिहारीके दोहोंमें मिलती है उतनी संस्कृतके श्लोकोंमें भी नहीं मिलती। निम्नलिखित यथासंख्या तथा असंगति अलंकारका उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है। यथासंख्या—

अमी-हलाहल-मद-भरे, स्वेत-स्याम-रतनार।
जियत-मरत-झुकि-झुकि परत, जिहिं चितवति इक बार।।

असंगति अलंकार—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीत।
परति गांठ दुर्जन हिये, दई नई यह रीत।।
सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यह बानक मो मन बसौ, सदा बिहारीलाल।।

में दिमाग अधिक है दिल कम।

आली री मोरे नैना बान पड़ी।
चित्त चढ़ी मोरे माधुरी मूरत,
उर बिच आन अड़ी।।

में दिल अधिक है और दिमाग कम।

पाण्डित्यकी सफलता भगवत्-प्रेममें है। प्रेमकी सफलता पाण्डित्यमें नहीं (ना० भ० द० पृ० ४२७) विद्या केवल जानकारी देती है और भक्ति तृप्ति देती है (ना० भ० द०

पृ० ४२९)। श्रीस्वामीजीकी वक्तृता एवं लेखमें पाण्डित्य और अनुभव घुल-मिलकर दोनों एक हो जाते हैं कि उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। मधुमें-से पुष्परसोंको अलग-अलग करनेमें कौन सफल होगा ? अस्तु।

पहले-पहले 'नारद-भक्तिसूत्र' दो पैसेके मूल्यमें मेरे पास आये। फिर पाँच आनेके 'प्रेम-दर्शन'का पहनावा पहन कर आये। अब तो श्रीस्वामीजीकी पीयूषवर्षिणी सर्वंकषा इन्द्रधनुषी विवेचन शैलीसे परिपुष्ट होकर बृहदाकारमें आ विराजे। **प्रत्यक्षरं क्षरन्ति सुधा-बिन्दवः**—इसके एक-एक अक्षरमें-से अमृतकी बूँदें टपक रही हैं। भगवान्‌के भाग्यवान् भक्तोंको पेट भर इसका आजीवन पान करते रहना चाहिए। **श्रेयसि केन तृप्यते।** रसका तो केवल पान ही होता है, परिसमाप्ति नहीं। सन्तोंकी वाणी कभी पुरानी एवं पुनरुक्त नहीं होती। यह अलबेली नित्य नवेली बनी ही रहती है। **न भवति पुनरुक्तं भाषितं सज्जानानाम्।**

भक्ति-शास्त्राणि मननीयानि।

नारदभक्तिदर्शन एक ही बातको बार-बार कहनेपर भी पुन-रुक्त होने नहीं देता—

(क) 'भक्तिको यदि सत्त्वगुणकी वृत्ति कहो तो सत्त्वगुण प्रकृतिका कार्य है और भगवान् प्राकृत वस्तुके वशमें हो नहीं सकते।

(ख) भक्तिको मायाकी वृत्ति मानो तो माया = छल-कपटसे भगवान् सदा दूर रहते हैं। मायाके परवश भला कैसे हो सकते हैं ?

(ग) भक्तिको जीवका प्रयत्न मानो तो जीवके किसी भी प्रयत्नमें भगवान्‌को वशमें कर लेनेकी क्षमता कैसे हो सकती है ?

(घ) भक्तिको भगवान्‌की शक्ति मानो तो भी शक्ति शक्तिमान्‌के वशमें होती है। शक्तिमान् भगवान् अपनी शक्तिके वशमें तो हो नहीं सकते।

अतः भक्ति तो जो आह्लादिनी शक्ति-सार-सर्वस्व है, उन परमानन्दका जो स्वरूपभूत आनन्द है, वही है। भगवान् जब अपने ही स्वरूपभूत आनन्दका रसास्वादन करना चाहते हैं, तब भक्तके हृदयमें स्वयं उस आनन्दको स्थापित करते हैं और फिर उस आनन्दके वशमें हो जाते हैं। भगवान् अपने ही स्वरूपभूत आनन्दका आस्वादन करते हैं।' (ना० भ० द० पृष्ठ ४६)

'वृत्ति-निरोध होनेसे द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है; किन्तु योग तथा सांख्यके मतसे द्रष्टाका स्वरूप आनन्द नहीं। आनन्दाकार वृत्ति होती है और वह योगके मतमें इष्ट नहीं। इसलिए आनन्दानुगत समाधिको योग सम्प्रज्ञात समाधिके अन्तर्गत मानता है। असम्प्रज्ञात समाधिमें आनन्द नहीं मानता। उसका मत है—आनन्द बना रहेगा तो आनन्दका भोक्ता जीव होगा। वह द्रष्टा नहीं रहेगा।

(परन्तु) भक्तिमें आनन्दाकार वृत्तिका निरोध इष्ट नहीं। देखता यह है कि भक्तिमें परम आनन्द आया कहाँसे ? सांख्य तथा योगके मतमें सत्त्वगुणकी परिणामरूपा वृत्ति आनन्द है। वह प्राकृत है, अतः त्याज्य है। भक्तिमें आनन्द भगवदाकार वृत्ति होनेसे आता है, यह प्राकृत वृत्ति नहीं। वेदान्तकी दृष्टिसे यह मायिक वृत्ति है। तन्त्रोंमें भक्तिको भगवान्की शक्ति माना गया है। भक्ति भक्तका स्वरूपभूत आनन्द भी नहीं। यह कोई ऐसी अनिर्वचनीय वस्तु है, जिससे भगवान् भी प्रसन्न होते, जिसपर मोहित हो जाते, जिसके वशमें हो जाते हैं। भक्तिके माधुर्यंतर भगवान् अपना ऐश्वर्य निछावर कर देते हैं।'

(ना० भ० द० पृ० ३३९)

× × ×

'श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दघन हैं। जब उन्हें रसास्वादन करना होता है; तब सच्चिदानन्दघनका सार निकालते हैं। वह सच्चिदा-

नन्दसार=उनकी आह्लादिनी शक्ति भक्ति है। (भगवान्) उसे भक्तके हृदयमें स्थापित करके, फिर जब उसे देखते हैं; तब उन्हें लगता है कि मेरे रूप, रस, माधुर्यसे अधिक रूप, रस एवं माधुर्य तो भक्तके हृदयमें है। उसका आस्वादन करके सुखी होते हैं।''......'भक्तका जीवन-प्राण-आनन्द भगवान् हैं और भगवान्का जीवन-प्राण-आनन्द भक्त हैं। व्यक्तिके जीवनको भगवन्मय=परमानन्दस्वरूप बनानेवाली भक्ति है। भक्ति मृत्युका जीवन है। ब्रह्म तो जीवन-मृत्युसे परे हैं।' (ना० भ० द० पृ० ३४४)

जैसे व्यक्तिको अपनी सुन्दरताका अभिमान तो हो जाता है; पर वह स्वयं अपनेपर मुग्ध नहीं होता। किन्तु कागजपर या पुत्र-रूप कायापर अपना रूप देखकर मुग्ध हो जाता है। गौका घी गौके अन्दर होनेपर भी गौको हृष्ट तथा पुष्ट नहीं करता। जब वही मथन आदि क्रियासे उद्भूत होकर पुनः गौके अन्दर जाता है तब हृष्टि-पुष्टि देता है। वैसे ही भगवान् भी अपना रूप=अपना आनन्द भक्तके हृदयमें प्रकट करके=स्थापित करके स्वयं उसपर मुग्ध हो जाते हैं। सन्तुष्ट और पुष्ट होते रहते हैं।

इतने प्रकारसे एक ही बातके इस प्रकार दर्शन करा देना इसी दर्शनका काम है।

× × ×

'(क) 'नरस्येदं नारम्—नारं ददातीति नारदः' नार=नर-सम्बन्धी ज्ञान अथवा नर-नारायणसे उपलब्ध ज्ञान, उसका जो दाता, वह नारद।

(ख) 'नरस्येदं नारं'=नर-सम्बन्धी अज्ञान, उसे द्यति=मिटानेवालेको नारद कहते हैं।

(ग) नार=मनुष्यके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान परमात्मा अथवा नराकृति परमब्रह्म भगवान् कृष्ण। उनका जो जन-जनके हृदयमें स्थापन करे वह नारद। (पृ० १७)

'(क) भजनं भक्तिः = भगवान्के सुने हुए गुण, लीला, महिमा, रूप आदिको मनमें बार-बार लाकर रसास्वादन करनेका नाम भक्ति है।

(ख) भागो भक्तिः = भगवान्के भागमें, भाग—हिस्सेमें चले जानेका नाम भक्ति है [भवसे विभक्त होकर ही भगवद्-भक्त हुआ जा सकता है।]

(ग) भञ्जनं भक्तिः = अपने चित्तमें-से राग-द्वेष, संसारके माया-मोह, अविद्याको भञ्जन = रौंद देनेका नाम भक्ति है।' (पृ० ३१)

'प्रेममें सात बातें अनिवार्य हैं—

१. प्रेम किसी प्रकार घटता नहीं।

२. प्रियके प्रति रूक्षता नहीं आती।

३. पूर्ण चन्द्रके समान परिपूर्ण होनेपर भी प्रेममें कुछ वक्रता रहती है—कुछ छेड़-छाड़ चलती है।

४. प्रेमका रस बासी नहीं पड़ता। नित्य नवीन रहता है। प्रेममें तृप्ति नहीं (होती)।

५. प्रेममें भय नहीं होता। भय और प्रेम एक ही अन्तःकरणमें एक साथ नहीं रह सकते। प्रेमी दुःखी रह सकता है। (पर भयभीत नहीं रह सकता)। किन्तु जिससे हम भयभीत हों, उससे प्रेम नहीं कर सकते।

६. प्रियतममें दोष दीखनेपर (भी) उससे विरक्ति नहीं होती। सेवाभाव जागता है। लगता है कि अब सेवाकी अधिक आवश्यकता है। दोषदर्शनसे प्रेमी त्यागता नहीं, उसमें सेवाभाव बढ़ता है।

७. प्रेम देरी, दूरी और पर्दा मिटा देता है। प्रेमी और प्रियतम एक दिन मिलकर एक हो जाते हैं।' (पृ० ४३)

'भक्तिका स्वरूप अमृत है। (क) एक अमृत समुद्र-मथनोद्भूत है, जो स्वर्गमें है और देवभोग्य है। यह अमृत जरा-रोग नाशक

तो है; किन्तु पुण्य क्षीण करता है। देवलोकके प्राणी अमृत पीकर स्वर्गमें तबतक ही रहते हैं, जबतक उनका पुण्यक्षय न हो जाये।

(ख) दूसरा अमृत चन्द्रमामें है। वह चन्द्रकिरणों द्वारा वनस्पतियोंमें आता है और प्राणोभोग्य है। जौ, गेहूँ आदि उससे पुष्ट होते हैं। यह अमृत देह-पोषक क्षुधानिवारक तो है; किन्तु जरा-मरण-शोकादि-निवारक नहीं।

(ग) जो भगवद्भोग्य अमृत है, जिसका उपभोग केवल भगवान् करते हैं। वह भक्तिका स्वरूप है। भक्ति भगवान्‌का स्वरूप है। भगवान्‌के बिना भक्ति भी नहीं रह सकती और भक्ति बिना भगवान् भी नहीं रह सकते।' (पृ० ४६)

'भक्तिकी विशेषता—सब साधन फल कालमें अमृत होते हैं।

१. धर्म करके स्वर्गमें जाएँगे और वहाँ अमृत पीकर अमर हो जाएँगे। लेकिन धर्ममें अनुष्ठानकालमें अमृत नहीं। क्रियाकालमें तो उसमें श्रम, संयम, तितिक्षाका कष्ट ही है।

२. योग भी साधन-कालमें अमृत नहीं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा-ध्यानका दीर्घकालीन श्रम तथा तप करनेपर ही समाधिकी सिद्धि होती है। अनहद श्रवण करने चलोगे तब भी पहले संयम तथा नाड़ी-शोधन, एक, दो, तीन या पाँच बन्ध करने होंगे। साधन कालमें योग भी अमृत नहीं।

३. ज्ञान भी साधन-कालमें अमृत नहीं। पहले षट् सम्पत्ति, साधन चतुष्टयसे सम्पन्न बनो, तब हुए ज्ञानके अधिकारी। अधिकारी होकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन करो। निदिध्यासनसे महावाक्य-जन्य ब्रह्माकार वृत्तिका उदय होकर अविद्या निवृत्त होगी। 'तमेव विदित्वाऽमृतमिह भवति' उस परमात्माको आत्मासे अभिन्न जानकर यहीं इसी वर्तमान कालमें अमृत हो जाता है। किन्तु होता अमृत है जानकर। अतः साधन-कालमें ज्ञान भी अमृत नहीं।

४. लेकिन भक्ति तो सिद्धिकालमें भी अमृत है और साधन-कालमें भी। (पृ० ४७)

दूसरी विशेषता—अमृतस्वरूपा भक्ति सदा जीवित रहनेवाली है।

(क) धर्म (कर्म) रूप साधन फल उत्पन्न करके मृत हो जाता है। यज्ञ किया और स्वर्ग गये। स्वर्गमें तो यज्ञ होगा नहीं।

(ख) योगरूप साधन भी फल उत्पन्न करके मृत हो जाता है। योग से निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो गयी, फिर साधनको आवश्यकता नहीं।

(ग) ज्ञानरूप साधन भी फलरूप वृत्ति उत्पन्न करके मृत हो जाता है। महावाक्यके श्रवणसे मनन-निदिध्यासन करके ब्रह्माकार वृत्तिका जो उदय हुआ तो अविद्या निवृत्त करके वह वृत्ति भी नष्ट हो जाती है। ज्ञान वृत्तिका नाश हो जाता है। केवल ज्ञानस्वरूप ब्रह्म रहता है। फिर श्रवण आदि साधन भला क्यों होंगे ?

(घ) अब देखो कि भक्ति करके भगवत्-प्राप्ति हुई तो क्या भक्ति छूट जायेगी ? भगवत्प्राप्ति बढ़ेगी या घटेगी ? भक्ति तो बढ़ेगी। यह आराधनाकी राधा तो अजर-अमर है [प्रेमाकार वृत्तिधारा ही राधा है] (पृ० ५०)

(क) 'ज़ो ब्रह्मसंस्था है—ब्रह्ममें सम्यक् स्थित है, जो ब्रह्मसे हटता नहीं वह अमृतत्व प्राप्त करता है। अथवा—

(ख) संस्था = मृत्यु। ब्रह्ममें जिसका मैं = परिच्छिन्न व्यक्तित्व मर गया, वह अमृतत्व प्राप्त करता है।

'(ग) ब्रह्मसंस्था शब्दका अर्थ ही भक्ति है। क्योंकि ब्रह्मज्ञान तो अज्ञानको मिटाकर स्वयं भी मिट जाता है। भक्ति ब्रह्ममें निष्ठाके रूपमें रहती है। भगवान्में निरन्तर मनुष्यकी स्थिति रहे, इसका नाम भक्ति है।'

'सिद्धिको स्वीकार करनेसे आसक्ति बढ़ती है और उसे अस्वीकार कर देनेसे अभिमान बढ़ सकता है।' (पृ० ५५)

'भक्तके हृदयमें अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेकी चाह नहीं होती। चाहका दुर्गुण यह है कि वह मनको उसके घरमें नहीं रहने देती, दूसरेके घरमें बैठा देती है।' (पृ० ६७)

'शोक मनुष्यके मनको ईश्वरसे हटाकर भूतमें ले जाता है। अतीतके लिए ही शोक होता है। शोक मनको वर्तमानमें नहीं रहने देता। अतः भूतको छोड़ो और भगवान्में लगो।' (पृ० ६८)

'क्रोध व्यक्तिको भगवान्के समीप नहीं रहने देता। वह मनको शत्रुके समीप ले जाता है और वहाँ क्या मिलेगा? जलन, पीड़ा, तथा नरक। क्रोध भजनके पुण्यको तो नष्ट नहीं कर सकता; परन्तु भजनके रसको भस्म कर देता है।' (पृ० ६९)

'प्रेमका मार्ग है प्रियतमको सुख पहुँचाना और कामका मार्ग है स्वयं सुखका उपभोग करना। क्रिया दोनोंमें एक ही जैसी रहती है।' (पृ० ८६)

'काम व्यक्तिगत सुखतक आकर अटक जाता है (अतः कामी भटक जाता है) और भक्ति ठेठ परिपूर्ण परमात्मा तक पहुँच जाती है।' (पृ० ८९)

'योगमें जो योगीकी चित्तवृत्तिका निरोध है, वह स्वयं योगीका किया हुआ है; अतः विक्षेपकालमें वह टिकता नहीं। लेकिन भक्तिमें जो निरोध है, वह भगवान्का किया हुआ है, अतः वह निरोध विक्षेप तथा समाहित दोनों अवस्थाओंमें बना रहता है।' (पृ०९३)

'जबतक कार्यको कारणमें न डाल दे तबतक उसका त्याग सम्भव नहीं। इसलिए ज्ञानमें कार्यको उसकी कारण प्रकृतिमें डाल देते हैं। भक्तिमें परमाणुओंको, त्रिगुणोंको या प्रकृतिको जगत्का मूलकारण नहीं माना जाता; जगत्का मूल कारण भगवान् हैं— ऐसा मानते हैं। अतएव भगवान्के प्रति समस्त कर्मोंका अर्पण ही

न्यास है' (पृ० ९५)। न्यासका अर्थ है जिसकी वस्तु हो उसे लौटा देना। (पृ० ९६)। 'कर्मका अभिमान, कर्मका फल वस्तु और वस्तुका भोग, इन्हें अपनी ओर मत खींचो। इनको भगवान्‌की ओर कर दो।'

(पृ० ९७)

'भगवान् जिसे अपनाना चाहते हैं; उसे संसारमें विफलता देते हैं, अपनी प्राप्तिमें सफलता देनेके लिए।' (पृ० ९८)

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

पर्युपासते=सर्वत्र भगवान्‌को ही देखते हैं। अनन्याः= भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरी वस्तु ही नहीं। सर्वदा, सर्वत्र, प्रत्येक वस्तुमें भगवान्‌को ही देखना, यह बात भगवान्‌ने कही। 'पर्युपासते' से सर्वत्र=सब देशोंमें। 'नित्याभियुक्तानाम्'से सर्वदा=सर्वकालमें तथा 'अनन्याः'से सर्व वस्तुओंमें भगवद्दर्शनकी बात बतायी गयी।'

(पृ० १०३)

'भगवान् ही उपाय=साधन हैं और वे ही साध्य हैं।'

(पृ० ११०)

'ईश्वर अन्तःकरणमें अन्तःकरणका आश्रय होकर बैठा है, वह अन्तःकरणका विषय नहीं।' (पृ० ११४)

'रागका अभाव वैराग्य नहीं। क्योंकि रागका अभाव भावका निरोध नहीं होता। यह नियम है कि अभाव भावका निरोध नहीं करता। अतः राग-द्वेष मिटानेके लिए एक भावात्मक वृत्ति चाहिए। आत्माकार या भगवदाकार वृत्तिकी इसके लिए अपेक्षा है। आत्माकार वृत्ति होनेसे अनात्माकार वृत्तिका तथा भगवदाकार वृत्ति होनेसे जगदाकार वृत्तिका तिरस्कार हो जायगा।'

(पृ० ११८)

'वेदमें जो भक्तिके प्रतिकूल विधान पड़ते हों; उन्हें अन्य अधिकारियोंके लिए समझकर उनके प्रति उदासीन हो जाना

चाहिए। अपने लिए जितना विधान भजनके अनुकूल लगता हो, उतनेका ही आचरण करना चाहिए। वेदमें संन्यासीका आचरण भी बतलाया गया है। गृहस्थ उसका पालन कहाँ करता है? अथवा संन्यासी गृहस्थके लिए बताये गये धर्मका पालन नहीं करता। इस प्रकार अन्यके लिए विहित धर्मका पालन न करना वेदका खण्डन या निन्दा नहीं।' (पृ० १२०)

'व्याख्यान होता है अपना दल—अपनी पार्टी बढ़ानेके लिए, साधकका संशय दूर करनेके लिए सत्संग होता है। परन्तु कथा श्रोतामें हृदयमें भगवद्-रस उत्पन्न करनेके लिए होती है।' (पृ० १३७)

सम्मेलनोंसे प्रचार होता है, उद्धार नहीं होता। कथासे व्यथा दूर होती है—उद्धार होता है। सम्मेलन बाढ़ हैं और कथा सावन-भादोंकी बूँदें। जैसे बूँदोंसे धरतीमें नए-नए अंकुर फूटते हैं; वैसे ही कथासे भावुक हृदयमें नये-नये भाव फूटते हैं। (निगम बाबा)

'भक्तिकी बात व्यक्तिकी बात है और ब्रह्मकी बात सर्वात्माकी बात है।' (पृ० १४४)

'मुक्ति आत्मका स्वरूप है और भक्ति व्यक्तिका। (पृ० १४८)

'प्रत्यक्ष-विषयक प्रीति राग, अपरोक्ष-विषयक प्रीति ज्ञान तथा परोक्ष-विषयक प्रीति 'भक्ति' कहलाती है।' (पृ० १५२)

'निर्गुणवादी भी मानते हैं कि वृत्तिसे उपहित चैतन्यका ही साक्षात्कार होता है। वही सगुण है। (पृ० १६२)

'वियोग सूर्यके समान प्रकाशक है और संयोग चन्द्रमाके समान रसवर्षा करनेवाला है। संयोगमें आनन्द है और बेसुधी भी। अतः संयोगके समय श्रीकृष्णके माहात्म्यके ज्ञानकी विस्मृति रहती है। परन्तु वियोग सूर्यके समान सन्तप्त करनेवाला होनेके साथ-साथ प्रकाशक भी है। अतएव वियोग कालमें गोपियोंको श्रीकृष्णके माहात्म्य-ज्ञानका बोध रहता है।' (पृ० १६२)

'भक्तिका स्वभाव है कि वह आएगी तो उसके साथ ज्ञान भी आएगा ही। जिससे हम प्रेम करेंगे, उसके स्वभाव, गुण, रहस्यका पता हमें अवश्य लग जाएगा। सविशेषके ज्ञानसे उसके प्रति प्रेम होता है और प्रेम होनेसे उसका ज्ञान होता है। भक्ति तथा ज्ञान परस्पर आश्रित हैं।' (पृ० १६४)

'प्रेममें जो ऐश्वर्यंकी विस्मृति है, वह तमोगुणकी नहीं, अविद्याजन्य भ्रान्ति नहीं तथा वेदान्तमें निरूपित अज्ञान भी नहीं; किन्तु वह तो प्रेमका विलास है।' (पृ० १६७)

'भगवान् अपनी वृत्तिसे सगुण नहीं। अपनी वृत्तिसे तो वे निर्गुण ही हैं। परन्तु भक्तकी वृत्तिसे वे सगुण हो जाते हैं। वह गोप-गोपियोंका प्रेम ही है जो निर्गुणको सगुण बना डालता है।' (पृ० १७३)

(प्रेममें कुछ ऐसा चमत्कार है जो निराकारको भी साकार बना डालता है। यहाँ तर्ककी तलवारका प्रहार नहीं हो सकता। तर्क कर देनेपर इसमें फर्क भी नहीं पड़ता। (निगमबाबा)

'बड़े कोशमें-से थोड़ा-थोड़ा निकाल लेनेका नाम प्रेम नहीं। प्रेम है छोटे कोशको (हृदयके परिसीम रागको) अनन्त कोशमें मिला देना। (पृ० १७४)

'वेदके मन्त्ररूपी पुष्पोंकी माला गूथनेके लिए सूत्रग्रन्थ हैं, इसलिए इन्हें सूत्र कहते हैं।' (पृ० १७८)

'निष्काम धर्मानुष्ठानका फल है अन्तःकरणकी शुद्धि। अन्तःकरणकी शुद्धिके फलस्वरूप 'तत्' पदार्थंका ज्ञान होता है। उस 'तत्' पदार्थमें तदाकार रूपसे रहनेवाली है भक्ति। भक्ति है परमात्मामें लक्ष्य स्थिर करना। भक्तिके द्वारा मन परमात्मामें लगता है। अतः भक्ति निष्काम धर्मानुष्ठानसे बहुत श्रेष्ठ है।' (पृ० १७९)

'योगमें भी कठिनाई है (इन्द्रियोंको तोड़ो और मनको मरोड़ो)। योगकी साधना पूरी भी हो जाए तो क्या होगा? समाधिमें चित्त-

वृत्तिका सर्वथा निरोध हो जायेगा। जहाँ वृत्ति नहीं वहाँ व्यवहार नहीं। जहाँ व्यवहार नहीं वहाँ प्यार नहीं, रस नहीं।'

(पृ० १८०)

'अद्वय ज्ञानमें भी द्वैत नहीं अतः परस्पर प्रेम नहीं। यम-नियम तो साधनामय जीवनके पुष्प हैं और अद्वय ज्ञान साधनाका फल है। उसमें जो रस है वह तो भगवान्‌की भक्ति ही है।......धर्म तो उधार सौदा है। इस लोकमें करो और परलोकमें पाओ। योगमें परिश्रम बहुत है और अन्तमें वृत्तिको लीन होना है। ज्ञानमें भी अभिमानका भय है। भक्तिमें ये तीनों बातें नहीं'। (पृ० १८१)

'जीव तथा ईश्वरमें बँटवारा हुआ। ईश्वरने रूप अपने पास रख लिया और नाम जीवको दे दिया। पर नाम रूपसे बड़ा है। रूप नामके अधीन है। नाम लेकर पुकारेंगे तो रूपको वहाँ आना ही पड़ेगा'। (पृ० १८४)

'भक्तिकी विशेषता यह है कि वह केवल दोषापनयन ही नहीं करती, गुणाधान भी करती है। अन्तःकरणको रंगना, सजाना भी उसका काम है। भक्ति अन्तःकरणसे काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर आदिको निकालकर उसमें सत्य, नम्रता, करुणा, दया आदि गुणोंको भर देती है। भक्त मधुरभाषी होगा। वह दूसरोंकी हानि नहीं करेगा। दुःखोकी उपेक्षा उससे हो ही नहीं सकती। जिसके हृदयमें अमृत भरा है वह संसारको अमृत ही देगा। भक्तिसे ये दोनों फल (दोषापनयन एवं गुणाधान) तत्काल-इसी जन्ममें मिलते हैं'। (पृ० १८४-१८५)

'भक्ति सुखका साधन नहीं; किन्तु सुखका स्वरूप है। क्योंकि यह फलरूपा है। मरनेपर मिलनेवाला धर्मजन्य सुख तो अमंगल रूप है। ज्ञानका फल भवबन्धनसे मुक्ति है। भक्तको भवबन्धन है ही कहाँ? भवबन्धनसे तो वह छूट ही चुका। उसे केवल भव-बन्धन—भगवद्-बन्धन ही है।' (पृ० १८६-१८७)

'भक्तिका फल भक्ति ही है। भक्तिका फल भगवान्‌की प्राप्ति भी नहीं। भक्तिका फल यदि भक्तिके अतिरिक्त कुछ अन्य हो तो भक्ति वृक्षके समान नीरस होगी। रस तो वृक्षमें नहीं फलमें होता है। परन्तु भक्ति रसरूपा है। भक्ति फल तो है; किन्तु ऐसा फल है जिसमें गुठली-छिलका नहीं।' (पृ० १८९)

'भक्ति हृदयको शुद्ध करनेवाली है। ज्ञान हृदयको शुद्ध नहीं करता, केवल अज्ञानको मिटाता है।' (पृ० १९२)

'ज्ञानकी यह पूरी शोभा है कि ज्ञान हो जानेपर ज्ञानीका जीवन ऐसा हो जिसे देखकर दूसरोंके चित्तमें ज्ञानकी जिज्ञासा हो जाये।' (पृ० १९४)

'भक्ति केवल कर्म, ज्ञान, योगसे ही बड़ी नहीं; भगवान्‌से भी बड़ी है। भक्तिका एक-एक अङ्ग भगवान्‌से बड़ा बताया गया है। 'राम न सकहिं नाम गुन गाई'।' (पृ० १९४)

'सेवामें प्रीति हो तब वह भक्ति होती है। बिना प्रीतिकी सेवा भी भक्ति नहीं। इसी प्रकार निष्क्रिय प्रीति भी भक्ति नहीं। प्रीति सदा संयोगमें भी और वियोगमें भी रहती है।'

(पृ० १९६)

'अनन्त-अनन्त युगोंसे प्रिया-प्रियतम लीला-विहार कर रहे हैं, दोनोंमें परिचय ही नहीं हुआ। जब दोनों एक दूसरेके भावमें विस्मृत हो जाते हैं, तब दोनोंका जो सुखात्मक बोध है, वही श्रीराधावल्लभ—साम्प्रदायिक 'हिततत्त्व' है।' (पृ० २९७)

'ज्ञान, योग, धर्म—ये तो पुरुषवर्गके साधन हैं। पुरुषके अपने प्रयत्नसे होते हैं। अतः ये मायापर मुग्ध हो जाते हैं।'

(पृ० १९९)

'जो नाम पहले साधन बनकर आया था, अब वह साध्य-फल बन गया। इसके सम्मुख न भोग अच्छा लगता है और न मोक्ष, न वैकुण्ठ ही।' (पृ० २१०)

'यह नियम है कि जहाँ-जहाँ सविशेषका ज्ञान है, वहाँ-वहाँ जानने मात्रसे वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती। निर्विशेष तो अपना स्वरूप ही है। वह नित्य, प्राप्त है। अज्ञानके कारण अप्राप्त-सा प्रतीत हो रहा है। अतः जाननेमात्रसे अप्राप्तिका भ्रम दूर हो जानेसे वह प्राप्त हो जाता है। परन्तु जो अपनेसे भिन्न है वह जानने मात्रसे कैसे मिलेगा ?' (पृ० २१३)

'सगुण-साकारके क्षेत्रमें केवल ज्ञानसे कोई लाभ नहीं। भगवान्‌की भक्ति करना आवश्यक है।' (पृ० २१४)

'जीवको ये वाण (वाण) लगे हुए हैं। दुःखका वाण लगनेसे आनन्द, जड़ता = अज्ञानका वाण लगनेसे सत्ता लुप्त हो गयी। निर्वाण वह स्थिति है जहाँ दुःख, मूर्च्छा, जड़ता एवं मृत्यु नहीं। जो इस स्थितिको प्राप्त करना चाहते हैं वे मुमुक्षु हैं। उन्हें इसके लिए भक्तिका ही आश्रय लेना चाहिए।'

(पृ० २१४)

'ज्ञानके आचार्योंका उपदेश भक्तिके प्रसंगमें आकर गान बन जाता है। हृदयमें जो सुख-दुःख आदिकी संवेदना होती है, उसके उद्‌गारका नाम गान है। प्रेमकी बोलनका नाम संगीत और प्रेमकी चलन (गति)का नाम नृत्य है।' (पृ० २१४)

'वेदान्त, सांख्य और योग—ये तीनों द्रष्टृ-दर्शन हैं। इनमें द्रष्टाका-आत्माका स्वरूप बतलाया गया है। भक्तिदर्शन दृश्य-दर्शन हैं। दृश्य दो प्रकारका है—एक भगवान् तथा दूसरा अन्य सब वस्तुएँ। दूसरा दृश्य ही विषय है। वही बन्धनका हेतु है। अतः उसका त्याग करो।' (पृ० २१५)

'अपनेको 'आवृत' मत रखो। भगवान्‌का पर्दा हटा दो—उन्हें अपनेसे दूर मत मानो। उनको अपना मानकर भजन करो। भगवान्‌के सामने अपने चित्तको पूर्णरूपसे खोल दो—अनावरण कर दो। क्योंकि निरावरण हुए बिना, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष

किसीका भी सुख प्राप्त नहीं होता। आवरण-भंग सर्वत्र आवश्यक है।' (पृ० २१६)

'भोजनसे यह देह—जो माता-पिताके रजवीर्यसे बना है—पुष्ट होता है। गुरुका दिया साधक देह—जो नित्य कुमार है—भजनसे पुष्ट होता है' (पृ० २१६)

'मनुष्य जब भगवान्‌का गुणानुवाद सुनता है, तब भगवान् स्वयं उसके हृदयमें आते हैं। श्रवणमें उन्हें प्रत्यक्ष करनेकी शक्ति नहीं। कर्ममें भगवान्‌को पकड़कर लानेकी शक्ति नहीं। किन्तु भगवान् इतने दयामय अनन्त करुणावरुणालय हैं, जब वे देखते हैं कि उनका भक्त उनके लिए व्याकुल हो रहा है—छटपटा रहा है, तब भगवान् उसके समक्ष आये बिना रह नहीं पाते।' (पृ० २२१)

'भगवान्‌की कृपा हमारे समीप भगवन्नाम बनकर, भगवान्‌की मूर्ति बनकर, भगवत्कथा बनकर तथा महापुरुषका संग बनकर आती है। इनमें भी महापुरुषका संग सर्वोपरि है।' (पृ० २३२)

'दूसरेके दोष देखनेसे बढ़कर कोई पाप नहीं। क्योंकि जिस दोषको तुम दूसरेमें भी नही देखना चाहते, उसे अपनेमें चिन्तन करके अपने चित्तको उस दोषके संस्कारसे युक्त बना लेते हो।' (पृ० २३५)

'परोक्ष वस्तुको मनसे देखनेका नाम ध्यान है। प्रत्यक्षका ध्यान किया नहीं जाता'। (पृ० २४०)

[रसियेकी यह पंक्ति बीसों बार सुनी है। परन्तु श्रीस्वामीजीकी जीभ पर आकर यह मन्त्र या दार्शनिक सूत्र बन गयी]

आली रसकी रीति निराली, प्याली भरै न खाली होय।

(व्याख्या) ज्ञान विध्वंसात्मक है। ब्रह्मको प्रकाशित करना ज्ञानका काम नहीं। ज्ञानका काम है अज्ञानको नष्ट कर देना। ब्रह्म तो स्वयं प्रकाश है। अतः अविद्याकी निवृत्ति ही मोक्ष है। परन्तु प्रेम

समग्र ईश्वरको गोदमें लेनेवाला है। प्रेम रचनात्मक है। प्रेम जब ईश्वरको हृदयमें लेने लगता है; तब न पूरा ईश्वर हृदयमें आता है और न ईश्वरको अपनेमें लेनेकी पिपासा पूर्ण होती है। न प्रेमास्पदका अन्त मिलता है और न प्यासकी तृप्ति होती है। ठीक ही कहा है—प्याली भरै न खाली होय। (पृ० २५६)

'अनिर्वचनीय—(क) ब्रह्म अनिर्वचनीय है। क्योंकि किसी इन्द्रियसे उसका प्रत्यक्ष नहीं होता और मन भी उसका चिन्तन नहीं कर पाता।

(ख) प्रपञ्च अनिर्वचनीय है। क्योंकि इसे सत् या असत् (हाँ या ना) नहीं कह सकते। यदि सत् हो तो इसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिए। परन्तु ज्ञानसे इसकी निवृत्ति हो जाती है। असत् भी नहीं कह सकते। क्योंकि बाधकालसे पूर्व इसकी प्रतीति होती रहती है। असत् शश-श्रृंगकी कभी प्रतीति नहीं होती।

(ग) प्रेमकी अनिर्वचनीयता इन दोनोंसे भिन्न है। जगत्को 'सत्' कभी नहीं कह सकते; किन्तु प्रेम 'सत्' है। ब्रह्ममें इन्द्रियों की तथा मनकी गति नहीं। परन्तु प्रेममें यदि मनकी गति न हो तो प्रेम कैसा ? अतः प्रेमको किसी क्रियामें, वस्तुमें, भाषामें बाँधना शक्य नहीं। प्रेम किसी देशमें, किसी कालमें, किसी वस्तुमें, किसी क्रियामें, किसी भाषामें आबद्ध होता तो उसका निर्वचन होता। वह तो सबमें है और किसीमें बँधा नहीं, अतः उसका निर्वचन कैसे हो सकता है ?' (पृ० २५८)

'अपनेको भगवान्‌की मुट्ठीमें कर देने तथा उन्हें अपनी मुट्ठीमें कर लेनेका नाम भक्ति है।' (पृ० २६१)

'(क) अखण्ड सत्तामें कर्ता, कार्यका भेद नहीं होता (ख) अखण्ड ज्ञानमें ज्ञाता-ज्ञेयका भेद नहीं होता (ग) अखण्ड आनन्दमें भोक्ता-भोग्यका भेद नहीं होता तथा (घ) अखण्ड प्रेममें प्रेमी और प्रियतम एक हो जाते हैं। दोनोंमें भेद नहीं रह

जाता। भोक्ता-भोग्यको एक ओर करके जो अखण्ड आनन्द है, वही प्रेम है।' (पृ० २६२)

'अप्राकृत, चिन्मय, दिव्य भगवान्में जो प्रेम होता है, वही शुद्ध प्रेम है। विषयकी शुद्धिके बिना प्रेम शुद्ध नहीं होता।' (पृ० २६३)

'प्रेममें देरी और दूरो नहीं होती।' (पृ० २६५)

'गुण देखकर जो प्रेम करता है; वह प्रेमी नहीं; स्वार्थी है। गुणोंमें व्याप्त जो अधिष्ठान जिसके प्रकाशसे गुणमें चमक आती है, जो उसको देखता, उससे प्रेम करता है, वह प्रेमी है।' (पृ० २६९)

'प्रियतममें प्रेमकी सिद्धि है—'गुणरहितम्' और प्रेमीमें प्रेमकी सिद्धि है—'कामना-रहितम्।' अच्छा, तुम अपनेसे जो प्रेम करते हो, वह अपनेमें कौन-सा गुण देखकर करत हो? ऐसा ही प्रेम जैसा तुम्हारा अपने-आपसे, अपनेमें, बिना किसी गुणकी अपेक्षा किये है, वैसे ही भगवान्से हो जाये तो वह शुद्ध प्रेम है।' (पृ० २७०-७१)

'लोभ क्रोधसे बुरा है। क्योंकि क्रोध दाहक क्रिया प्रकट करके समाप्त हो जाता है। किन्तु जिसके लिए लोभ हुआ हो, उसे पाकर लोभ समाप्त नहीं होता। इसमें बन्धन एक ओरसे ही है। काम तथा मोहमें दोनों ओरका बन्धन होता है। काम एक प्राणीका प्राणोके प्रति होता है। दोनोंके मनमें वासना होती है। कच्चा सूत भी दुहरा होकर कड़ा हो जाता है। जब दो प्राणियोंकी वसनाएँ मिल जाती हैं, तब उनका त्याग कठिन हो जाता है। अतः काम प्रबल बन्धन है।' (पृ० २७१)

'सकामके द्वारा कामनाकी पूर्ति कामनाको बढ़ाती है तथा निष्कामका निष्कामसे मिलन शुद्ध प्रेमको जन्म देता है। गोपी और कृष्ण दोनों निष्काम हैं।' (पृ० २७२)

'काम अग्नि है एवं प्रेम रस है। कामाग्नि लगती है तो हृदय जलता है। मनमें कामना आते ही प्रेमका रस सूख जाता

है। प्रेममें प्यास है; किन्तु कामना नहीं। प्रेममें शृंगार है; किन्तु उसका भोग अपने लिए नहीं। काम भगवान्‌के सम्मुख नहीं जाता। काममें सुख अपनी ओर लाया जाता है। प्रेममें सुख प्रियतमकी ओर ले जाया जाता है। काममें अभाव है। प्रेममें तृप्ति है। जहाँ कामना है, वहाँ हम भोगसे घिरे—आबद्ध रहते हैं।'

(पृ० २७३)

'गंगाकी धारा उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है, किन्तु नहर उत्तरोत्तर घटती चली जाती है (काम नहर है और प्रेम गंगा)। जो आँधी-सा आया और चला गया, वह प्रेम नहीं। प्रेममें प्रतिपदा तो होती है; किन्तु पूर्णिमा नहीं। प्रेमका आरम्भ होता है; पर इति-मिति-परिमिति नहीं।' (पृ० २७५)

'प्रेमके बढ़नेका अर्थ है, प्रेमास्पदके सुखमें अपना सुख, उनकी इच्छामें अपनी इच्छा, उसकी समझमें अपनी समझका मिल जाना।'

(पृ० २७८)

'कामनाका जबतक रूपान्तर नहीं हो जाता, वृत्त्यन्तर नहीं होता, जबतक वह भगवत्कामनामें बदल नहीं जाती, तबतक कामना मिटती नहीं।' (पृ० २७९)

अनुभवरूप = भवका अर्थ है बदलनेवाला। जो बार-बार बदले वह भव। प्रेमका स्वरूप है अनुभव। जितने वेश, जितने जन्म बदलें, उन-उन जन्मोंमें—प्रत्येक भवमें वह अनुगत रहता है। घर, जाति, भाषा, देह, आकार, धर्म, माता-पिता छूट जाएँगे; किन्तु प्रेम बना रहेगा।' (पृ० २८५)

'प्रेमका स्वभाव है वह दूरको निकट लाता है, देरको तत्काल करता है, परायेको अपना बनाता है। ज्ञानमें वस्तुको परिवर्तित करनेका सामर्थ्य नहीं वह वस्तुको ज्यों-की-त्यों प्रकाशित करता है। परन्तु प्रेम पीतलको स्वर्ण, दुःखको अमृत, मृतको जीवित, अशक्तको सशक्त बना देता है।' (पृ० २८५)

'जैसे रूप-तन्मात्रासे बने नेत्र रूपके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देख सकते। वैसे ही जिसका हृदय प्रेम-तन्मात्रासे बना है, उसके हृदयमें प्रेमके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुका अनुभव नहीं होता।'
(पृ० २९०)

'परिच्छिन्नसे प्रेम भी परिच्छिन्न रहता है और पूर्णसे होकर प्रेम भी पूर्ण हो जाता है। तब सर्वत्र प्रेम ही प्रेम दिखलाई पड़ता है।' (पृ० २९५)

'सबको प्रियतम देखना तो कठिन है; किन्तु सब प्रेमी हैं—यह समझना सरल है। (अर्थात्) ये भी उसी प्रेमास्पदको प्राप्त करना चाहते हैं। हम सब एक ही मार्गके यात्री, परस्पर साथी हैं।'
(पृ० २९७-९८)

'प्रेम न सुखमें बढ़ता है और न दुःखमें घटता है। वार्धक्यसे उसमें रस बासी नहीं पड़ता। (पृ० ३०१)

'ईश्वर-उपासनापूर्वक जिसे ज्ञान हुआ होता है, उस कृतोपास्तिके जीवनमें ज्ञान होनेपर भी एक माधुर्य बना रहता है। वैराग्यके बिना तो ज्ञान होता नहीं; किन्तु धर्मानुष्ठानके द्वारा बिना ईश्वर-उपासनाके ही वैराग्य होकर ज्ञान हुआ है, उस अकृतोपास्ति ज्ञानीके जीवनमें माधुर्य नहीं होता। परमहंस रामकृष्ण ज्ञानी थे; किन्तु प्रत्येक स्त्रीको देखकर 'माँ! माँ!' कहने लगते, उनमें प्रगाढ भक्ति थी।' (पृ० ३०२)

'प्रत्येक व्यक्तिके शरीरमें-से एक वायु एक प्रभाव निकलता रहता है। व्यक्ति जैसा होता है, उसमें-से वैसा ही प्रभाव निकलता है। मनमें जब क्रोध आता है, तब चित्तमें, शरीरमें क्रोध भर जाता है और वाणीसे क्रोध ही निकलता है, ऐसे ही जब हृदयमें प्रेम आता है, तब वाणीसे प्रेम ही व्यक्त होता है। (पृ० ३०३)

'चिन्तनके चार भाग होते हैं—संकल्प, विकल्प, विचार तथा अहंकार। (पृ० ३०३)

'जो बिखरी वस्तुओंको एकत्र कर दे वह स्नेह है और जो दो हृदयोंको एक कर दे वह प्रेम है।' (पृ० ३०४)

'वैष्णवोंके नित्य-धामका वर्णन—इस स्थूल जगत्से सूक्ष्म जगत् (स्वर्ग लोकादि) परे है। उससे कारण जगत् = प्रकृति परे है। इन सबसे तुरीयतत्त्व = ब्रह्म परे है—वही वैकुण्ठ कहलाता है। वैकुण्ठसे परे द्वारका, द्वारकासे परे मथुरा-मण्डलमें व्रज, व्रजमें वृन्दावन, वृन्दावनमें कुञ्ज, कुञ्जसे भी अन्तरंग स्थल निकुञ्ज तथा निकुञ्जसे भी अन्तरंग स्थल है निभृत निकुञ्ज।

वात्सल्य रसकी लोला ग्राममें, सख्य रसकी लीला ग्राम तथा वनमें, माधुर्य रसकी लीला ग्राम, वन तथा कुञ्जमें होती है। कुञ्ज लीलामें सब सखियाँ सम्मिलित रहती हैं। निकुञ्ज लीलामें श्री राधा-कृष्णकी सेवामें केवल प्रधान अष्ट सखियाँ ही प्रवेश पाती हैं। निभृत-निकुञ्ज लीलामें युगल सरकार ही रहते हैं। वहाँ किसी सखीका प्रवेश नहीं।' (पृ० ३०६)

भक्ति अपनी ओर देखकर नहीं की जाती, किन्तु भगवान्की ओर देखकर ही की जाती है।' (पृ० ३१४)

'योग 'त्वं' पदार्थ प्रधान है, उसमें स्वयं साधन करना है। भक्ति 'तत्' पदार्थ प्रधान है, इसमें सब कुछ भगवान् ही करते हैं।' (पृ० ३१५)

'ईश्वरके लिए रोनेको श्रीरामानुजाचार्य 'ताप', श्रीचैतन्य-महाप्रभु 'व्याकुलता', श्रीवल्लभाचार्य 'निस्साधनता' श्रीशंकराचार्य 'मुमुक्षा' तथा वृन्दावनके प्रेमीजन 'लालसा' कहते हैं।' (पृ० ३२१)

'प्रेममें 'मैं प्रेमी हूँ' ऐसा अभिमान उचित नहीं होता। जैसे ब्रह्मज्ञानमें अविद्या निवृत्ति = वृत्तिव्याप्ति तो होनी है; 'किन्तु मैं ज्ञानी हूँ, ऐसा अभिमान = फलव्याप्ति नहीं होती।' (पृ० ३३४)

'भक्त भगवान्‌को मन तो देना चाहते हैं; किन्तु बुद्धि देना नहीं चाहते। वेदान्ती बुद्धि तो देना चाहते हैं; परन्तु मन देना नहीं चाहते। यही दोनोंमें निर्बलता है। केवल बुद्धि भगवान्‌में लगाओगे तो मनमें संसारकी वासना रहेगी। केवल मन लगाओगे तो बुद्धि संसारमें लगेगी। इसलिए भगवान् मन और बुद्धि दोनों माँगते हैं "मय्येव मन आधत्स्व, मयि बुद्धिं निवेशय" गी० १२.८।'

(पृ० ३५४-३५५)

'हमारी इन्द्रियोंने संसारमें विवाह कर लिया है। यहाँसे वह इन्हें चुपचाप निकाल ले जाता है। अतः चोर-जार-शिखामणि है। उस चितचोरकी खोज जीवनमें जागनी चाहिए।' (पृ० ३५५)

'बुराइयाँ तब आती हैं जब हम निकम्मे-निठल्ले होते हैं' बेकार मनमें विकार आता है। (पृ० ३६१)

'विरक्तिकी प्रधानता लेकर ज्ञानमार्ग चलता है और स्मृतिकी प्रधानता लेकर भक्तिमार्ग।' (पृ० ३६४)

'गाली देनेका या दान देनेका जो संस्कार चित्तपर पड़ा, वह अहंके साथ जुड़ा = प्रतिफलित हुआ, वह फल है।' (पृ० ३६५)

'स्त्रीचरित्र कामवर्धक, धनचरित्र लोभवर्धक एवं वैरीचरित्र क्रोधवर्धक होता है। अतः तीनोंका त्याग कर देना चाहिए।'

(पृ० ३६८)

'जो संसारको बनाना चाहता है वह विषयी है और जो हृदयको बनाना = सजाना चाहता है वह साधक है।

विषयी वह जो अपने हृदयकी सुख-शान्ति मिटाकर वस्तुओंको चाहे और साधक वह जो वस्तुओंका त्याग करके भी हृदयकी शान्ति चाहे।

दूसरोंको दुःख-अशान्ति देकर वस्तुभोग चाहनेवाला पामर और दूसरोंकी शान्ति-भंग किये बिना सुख-वस्तु चाहनेवाला विषयी होता है।'

(पृ० ३७१-७२)

'अभिमान अपनेसे भिन्नमें तादात्म्य करके होता है। जब हम अन्यमें तादात्म्य करके परिच्छिन्न हो जाते हैं तब ईश्वर हमसे दूर हो जाता है।'
(पृ० ३७४)

'कपट='क' का अर्थ है हृदयकी द्रवता और पटका अर्थ है पर्दा। 'क' नाम सुख-शान्तिका—ब्रह्मका है, उसपर जो पर्दा डाल दे, सचाईको ढँक दे—तिरोहित कर दे, उसे 'कपट' कहते हैं।' वस्तुतः कामना ही कपट है। थोड़ा देकर अधिक ठग लेनेका नाम ही कपट है।'
(पृ० ३७६)

'धर्मका स्थान वक्षःस्थल है और अधर्म पीठपर रहता है। मनुष्य अपने गुणोंका थैला आगे लटकाकर—गुण छातीपर रखकर—सीना तानकर चलता है। दोषोंको वह स्वयं देख नहीं पाता। जब कोई हमसे आगे चलता है, तब उससे ईर्ष्या होती है। उसकी पीठ हमें दीखती है, इसलिए उसके दोष दिखायी पड़ते हैं। जब हम किसीके दोष दिखायी पड़ें तो हमें समझना चाहिए कि हम उससे पीछे रह गये। हम आगे होते तो हमें ईश्वर दीखता, उसके दोष क्यों दीखते? जिसे हम पीछे छोड़ आये, उसकी ओर लौटकर क्या देखना? जो उन्नत हैं—आगे हैं, वे पीछेवालोंके दोष नहीं देखते।'
(पृ० ३७७)

'काम और क्रोध सगर्भा वृत्तियाँ हैं। जिसके प्रति ये होती हैं, वही मनमें आता है। कामके पेटमें स्त्री या पुरुष होगा और क्रोधके पेटमें शत्रु।'
(पृ० ३७९-८०)

'अर्पणके विषयमें कई पक्ष—

(क) भगवान्को अधर्म मत अर्पित करो; अन्यथा उसका अनन्तगुणा फल हो जायेगा। यह पहला पक्ष है।

(२) दूसरा पक्ष—प्रेमी भक्तकी मान्यता है कि अधर्मका फल दुःख होता है। अपने प्रेमास्पदको दुःख नहीं पहुँचाना चाहिए। अतः बुरे कर्मोंका अर्पण नहीं करना चाहिए।

(३) तीसरा पक्ष—सांख्य और वेदान्तका कथन है कि कर्म गुणोंके अनुसार होते हैं। आत्मा कर्ता नहीं। अतः अच्छे-बुरे कर्म प्रकृति या गुणोंके मत्थे मढ़कर स्वयंको अकर्ता अनुभव करो।

(४) चौथा पक्ष—देवर्षि नारदजी कहते हैं—कर्म न गुण कराते हैं और न प्रकृति ही। सबके भीतर बैठकर ईश्वर ही कर्म करा रहा है। अतः उसे सब प्रकारके कर्म अर्पित कर दो उन्हें अर्पित किये गये बुरे कर्म क्रिया तक नहीं पहुँचते। 'शुभाशुभ फलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म-बन्धनैः।' (गीता०) (पृ० ३८०-८१)

'प्रेमी भक्तके चित्तमें काम, क्रोध आदि प्रेम-रसका आस्वाद बढ़ानेके लिए ही आते हैं—जैसे मधुर भोजनमें चटनी।' (पृ० ३८२)

'त्रिरूप भंगके अर्थ—(क) सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण भेदसे तीन प्रकारकी गौणी भक्तिसे ऊपर निर्गुण प्रेमा भक्तिको अपनाना चाहिए।

(ख) आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भावका त्याग करके निष्काम भक्ति करनी चाहिए।

(ग) प्रेम, प्रेमी तथा प्रियतमको पृथक्-पृथक् मत करो। द्रवावस्थाको प्राप्त 'प्रेम' नामकी एक ही वस्तु है। उसमें अपना, ईश्वरका और सेवाका रूप सुनिश्चित मत करो।

(घ) वेदान्तके प्रसंगमें द्रष्टा, दर्शन, दृश्यरूप त्रिपुटी मिटायी जाती है।

(च) एकेश्वरवाद ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र—इन तीन रूपोंका निषेध किया जाता है।

(छ) समाधिमें सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंसे ऊपर उठना होता है।

(ज) भक्तिदर्शनमें तो एक ही प्रियतम है, वही हमारा सर्वस्व है। जब सेवा दास्यभाव प्रगाढ़ अवस्थाको प्राप्त होता है तब वही कान्ताभाव बन जाता है। जहाँ ऐश्वर्यपूर्वक परमात्माका चिन्तन

है, वहाँ, 'नित्यदास भाव' होगा। जहाँ माधुर्यपूर्वक ईश्वरका चिन्तन है, वहाँ 'नित्य कान्ताभाव' होगा। त्रिरूप भङ्गका अर्थ है कि भगवान्‌के रूपमें जड़ता मत आने दो।' (पृ०३८६)

'मुख्या = मुँह लगे होना—प्रमुख हो जाना। भक्तिमें 'मैं, मैं' नहीं (मैं–मैं'के स्थानपर 'तू-तू' और 'मेरा'के स्थानपर 'तेरा' है) अजा-माया-बकरीका शब्द 'मैं-मैं'। भक्तमें अजाका लेप नहीं होता।' (पृ० ३९८)

'अनन्यताके भेद—(क) स्वामी-विषयक अनन्यता—'एकमात्र भगवान् ही सबके और अपने स्वामी तथा नियन्ता हैं। उनके अतिरिक्त और कोई स्वामी नहीं।' (ख) ममत्व-विषयक अनन्यता 'मेरे तो एक वही हैं।' (ग) तत्त्व-विषयक अनन्यता—'भगवान् को छोड़कर और कुछ है ही नहीं।' (घ) भक्तिकी अनन्यता—भगवान्‌से अन्य मैं भी नहीं।' (च) तत्त्वज्ञानकी दृष्टि—'मुझसे अन्य भगवान् भी नहीं।' [१. तू उसका है। २. वह तेरा है और ३. तू वही है]। (पृ४०१)

'कर्मके द्वारा व्यक्तित्व स्फूर्तिमय बनता है। योगके द्वारा व्यक्तित्व निर्विकार-शान्त बनता है। ज्ञानके द्वारा व्यक्तित्व गम्भीर बनता है [ज्ञान व्यक्तित्वमें परिवर्तन नहीं करता, वह केवल वस्तुको प्रकाशित करता है]। भक्तिके द्वारा व्यक्तित्व मधुर बनता है।' (पृ० ४०६)

'भेदका निषेध दो प्रकारसे होता है—एक पृथक्-पृथक् अहंताके निषेधसे तथा दूसरा पृथक्-पृथक् ममताके निषेधसे। ज्ञानमें अहंताका निषेध किया जाता है कि 'शरीर मैं नहीं, इन्द्रियाँ मैं नहीं, मन मैं नहीं, प्राण मैं नहीं आदि।' भक्तिमें प्रकृति और जीवका ममत्व हटाकर ईश्वरका ममत्व स्थापित किया जाता है। प्रकृतिका नहीं, मेरा नहीं किन्तु सब भगवान्‌का है।' (पृ० ४२५)

'भक्तकी दृष्टिमें रंसारका सम्बन्ध नहीं होता और ज्ञानीकी दृष्टिमें संसारका अस्तित्व नहीं होता।' (पृ० ४२५–२६)

'भौतिक पदार्थोंकी चाहसे चित्त भौतिक (स्थूल) हो जाता है और सूक्ष्म वस्तुकी चाहसे चित्त सूक्ष्म हो जाता है। साधक अन्तर्मुख होता है और विषयी बहिर्मुख। जिसका प्रियतम अपने हृदयमें है वह साधक और जिसका प्रियतम बाहर है, वह विषयी।' (पृ० ४३३–३४)

'काञ्चन, कामिनी और कीर्तिके चक्करको एकमात्र कीर्तन ही काट सकता है।' (पृ० ४६५)

'१. प्रमेय-बलसे सिद्ध होचावाला साधन भक्ति है। २. प्रमाता-बलसे सिद्ध होनेवाले साधन धर्म तथा योग हैं। ३. प्रमाणबलसे सिद्ध होनेवाला साधन ज्ञान है।' (पृ० ४६६–६७)

'(क) तत्त्व (स्वरूप) का कीर्तन अपूर्व, अनन्तर, अबाह्य, अनिर्देश्य आदि।' (ख) गुणका कीर्तन—'वह दयालु, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आदि।' (ग) रूपका कीर्तन—'वारत काम-कलानिधि कोटी, आदि।' (घ) माहात्म्यका कीर्तन—'जाके रोम-रोम ब्रह्मण्डा, आदि।' (च) नामका कीर्तन—'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे, आदि।' नामकीर्तन ही इन सबमें अधिक महत्त्वपूर्ण है।' (पृ० ४७५)

'संकीर्तन करनेकी तीन पद्धतियाँ—

१. व्यासीय पद्धति–व्यास गद्दीपर बैठकर प्रवचन करना।

२. नारदीय पद्धति–खड़े होकर या बैठकर राग-ताल-वाद्य आदि सहित कीर्तन करना।

३. हनुमदीय पद्धति–उछल-कूदकर कीर्तन करना।

'त्रिसत्य = तीन बार शपथपूर्वक सत्य कहना। त्रिसत्य = धर्म, योग और ज्ञान सत्यप्राप्तिके तीन सत्यरूप साधन। त्रिसत्य = कायिक, वाचिक और मानसिक सत्य। त्रिसत्य = सत्त्व-रज-तममें

स्थित। त्रिसत्य=ब्रह्मा, विष्णु, महेशमें स्थित भगवत्तत्त्व। त्रिसत्य=जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें स्थित तुरीय। त्रिसत्य=ज्ञाता-ज्ञान, ज्ञेय या ध्याता-ध्यान-ध्येयमें अखण्ड चिद्वस्तु। त्रिसत्य=भूत-भविष्यत्-वर्तमान तीनों कालोंमें जो कालातीत—अकाल पुरुष है वह त्रिसत्य है।' (पृ० ४८३-८४)

'जैसा तादात्म्याभिनिवेश=मोह देह आदिके साथ है, वैसा ही तादात्म्याभिनिवेश भगवान्‌के साथ हो जानेका नाम प्रेमा या पराभक्ति है।' (पृ० ४९०)

'एक मत—'भक्ति स्वयं रस है। दूसरा मत—भक्ति भाव है और परमात्मा रस।' (पृ० ५१५)

किं बहुना; मूल ग्रन्थमें ही इन सबका आनन्द लूटना चाहिए जितना-जितना अधिक जो बहुश्रुत होगा उतना-उतना अधिक उसे आनन्द प्राप्त होगा। श्रीस्वामीजीकी इन्द्रधनुषी-रंग-विरंग विविध छटा-शालिनी सर्वंकषा—सब कुछ अपनेमें लपेटनेवाली—खींचनेवाली शैली है। निस्सन्देह—श्रीस्वामीजीको धर्म, ज्ञान और भक्तिका निर्भ्रान्त सम्यक् दर्शन है। अन्यथा एक ही बातको अनेक रूपोंमें कह डालना तथा उसमें पुनरुक्ति न आने देना अत्यन्त दुरूह बात है। देखिये—

१. व्यक्तिके जीवनको भगवन्मय=परमानन्दस्वरूप बनानेवाली भक्ति है। (पृ० ३४४)

२. भगवान्‌के लीला, गुण, महिमा, रूप आदिको बार-बार मनमें लाकर उनका रसास्वाद करना ही भक्ति है। (पृ० ३०)

३. भगवान्‌के भागमें-हिस्सोंमें चले जानेका नाम भक्ति है। (पृ० ३१)

४. राग-द्वेष, सांसारिक माया-मोह, अविद्याको रौंद देनेका नाम भक्ति है। (पृ० ३१)

५. प्रत्यक्ष्=वर्तमान परमात्मामें परम प्रेमरूप भक्ति है (पृ० ४०)

६. ब्रह्मसंस्थाका नाम भक्ति है जो ब्रह्ममें निष्ठाके रूपमें रहती है। भगवान्में निरन्तर मनुष्यकी स्थिति रहे इसीका नाम भक्ति है।
(पृ० ५४)

७. परोक्षमें प्रीतिका नाम भक्ति हैं। (पृ० १५२)

८. अपनेको भगवान्की मुट्ठीमें कर देने तथा उन्हें अपनी मुट्ठीमें कर लेनेका नाम भक्ति है। (पृ०२६१)

९. प्रमेय-बलसे सिद्ध होनेवाला साधन भक्ति है। (पृ०४६६)

१०. जैसा तादात्म्याभिनिवेश = मोह देह आदिके साथ है, वैसा ही तादात्म्याभिनिवेश भगवान्के साथ हो जानेका नाम प्रेमा या पराभक्ति है। (पृ० ४९०) आदि आदि।

आशा है यह भक्तिदर्शनकी एक झलक आपके हाथमें आकर उसके दर्शनोंकी जिज्ञासा जाग्रत् करेगी और आपका हाथ पकड़कर वहाँ ले जायगी। भक्तिदर्शन पढ़ जानेके बादमें यह आपकी जेबमें रहकर उसकी स्मृति ताजा बनाएगी।

सर्वयोगमयी शैली, भवरोग-विखण्डिनी।
चिरं सर्वंकषाजीव्यादखण्डानन्दधीमताम्॥
यत्र चन्द्रसहस्रस्य, सूर्यकोटेस्तथाकरः।
नापेति, तत्र वागेति–ह्यखण्डानन्द-सम्भवा॥
मलं क्षालयति क्षिप्रं, विक्षेपं संक्षिणोति च।
आविर्भावयति प्रेष्ठं, भावितं भक्तिदर्शनम्॥

ॐ तत्सत्

—निगमबाबा

❁ सत्साहित्य पढ़िये ❁

पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित

१. माण्डूक्य-प्रवचन (आगम प्रकरण)	१०.००
२. माण्डूक्य-प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण)	१२.००
३. माण्डूक्य-प्रवचन (अद्वैत प्रकरण)	४.५०
४. माण्डूक्यकारिका-प्रवचन (अलातशान्ति-प्रकरण)	५.००
५. कठोपनिषद्-प्रवचन—१	९.००
६. कठोपनिषद्-प्रवचन—२	१२.००
७. अपरोक्षानुभूति-प्रवचन	६.००
८. ईशावास्य-प्रवचन	४.००
९. सांख्ययोग (दूसरा अध्याय)	९.७५
१०. कर्मयोग (तीसरा अध्याय)	६.००
११. ध्यानयोग (छठाँ अध्याय)	६.००
१२. ज्ञान-विज्ञान-योग (सातवाँ अध्याय)	६.००
१३. विभूतियोग (दसवाँ अध्याय)	५.२५
१४. भक्तियोग (बारहवाँ अध्याय)	८.००
१५. पुरुषोत्तम योग (पन्द्रहवाँ अध्याय)	५.००
१६. गीता-दर्शन—१	५.५०
१७. गीता-दर्शन—२	५.००
१८. गीता-दर्शन—३	४.००
१९. गीता-दर्शन—४	५.००
२०. गीता-दर्शन—५	५.००
२१. गीता-दर्शन—६	६.००
२२. गीता-दर्शन—७	
२३. गीता-दर्शन—८	
२४. नारद भक्ति-दर्शन	९.००
२५. भक्ति-सर्वस्व	१०.००

२६. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-१	१०.००
२७. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-२	१०.००
२८. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-३	१०.००
२९. श्रीमद्भागवत-रहस्य	३.७५
३०. वेणुगीत	३.००
३१. महाराजश्रीका एक परिचय	२.००
३२. गोपियोंके पांच प्रेम गीत	०.४०
३३. भागवत विचार-दोहन	३.००
३४. रामायणामृत	२०.००
३५. भागवतामृत	१५.००
३६. योगः कर्मसु कौशलम्	३.००
३७. भागवत दर्शन (दो खण्डों में)	प्रथम-१००.००
	द्वितीय१००.००
३८. कपिलोपदेश	३.७५
३९. व्यवहार और परमार्थ	३.७५
४०. मानव-जीवन और भागवत-धर्म	४.५०
४१. राम-शताब्दी-स्मृति	२०.००
४२. विवेक कीजिये—१	५.५०
४३. विवेक कीजिये—२	९.००
४४. ज्ञान-निर्झर (श्री डोंगरे जी)	१.५०
45. An Introduction to a Realised Soul	0.40
46. Ideal and Truth	5.25
47. Glimpses of Life Divine	1.50

